सामाजिक समस्याएँ
और
सामाजिक परिवर्तन

डा० राम आहूजा
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मीनाक्षी प्रकाशन

प्रस्तावना

समाज मे परिवर्तन से यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न सामाजिक समस्याओं को एक नये दृष्टिकोण से देखा जाये। यह दृष्टिकोण न केवल समाज की सरचना व संस्कृति को आधार बनाता है किन्तु नये उत्पन्न सामाजिक तत्त्वो को भी महत्त्व देता है। समस्याएँ प्रत्येक समाज मे पायी जाती हैं परन्तु उनका वैधानिक अध्ययन उसी समाज के नियमों, मूल्यों एवं निर्धारित लक्ष्यों की पृष्ठभूमि मे ही देखना पड़ता है। फिर समस्याओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु विश्लेपण-विधि भी विषय के सन्दर्भ में अपनानी होती है। प्रस्तुत पुस्तक मे सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में तीन पहलुओं को ध्यान मे रखा गया है—बहु-कारक पहलू, विभिन्न समस्याओं के पारस्परिक सम्बन्ध का पहलू एवं प्रत्येक समस्या का समय और स्थान से सम्बन्ध का पहलू। इन पहलुओं के आधार पर यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि हमारे समाज में विभिन्न समस्याएँ किस प्रकार व्यक्तिगत एवं संस्थात्मक समायोजन की असफलता, सामाजिक संरचना मे दोष, एकमत की कमी, संस्थाओ के एकीकरण के अभाव, सामाजिक नियन्त्रण के साधनों की अपर्याप्तता तथा सामाजिक नीतियों में संस्थात्मक विलम्बनाओं के कारण उत्पन्न होती हैं। सामाजिक समस्याओं का समाजशास्त्रीय शोध उनके समाधान हेतु नही होता किन्तु व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए होता है। यहाँ पर भी हमने कुछ समस्याओं के प्रति प्रचलित लोकप्रिय विश्वासों की विश्वसनीयता एवं कुछ विद्वानो की विचार-धाराओं के विश्लेपण द्वारा वास्तविकता और सिद्धान्त के अन्तर-सम्बन्ध परखने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत संस्करण मे नगरीकरण एवं औद्योगीकरण के दो अध्याय और बढ़ाये गये हैं तथा सभी अध्यायो को संशोधित कर दिया गया है। आशा है पहले संस्करण की भाँति ही यह संस्करण भी लोकप्रिय होगा।

—राम आहूजा

विषय-सूची

1 सामाजिक समस्याएं और सामाजिक परिवर्तन
(SOCIAL PROBLEMS AND SOCIAL CHANGE)

प्रत्येक समाज का ढाँचा उस समाज मे रहने वालों की आकांक्षाओ की पूर्ति का साधन होता है। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ जब परम्परागत ढाँचा नहीं बदलता तो समाज में रहने वालों की आकांक्षाओं की पूर्ति में वह बजाय साधक होने के बाधक होने का कार्य करने लगता है। इसलिए आवश्यक है कि बदले हुए समाज में एक बदला हुआ ढाँचा अपनाकर आवश्यक समायोजन (adjustment) लाया जाये। परन्तु जब परम्परा-प्राप्त मान्यताएँ समाप्त नही होती, पर जमी रहती हैं तो नयी आवश्यकताओं और पुराने विचारों के ढाँचे में एक दरार पड़ जाती है जो एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करती है जिसका समाज के सभी सदस्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसी परिस्थिति ही सामाजिक समस्या की जन्मदाता है।

सामाजिक समस्या का अर्थ

राब और सेल्ज़निक के अनुसार सामाजिक समस्या एक मानवीय सम्बन्धों की समस्या है जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा उत्पन्न करती है अथवा जो व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण आकांक्षाओं की प्राप्ति में बाधाएँ पैदा करती हैं।[1] पाल लैण्डिस के मतानुसार सामाजिक समस्याएँ व्यक्तियों की कल्याण सम्बन्धी अपूर्ण आकाक्षाएँ हैं।[2] मेरिल और एल्डिरिज का विचार है कि सामाजिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब गतिहीनता के कारण अधिक संख्या में लोग अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिकाओं में कार्य करने मे असमर्थ होते हैं।[3] यद्यपि सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समस्याएँ पायी जाती हैं, जैसे आर्थिक क्षेत्र में कृषि उत्पादन बढ़ाने हेतु सिंचाई और खाद की समस्या, राजनीतिक क्षेत्र मे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के सम्बन्धों की समस्या आदि, परन्तु इनको हम सामाजिक समस्या नही मानते। केवल उन्हीं समस्याओं को सामाजिक समस्याएँ माना जाता है जिनमे

---

[1] 'It is a problem in human relationships which seriously threatens society or impedes the important aspirations of many people.' Raab Earl and Selznick, G. J., *Major Social Problems*, Row, Peterson and Co., Illinoise, 1959, 4.

[2] 'Social problems are man's unfulfilled aspirations for welfare.' Landis, Paul H., *Social Problems*, Lippincott Co., N. York, 1959, 3.

[3] Merril, Francis E. and Eldredge, H. W., *Culture and Society*, 517.

समाज में सामंजस्य, सुदृढता व मूल्यों को खतरा होता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत समस्या और सामाजिक समस्या में भी अन्तर है। व्यक्तिगत समस्या एक व्यक्ति के हितों से सम्बन्धित होती है जबकि सामाजिक समस्या पूरे समाज के हितों को प्रभावित करती है। भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, बेकारी, निर्धनता, वेश्यावृत्ति, अपराध, नशाखोरी, भिक्षावृत्ति, अनुशासनहीनता आदि सामाजिक समस्याएँ हैं जबकि पुत्री के लिए दहेज के रुपये एकत्रित करना एक व्यक्ति की समस्या है। व्यक्तिगत समस्या के निवारण के लिए प्रयत्न भी व्यक्तिगत होने चाहिए परन्तु सामाजिक समस्या के समाधान के लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता होती है।

वाल्श और फर्फे ने भी सामाजिक समस्या की परिभाषा में इसी सामूहिक प्रयास पर बल दिया है। उनके अनुसार सामाजिक समस्या सामाजिक आदर्शों से विचलन है जिसका निवारण सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है।[4] इस परिभाषा में स्पष्ट रूप से दो तत्त्व मिलते हैं—

(1) किसी ऐसी स्थिति का होना जिसको अनुचित, नियम-विरुद्ध, व्यवस्था के प्रतिकूल व सामाजिक आदर्श से विचलित माना जाता है। यहाँ 'सामाजिक आदर्श' की परिभाषा मनमानी नहीं है परन्तु सामाजिक नीतिशास्त्र पर आधारित है। अपराध इसलिए सामाजिक समस्या है क्योंकि वह सार्वजनिक कल्याण में हस्तक्षेप करता है तथा निर्धनता इस कारण सामाजिक समस्या है क्योंकि वह समाज के आर्थिक विकास में बाधाएँ उत्पन्न करती है।

(2) सामाजिक समस्या का सामूहिक प्रयास द्वारा ही निवारण हो सकता है अथवा उसका समाधान एक अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति का हाथ टूट जाये तो डाक्टर से उसे ठीक करवाना उसकी व्यक्तिगत समस्या होगी, परन्तु यदि हैजे का सक्रामक रोग पूरे देश में फैल जाये तब उसे रोकने के लिए व्यवस्थित प्रयास की आवश्यकता होगी। कभी-कभी एक ही समस्या कुछ परिस्थितियों मे तो व्यक्तिगत समस्या होती है परन्तु अन्य परिस्थितियों मे वही सामाजिक समस्या मानी जाती है। एक इन्जीनियर जो बेरोजगारी के कारण एक क्लर्क का कार्य अपनाकर अपने परिवार के पोषण के लिए पर्याप्त धन नहीं जुटा पाता एक व्यक्तिगत समस्या का सामना करता है; परन्तु जब समाज मे अधिकांश इन्जीनियर बहुत समय तक बेरोजगार रहते हैं तब वे अपनी समस्या जनता व सरकार तक सामाजिक कार्यकर्ताओं व राजनीतिज्ञों द्वारा पहुँचाते हैं जिसे सरकार इन्जीनियरों में बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी की समस्या के रूप में हल करने का प्रयास करती है। इस प्रकार व्यक्तिगत समस्या का अब सामाजिक समस्या के रूप में निवारण किया जाता है।

फुल्लर और मेयर्स के अनुसार सामाजिक समस्या एक वह परिस्थिति है जिसे

[4] Walsh, Mary E. and Furfey, Paul H., *Social Problems and Social Action*, Prentice Hall, Inc., Englewood (3rd edition), 1961, 1.

अधिकांश व्यक्ति उन सामाजिक नियमों का विचलन मानते हैं जिन्हें वे प्रिय समझते हैं।[5] यदि इस परिभाषा का शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो सामाजिक समस्या की परिभाषा मनमानी होगी क्योंकि इसके अनुसार जब 'बहुसंख्यक व्यक्ति' जिसको भी 'नियम' से विचलन मानेंगे वह 'उनके अनुसार' सामाजिक समस्या होगी।

हार्टन और लेस्ले के अनुसार सामाजिक समस्या वह स्थिति है जो बहुत से लोगों को अनुचित रूप से प्रभावित करती है और जिसका निवारण सामूहिक क्रिया से ही हो सकता है।[6] इस परिभाषा में चार मुख्य तत्त्व मिलते हैं—

1. एक ऐसी स्थिति जो समाज में बहुसंख्यक लोगों को प्रभावित करती है।
2. प्रभाव ऐसा है जिसे अनुचित व हानिकारक समझा जाता है।
3. जिसका निवारण सम्भव माना जाता है अथवा इसमें सुधार की सम्भावना का विश्वास है।
4. निवारण सामूहिक क्रिया से ही सम्भव है।

इन तत्त्वों के आधार पर हार्टन और लेस्ले का विचार है कि सामाजिक समस्याएँ उत्पत्ति में सामाजिक हैं (क्योंकि वे समाज के बहुत सदस्यों को प्रभावित करती हैं), परिभाषा में सामाजिक हैं (क्योंकि समाज उन्हे अनुचित मानता है), तथा सुधार में सामाजिक हैं (क्योंकि सामूहिक प्रयास पर बल दिया जाता है)।[7]

सामाजिक समस्याओं को सामूहिक प्रयत्नों के आधार पर व्यक्ति तभी हल कर पाते हैं जब उनके सोचने में ये चार तत्त्व होते हैं—

1. एक विश्वास कि जीवन की परिस्थिति को सुधारा जा सकता है,
2. इन परिस्थितियों को सुधारने का निश्चय,
3. सुधार लाने व समुन्नति के लिए वैज्ञानिक ज्ञान तथा तकनीकी निपुणता (technological skill) का प्रयोग, तथा
4. व्यक्तियों में एक गहन विश्वास कि उनकी बुद्धि और प्रयास के कारण उनकी समुन्नति की कोई सीमा नही है।

वस्तुतः हम कह सकते हैं कि मनुष्यों अथवा समूहों के व्यवहार से उत्पन्न दशाएँ जो आधारभूत सामाजिक मूल्यों की चुनौती हैं तथा जिस चुनौती के प्रति सचेत होकर समाज के बहुसंख्यक लोग अपेक्षित रचनात्मक कार्य करने की आवश्यकता अनुभव करते है, सामाजिक समस्याएँ कही जायेंगी।

---

[5] 'A social problem is a condition which is defined by a considerable number of persons as a deviation from some social norm which they cherish.' Fuller, Richard C. and Mayers, Richard R., 'The Natural History of a Social Problem', *American Sociological Review*, 1941. Vol. 6, 320.

[6] Horton, Paul B. and Leslie, Gerald R., *The Sociology of Social Problems*, Appleton Century Crofts Inc., N. York, (2nd edition), 1960, 4.

[7] 'Social problems are social in origin (since they affect a large section of society), social in definition (since society considers them undesirable) and socila in treatment (there being emphasis on collective social action).' *Ibid.*, 6.

सामूहिक प्रयत्न के अतिरिक्त जो समस्या के निवारण के लिए व्यय आदि की आवश्यकता होती है वह भी सार्वजनिक धन से किया जाता है। श्रीमती बारबरा वूटन ने इसी सार्वजनिक धन के व्यय के आधार पर ही सामाजिक समस्या को परिभाषित भी किया है। उनके अनुसार सामाजिक समस्याएँ वे क्रियाएँ हैं जिनके निरोध के लिए सार्वजनिक धन व्यय किया जाता है अथवा जिन (क्रियाओं) के करने वालों को दण्ड देने का व्यय भी सार्वजनिक धन से ही किया जाता है।[8] परन्तु वूटन की परिभाषा बहुत सीमित है और इसको मानने का अर्थ यह होगा कि सामाजिक समस्याओं में केवल 'क्रियाओं' को ही सम्मिलित किया जाये 'परिस्थितियों' को नहीं; और क्रियाओं मे भी केवल उन क्रियाओं को जो एक विशिष्ट समय में राज्य का ध्यान आकर्षित करती हैं। इस आधार पर निर्धनता तथा औद्योगिक संघर्ष जैसी परिस्थितियों को सामाजिक समस्याओं के क्षेत्र से अलग करना होगा। यही *कारण है कि वूटन की परिभाषा को अधिक मान्यता नहीं प्रदान की जाती।*

इस प्रकार सामाजिक समस्याओं के प्रति जो फुल्लर, मेयर्स, वूटन आदि द्वारा कुछ गलत धारणाएँ (fallacies) प्रस्तुत की गयी हैं, जिनका कोई आधार नहीं है, हमे समाप्त करनी होंगी, जैसे यह कि, सामाजिक समस्याएँ स्वाभाविक और अवश्यम्भावी हैं, या सामाजिक समस्याएँ 'खराब' लोगों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, या सभी लोग सामाजिक समस्याओं का निवारण चाहते हैं, या सामाजिक समस्याओं का अपने आप समाधान हो जायेगा, या सामाजिक समस्याएँ बिना संस्थात्मक परिवर्तनों के हल हो जायेंगी, आदि।[9] फिर, हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि किसी समस्या का समाधान तुरन्त सम्भव नहीं है। फुल्लर के अनुसार सामाजिक समस्याओं को परिभाषित किये जाने और उनके निवारण के बीच तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है[10]—

(1) सचेतना (Awareness)—इससे पहले कि किसी परिस्थिति को सामाजिक समस्या माना जाये, लोगों में इस दृढ़ विश्वास का होना आवश्यक है कि वह परिस्थिति अनुचित है और उसके समाधान के लिए कुछ किया जाना चाहिए।

(2) नीति-निर्धारण (Policy determination)—सामाजिक समस्या के अस्तित्व (existence) के माने जाने पर उसके निवारण के लिए कुछ सुझाव दिये जाते हैं। इनमें से किसी एक सुझाव को मानकर उसकी सफलता के लिए फिर साधन ढूंढ़ने के प्रयत्न किये जाते हैं।

(3) सुधार (Reform)—साधन ढूंढ़ने के पश्चात् उसको कार्यान्वित करने का प्रश्न आता है।

सामाजिक समस्याओं के कारण

राव और सेल्जनिक के अनुसार सामाजिक समस्याएँ तभी उत्पन्न होती हैं

[8] Barbara Wootton, *Social Science and Social Pathology.*

[9] Horton and Leslie, *op. cit.*, 6–12.

[10] Fuller, Richard C. and Myres, Richard R., *op. cit.* 320–28.

जब[11]—(i) एक संगठित समाज के लोगों के सम्बन्धों को व्यवस्थित करने की योग्यता समाप्त होती प्रतीत होती है, (ii) समाज की विभिन्न संस्थाएँ विचलित होने लगती हैं, (iii) समाज के कानूनों का उल्लंघन किया जाता है, (iv) समाज के मूल्यों का एक पीढ़ी से दूसरी को संचारण (transmission) बन्द हो जाता है, तथा (v) आकांक्षाओं का ढाँचा (framework of expectations) लड़खड़ाने लगता है।

पाल लैण्डिस ने सामाजिक समस्याओं के निम्न कारण बताये हैं[12]—(i) व्यक्तिगत समायोजन की असफलता (failure in personal adjustment), (ii) सामाजिक संरचना में दोष (defects in social structures), (iii) संस्थात्मक समायोजन की असफलता (failure in institutional adjustment), तथा (iv) सामाजिक नीतियों मे संस्थात्मक अगतिशीलता (institutional lag in social policy)।

व्यक्तिगत समायोजन की सफलता का कारण गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) ने अपूर्ण समाजीकरण बताया है।[13]

राब और सेल्ज़निक तथा पाल लैण्डिस ने सामाजिक समस्याओं को अलग-अलग कर उनका विश्लेषण किया है जबकि हरमन (Herman)[14] और वाल्श (Walsh)[15] आदि ने इस प्रकार के अध्ययन विधि की आलोचना की है क्योंकि अब यह माना जाता है कि सभी समस्याओं का पारस्परिक सम्बन्ध है।

सामाजिक समस्या और सैद्धान्तिक अवधारणा

विभिन्न सामाजिक समस्याओं में पारस्परिक सम्बन्ध पाये जाने की मान्यता के अतिरिक्त अब यह भी विश्वास किया जाता है कि सभी समस्याओं का एक सामान्य आधार है। इस सामान्य आधार की चार अवधारणाएँ—सामाजिक विघटन, सांस्कृतिक विलम्बना, मूल्य संघर्ष और वैयक्तिक विचलन—मिलती हैं। हम इन चारो सैद्धान्तिक अवधारणाओं का अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

सामाजिक विघटन का सिद्धान्त (Theory of Social Disorganisation)

सामाजिक विघटन के कारण सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति को मानने वाले विद्वानों का यह विश्वास है कि अतीत काल में कोई समस्या थी ही नहीं। समाज में एक प्रकार की स्थिर साम्यावस्था थी जिसमे क्रियाओं (practices) और मूल्यों में समन्वय था। फिर कुछ ऐसा परिवर्तन हुआ जिसने इस समन्वय को नष्ट

---

[11] *Raab and Selznik*, *op. cit.*, 6.
[12] Paul Landis, *op. cit.*, vii-viii.
[13] Gillin and Gillin, *op. cit.*, 444.
[14] Herman, Abbot P., *An Approach to Social Problems*, Boston, Ginn, 1949, 9-17.
[15] Walsh and Furfey, *op. cit.*, 12.

कर दिया। इस परिवर्तन के कारण नयी क्रियाएँ और नयी स्थिति पैदा हुई जिसमें या तो पुरानी क्रियाएँ समाप्त हो गयी अथवा उन्हें अनुचित व अनुपयोगी समझा जाने लगा। इस उत्पन्न अव्यवस्थित स्थिति में यद्यपि पुराने नियम अस्वीकार किये जाने लगे व उनकी उपेक्षा होने लगी परन्तु नये नियम अभी स्वीकार नहीं किये गये थे। परिवर्तन ने इस प्रकार पुराने व्यावहारिक ढाँचे को विघटित कर दिया अथवा ऐसी स्थिति पैदा की जिसमें व्यक्ति अपने ही समाज के नियमों से नियन्त्रित नही होते थे अथवा उसके मूल्यों और नैतिकता के अनुसार कार्य नही करते थे। इसी सामाजिक विघटन की स्थिति के कारण ही सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई।

रोलाण्ड वारेन ने सामाजिक विघटन को एक वह स्थिति बताया है जिसमें ऐकमत्य की कमी, संस्थाओं के एकीकरण का अभाव और सामाजिक नियन्त्रण के साधनों की अपर्याप्तता पायी जाती है।[16] एक मत के अभाव में समूह के लक्ष्यो के प्रति मतभेद और भावनात्मक धारणाओं में विरोध मिलता है। ऐसी स्थिति में समाज की विभिन्न संस्थाएँ एक-दूसरे के विपरीत कार्य करती हैं और इससे जो अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है उसके कारण व्यक्ति समाज में अपने नियमपूर्वक कार्य नही कर पाते। विघटित सामाजिक समूह का एक उदाहरण है आकस्मिक भय और घबराहट के कारण सेना का भागना। ऐसी स्थिति में सेना एक कुशल लड़ने वाले समूह से भीड़ बन जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक विघटन के मुख्य लक्षण हैं : पद और कार्य की अनिश्चितता, नियन्त्रण के साधनों की शक्ति में कमी, तथा ऐकमत्य का अभाव। फैरिस ने सामाजिक विघटन के लक्षण इस प्रकार दिये हैं[17] : पवित्र तत्वों का ह्रास, स्वार्थों और रुचियों में वैयक्तिकता (individuality), वैयक्तिक स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत अधिकारों पर बल, भौतिक सुख सम्बन्धी (hedonistic) व्यवहार, एक-दूसरे पर अविश्वास, तथा अशान्ति उत्पन्न करने वाले तत्त्व।

रावर्ट फैरिस जैसे कुछ लेखको का विचार है कि सामाजिक विघटन का सिद्धान्त उस परिस्थिति को स्पष्ट नही करता जिसमे सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है।[18] इस कारण ये लेखक सामाजिक विघटन को सामाजिक समस्याओं का मुख्य कारण नही मानते। फैरिस 'सामाजिक विघटन' की धारणा को 'सामाजिक समस्या' का प्रतिस्थापक (substitute) मानता है। उसका कहना है कि सामाजिक विघटन को अध्ययनकर्त्ता के स्वयं के मूल्यों के प्रभाव के बिना वस्तुनिष्ठता (objectivity) से मालूम किया जा सकता है जबकि सामाजिक समस्या में स्पष्ट रूप से मूल्य समावेश (value connotation) पाया जाता है जिस कारण वह एक

---

[16] 'A condition involving lack of consensus, lack of integration of institutions and adaquate means of social control.' Roland, L. Warren, 'Social Disorganisation and the Interrelationship of Cultural Roles', *American Sociological Review*, Vol. 14, 1949, 84.

[17] Faris, Robert E. L., *Social Disorganisation*, Ronald, N. York, 1955, 19.

[18] *Ibid.*, 35-36.

वस्तुनिष्ठ धारणा नही है। परन्तु वाल्स और फर्फे ने इस विचार को सही नहीं माना है। उनका कहना है कि सामाजिक विघटन की धारणा में भी पक्षपात मिलता है।[19] जब समाजशास्त्री सामाजिक विघटन के सम्भव लक्षण बताते हैं तब आवश्यक है कि उनकी यह धारणा पूरी तरह वस्तुनिष्ठ नही हो सकती। उदाहरणतया हाब्स[20] द्वारा सामाजिक विघटन के कारणों और उसके समाधान के लिए आर्थिक कारक पर अधिक बल दिया गया है जो स्पष्ट रूप से लेखक का पक्षपात सूचित करता है।

इस आधार पर हम कह सकते है कि सामाजिक समस्याओं के उत्पत्ति सम्बन्धी सामाजिक विघटन का सिद्धान्त समाज की उन सभी स्थितियों को स्पष्ट नही करता जिनसे सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। हिटलर की जर्मनी और स्टालिन का रूस समाज पूर्णतः निर्विघ्नता से कार्य कर रहे थे। उनमें सामाजिक विघटन किसी मात्रा में भी नही था। परन्तु फिर भी दोनों समाजों में सामाजिक आदर्शों से विचलन मिलता था जिसके लिए सामूहिक क्रिया की आवश्यकता थी। दूसरे शब्दों में दोनो समुदायों में सामाजिक समस्याएँ मिलती थीं।

लेकिन इसका यह अर्थ भी नही कि सामाजिक विघटन और सामाजिक समस्या का पारस्परिक सम्बन्ध ही नही है। यद्यपि सामाजिक विघटन सामाजिक समस्या को पूर्ण रूप से नही तो कुछ अंश में अवश्य समझाता है। वाल्स ने भी इस तथ्य पर बल दिया है।[21]

हार्टन और लेस्ले के अनुसार सामाजिक समस्याओं मे सामाजिक विघटन के अध्ययन विधि के प्रयोग में हम निम्न कुछ प्रश्न पूछते है :[22] परम्परागत नियम और क्रियाएँ क्या थी ? किस प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों ने उन्हे व्यर्थ व निरर्थक बना दिया ? कौनसे पुराने नियम समाप्त हो गए है ? क्या समाज में परिवर्तन अब भी हो रहा है ? यदि हाँ, तो किस गति से और किस दिशा में ? असन्तुष्ट समूह कौन-कौन से हैं तथा उन समूहों ने समस्याओं के समाधान के लिए कौनसे उपाय बताये हैं ? जो उन्होंने निवारण के विभिन्न उपाय बताये हैं उनमें से कौनसे सामाजिक परिवर्तन के अनुकूल हैं ? भविष्य में किन नियमों को मान्यता प्रदान की जाएगी, इत्यादि।

सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)

यद्यपि परिवर्तन हर समाज मे पाया जाता है परन्तु सभ्यता का हर पहलू

---

[19] Walsh and Furfey, *op. cit.*, 14.

[20] Hobbs, A. H., *The Claims of Sociology: A Critique of Text Books*, Harrisburg, Stackpole, 1951, Ch. 9.

[21] 'If the social disorganisation theory is not a full explanation for social problems, it is at least a partial explanation for many of them.' and Furfey, *op. cit.*, 15.

[22] Horton and Leslie, *op. cit.*, 32

एक ही मात्रा में तथा एक ही गति से नही बदलता। सांस्कृतिक विलम्बना के सिद्धान्त को मानने वालों का यह विश्वास है कि औद्योगिक प्रगति इतनी तीव्र गति से होती है कि उसमें हम अपना समायोजन नही कर पाते। दूसरे शब्दो मे अभौतिक संस्कृति की प्रगति भौतिक संस्कृति की प्रगति से पीछे रह जाती है। संस्कृति के दोनों पक्षो में से एक के अधिक विकसित हो जाने और दूसरे की वृद्धि उसी अनुपात में न हो सकने की स्थिति को ऑगबर्न ने 'सांस्कृतिक विलम्बना' माना है। यही सास्कृतिक विलम्बना सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए भारत में औद्योगीकरण का विकास तो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से शुरू हो गया और कारखानो में दुर्घटनाओ की संख्या बढती गयी परन्तु श्रमिकों के लिए श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmen's Compensation Act) 1923 मे ही पास किया गया। मालिकों और श्रमिकों के सम्बन्धों को नियन्त्रित करने एवं श्रमिको के शोषण को रोकने व मालिको और मजदूरों के झगडों के निपटाने सम्बन्धित कानून 1946 में ही पास किया गया तथा श्रमिक संगठनों का निर्माण व विकास 1930 के बाद ही हुआ। इस प्रकार बीच का काल सांस्कृतिक विलम्बना का काल था। इसी तरह देश में बेरोजगारी इतनी पायी जाती है परन्तु अभी तक बेरोजगारी बीमा जैसी सुरक्षा की योजना आरम्भ नही की गयी है। इस स्थिति और आवश्यकता के मध्य का तनाव 'सास्कृतिक विलम्बना' ही कहलायेगा। सामाजिक सुरक्षा की योजना के अभाव मे बेरोजगार व्यक्ति यदि सामाजिक नियमों से विचलित होगे तो अपराध की समस्या स्वाभाविक ही है। इससे पता लगता है कि संस्थात्मक अभि-योजना के अभाव मे अथवा सांस्कृतिक विलम्बना से किस प्रकार सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। ऑगबर्न ने इस सांस्कृतिक विलम्बना के कारणो मे व्यक्तियों की रूढ़िवादिता, नए विचारों के प्रति भय, अतीत के प्रति निष्ठा, निहित स्वार्थ तथा नवीन विचारों की परीक्षा मे कठिनाई बताये हैं।[23] सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त कुछ सामाजिक समस्याओं को तो स्पष्ट करता है पर सभी को नही। किन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त को मानने वाले भी यह दावा नही करते कि 'सास्कृतिक विलम्बना' सभी सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करती है। स्थायी समाजों में भी अपराध और निर्धनता जैसी समस्याएँ पायी जाती हैं।

मूल्यों में संघर्ष का सिद्धान्त (Value Conflict Theory)

सामाजिक मूल्य हमारे जीवन के लिए इस कारण महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि यही मूल्य यह निश्चित करते हैं कि समाज के लिए क्या महत्त्वपूर्ण है, किस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा किनसे बचना चाहिए। दूसरे शब्दो में समाज के मूल्य ही उसके अधिमान (preferences) और अस्वीकृत आचार (rejeetiosn)

[23] Ogburn, W. F. and Nimkoff, M. F., *Sociology*, Houghton Mifflin Boston (3rd edition), 1958, 708-12.

होते हैं। हर समाज में बहुत से मूल्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होते। कुछ मूल्य दूसरों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण होते हैं और कुछ समाज के प्रत्येक कार्य में आधारभूत होते हैं। फिर, अलग-अलग समूहों के मूल्य अलग-अलग होने के कारण मूल्य-मतभेद मिलता है। इन्ही मूल्यों में मतभेद अथवा मूल्यों के सामान्य अर्थों में परिवर्तन के कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, रूढ़िवादी व्यापारी व्यक्तिगत प्रोत्साहन और लाभ-उद्देश्य पर आधारित पुराने पूँजीवाद के पक्ष मे होते हैं जबकि उदारवादी व्यापारी व्यापार पर सरकार का कठोर नियन्त्रण चाहते है अथवा वे समाजवाद के पक्ष में होते है। दोनों समूहों मे नीतियों के अन्तर के अतिरिक्त मूल्यों में भी अधिक अन्तर मिलता है। रूढ़िवादी इस कारण पूँजीवाद को व्यक्तियों के लिए अच्छा मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस ढाँचे से अभिलाषा, अल्पव्ययिता तथा कठोर परिश्रम आदि जैसे मूल्यों को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी ओर, उदारवादी इस ढाँचे (पूँजीवाद) में एक औसत व्यक्ति का शोषण और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का लाभ पाते हैं। मूल्यों के इस तरह के संघर्ष से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। फुल्लर का भी कहना है कि हमारे आर्थिक स्वार्थ के कारण अपराध बढ़ते है, पूँजीवादियों के मुनाफेखोरी के कारण श्रमिकों में बेरोजगारी उत्पन्न होती है तथा एक-विवाह की प्रथा पर बल देने के कारण अविवाहित माताएँ बच्चों की उपेक्षा करती हैं।[24] क्यूबर और हारपर ने परिवार सम्बन्धी सामाजिक समस्याओं में प्रौढ़ और युवा पीढी के मूल्यों के संघर्ष का उल्लेख किया है। प्रौढ़ पीढी के मूल्य विवाह की पवित्रता, रूढ़ियों की आस्था, परम्परानुसार कर्त्ता के सर्वाधिकार सम्पन्न व्यक्ति होने, आदि में विश्वास करते हैं, जबकि युवा पीढ़ी के मूल्य अधिनायकवाद, व्यक्तिगत योग्यता, समान अधिकार आदि पर आधारित होते हैं।[25] वाल्लर ने सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति संगठन सम्बन्धी और मानवतावादी लोकाचार मे संघर्ष के आधार पर बतायी है।[26] संगठन सम्बन्धी मूल्यों में वह व्यक्तिवाद, वैयक्तिक सम्पत्ति आदि लोकाचार सम्मिलित करता है और मानवतावादी लोकाचार में वह संसार को अच्छा बनाने की इच्छा अथवा लोगों के कष्टों का समाधान करने जैसे मूल्य सम्मिलित करता है।

फुल्लर, क्यूबर और वाल्लर के विश्लेषण मे कुछ दोष मिलते हैं। फुल्लर का यह विश्वास कि हमारे वर्तमान लोकाचार धन पर अधिक बल देते हैं और यह धारणा चोरी के अपराध की समस्या को प्रोत्साहन देती है, सही नही है क्योंकि पूरे अपराध की समस्या को केवल मूल्यों के संघर्ष के आधार पर नही समझाया जा सकता। इसी प्रकार क्यूबर और हारपर की यह मान्यता कि वर्तमान परिवार की

[24] Fuller, Richard C., 'The Problem of Teaching Social Problems', *American Journal of Sociology*, (44), 1937, 419.

[25] Cuber, John F. and Harper, Robert A., *Problems of Society : Values on Conflict*, Holt, N. York, 1948, 305–06.

[26] Waller Willard, 'Social Problems and the Mores', *American ... cal Review*, 1936 (1), 924.

कुछ समस्याएँ किसी न किसी मूल्य के संघर्ष के कारण होती हैं सही हैं परन्तु यह मानना कि सभी पारिवारिक समस्याएँ केवल मूल्यों के संघर्ष के आधार पर ही स्पष्ट की जा सकती है गलत होगा क्योंकि ऐसे समुदायों मे भी जहाँ मूल्यों में पूर्ण सहमति मिलती है पति-पत्नी अथवा माता-पिता तथा सन्तान के सम्बन्ध पूर्ण रूप से समस्यामुक्त नही मिलते हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि मूल्य संघर्ष दो तरह से समाज मे सामाजिक समस्याएँ पैदा करते हैं—पहला, वे वाँछनीय सामाजिक परिस्थितियों के विरोधी परिभाषाएँ देने से समस्याएँ उत्पन्न करते है—और दूसरा, वे नैतिक अव्यवस्थितता (moral confusion) को उत्साहित करते है जिससे वैयक्तिक विचलन को प्रोत्साहन मिलता है।

इस अध्ययन विधि के प्रयोग में हार्टन और लेस्ले के अनुसार कुछ प्रश्न इस प्रकार पूछे जाते हैं[27]—कौन-से मूल्यों में संघर्ष पाया जाता है ? मूल्य संघर्ष कितना गहरा है ? समस्या के समाधान के लिए दिया हुआ सुझाव कौनसे मूल्यों को समाप्त करना चाहता है, इत्यादि।

वैयक्तिक विचलन का सिद्धान्त (Personal Deviation Approach)

सामाजिक विघटन के सिद्धान्त में हम यह देखते हैं कि कौन-से नियम, मूल्य व क्रियाएँ टूटे है, किस तरह के परिवर्तन के कारण टूटे हैं, और कौन-कौन-से नये नियम उत्पन्न हुए हैं। दूसरी ओर, वैयक्तिक विचलन के सिद्धान्त (personal deviation approach) में हम उन लोगों की प्रेरणा और व्यवहार का अध्ययन करते हैं जो समस्या को उत्पन्न करने मे प्रभावशाली हैं, जो उसकी प्रकृति को परिभाषित करते है, जो उसका विरोध करते हैं अथवा जो उसके समाधान के सुझाव देते हैं। ये लोग विचलित व्यक्ति हैं जिनका विचलित व्यवहार सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति से बहुत सम्बन्धित है। इस प्रकार हम वैयक्तिक विचलन की अध्ययन-विधि द्वारा यह मालूम करने का प्रयत्न करते हैं कि वैयक्तिक विचलन कैसे विकसित होता है, तथा सामाजिक समस्याओं में किस प्रकार का वैयक्तिक विचलन पाया जाता है।

वैयक्तिक विचलन के दो मुख्य कारण पाये जाते हैं—(क) समाज द्वारा मान्यताप्राप्त नियमों के पालन की असमर्थता; (ख) समाज द्वारा मान्यताप्राप्त नियमों के पालन में असफलता। इससे ज्ञात होता है कि वैयक्तिक विचलन ऐसे व्यक्तियो में पाया जाता है जिनका सही समाजीकरण नहीं हुआ है अथवा विचलित व्यवहार समाजीकरण प्रक्रिया के असफलता के कारण पैदा होता है। जहाँ तक वैयक्तिक विचलन के प्रकारों का प्रश्न है इसके दो प्रकार मिलते हैं—(1) मान्यताप्राप्त नियमों से विचलन, (2) स्वयं उत्पन्न किए हुए नियमों वाले विचलित उपसंस्कृतियों का पाया जाना।

[27] Horton and Leslie, *op. cit.*, 38.

सामाजिक समस्याओं में 'वैयक्तिक विचलन' के अध्ययन-विधि के प्रयोग में हम हर्टन और लेस्ले के अनुसार निम्न प्रश्न पूछते हैं[28]—किस प्रकार के व्यक्ति और समूह नियमों से विचलित होते हैं ? क्या विचलित व्यक्ति स्वय समाज के लिए समस्या हैं अथवा वे समस्या उत्पन्न करते हैं ? यदि समस्या उत्पन्न करते है तो कैसे ? क्या विचलित व्यक्ति मौलिक रूप से कुसमायोजित (maladjusted) व्यक्ति हैं ? कौन-सी आवश्यकताएँ उनको मान्यता-प्राप्त व्यवहार से विचलन की प्रेरणा देती हैं ? कौन-सी विचलित उप-संस्कृतियाँ पायी जाती हैं तथा इन समूहों द्वारा कौन-से नियम माने जाते है ? नियमों से विचलन करने वाले व्यक्तियों के पुनःसमाजीकरण के लिए कौन-कौन से सुझाव उपलब्ध हैं ?

उपर्युक्त चार सिद्धान्त कुछ सामाजिक समस्याओं का आपस मे अन्तर-सम्बन्ध सिद्ध करते है परन्तु ये सभी समस्याओं का हर प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट नही करते। वाल्स के अनुसार इन सिद्धान्तों का प्रमुख दोष समस्या को बहुत सरल बनाने का प्रयत्न है।[29] हर सिद्धान्त सभी सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति में एक सरल कारक पर बल देता है परन्तु स्थिति इतनी सरल नहीं है। वर्तमान समाजशास्त्रीय अध्ययन यह स्पष्ट रूप से बताते है कि सामाजिक समस्या का निवारण इतना सरल नही हो सकता। यद्यपि चारों सिद्धान्तों की यह मान्यता सही है कि सामाजिक समस्याएँ समाज से ही उत्पन्न होती हैं और इस कारण उनमें कोई सामान्य कारक होगा परन्तु वह 'कोई कारण' क्या है यह स्पष्ट नही कर पाये हैं। हम यह मानते हैं कि विभिन्न सामाजिक समस्याओं का आपस में सम्बन्ध अवश्य होता है। यही पारस्परिक सम्बन्ध उनके (सामाजिक समस्याओं) कारणों व निवारण के विश्लेषण का आधार होना चाहिए।

सामाजिक समस्याओं का निवारण

सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित तीन पहलुओं (approaches) को ध्यान में रखना चाहिए—

(1) बहु-कारकवादी दृष्टिकोण (Multiple-factor approach)—इस दृष्टिकोण के आधार पर हमें यह मानना पड़ता है कि कोई समस्या किसी एक कारण से नही परन्तु अनेक कारणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। उदाहरणतः यह मानना कि भारत में क्योंकि 80 प्रतिशत अपराध चोरी से सम्बन्धित होते हैं इसलिए निर्धनता ही अपराध का मुख्य कारण है, सही नहीं होगा। यदि केवल निर्धनता ही अपराध का कारण हो तो सभी निर्धन व्यक्ति अपराधी होते अथवा धनी व्यक्तियों में हमें अपराध बिल्कुल नहीं मिलता परन्तु ऐसा नहीं है। इस कारण अपराध का कारण केवल निर्धनता न मानकर अनेक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और जैविकीय

[28] *Ibid.*, 35.
[29] Walsh, *op. cit.*, 18.

आदि कारक बताये जाते हैं। इस दृष्टिकोण को बहुकारकवादी दृष्टिकोण कहा गया है।

(2) **पारस्परिक सम्बद्धता (Interrelatedness)**—इसका अर्थ यह है कि एक सामाजिक समस्या अन्य बहुत समस्याओं से सम्बन्धित होती है जिस कारण हमें एक समस्या को सुलझाने के लिए अन्य समस्याओं को भी सुलझाने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, अस्पृश्यता समस्या के समाधान के लिए न केवल हमें अछूत लोगों के आर्थिक व सामाजिक उत्थान का प्रयत्न करना होगा पर साधारण लोगों के उनके प्रति पूर्व निश्चित धारणाओं (stereotypes) को भी समाप्त करना होगा जो शिक्षा आदि द्वारा ही सम्भव है। फिर पास किये गये कानून के कठोर परिपालन से लोगों में भय पैदा करना होगा कि अस्पृश्यता के मनाने में उन्हें कठोर दण्ड मिल सकता है। इसके अतिरिक्त जातीय ढाँचे को भी समाप्त करने का प्रयत्न करना होगा तथा परम्परागत व्यवसाय में जो अस्पृश्य लोग साधन अपनाते हैं उनमें आधुनिकीकरण लाना होगा जिससे लोग उनको गन्दा, मूर्ख, बुद्धिहीन, अन्ध-विश्वासी आदि न कहें। दूसरे शब्दों में अस्पृश्यता के उपचार के लिए हमें निर्धनता, अज्ञानता, जाति-प्रथा आदि समस्याओं को समाप्त करने का प्रयास करना होगा। फिर कुछ सामाजिक समस्याएँ सामाजिक नियन्त्रण (कानून) से भी उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि साधारणतया लाभकारी कानूनों के साथ कई बार अवांछित परिणाम भी प्रकट होते हैं। नशानिरोध अधिनियम के कारण अवैध रूप से शराब बेचना तथा शराब का अवांछित व्यापार जैसे परिणाम उत्पन्न हुए हैं। इसी तरह वेश्यावृत्ति अधिनियम के कारण अवैध यौन-सम्बन्ध अथवा अवैध वेश्यागृह आदि जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न हो गयी हैं। इस आधार पर विभिन्न सामाजिक समस्याओं के पारस्परिक सम्बन्धों का विचार ही सामाजिक समस्याओं के उपचार का आधार हो सकता है।

(3) **सापेक्षिकता (Relativity)**—इसके अनुसार प्रत्येक सामाजिक समस्या का समय और स्थान से अभिन्न सम्बन्ध होता है। कोई सामाजिक स्थिति हानिकर और गम्भीर है अथवा नहीं, यह अमुक समाज के निर्णय पर आश्रित है। जिस समस्या को एक समाज में गम्भीर माना जाता है आवश्यक नहीं कि अन्य समाजों में वह समस्या गम्भीर मानी जाती हो। उदाहरणत: जनसंख्याधिक्य हमारे लिए अति गम्भीर समस्या है परन्तु शायद चीन के लिए इतनी नहीं है। इसी प्रकार प्रजातीय संघर्ष की समस्या जितनी इस समय अमरीका व अफ्रीका में मिलती है उतनी अन्य देशों में नहीं मिलती। फिर, जो समस्या आज समस्या मानी जाती है आवश्यक नहीं कि सदा उसको समस्या ही समझ लिया जाये।

सामाजिक समस्या का समाधान केवल उपर्युक्त पहलुओं के आधार पर सम्भव हो सकता है और इन्हीं पहलुओं के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कभी यह सम्भव नहीं है कि किसी समाज में अथवा किसी विशेष समय में कोई समस्या पाई ही न जाये। समस्याएँ हर समाज में हर काल में मिलती हैं, केवल उनका रूप व उनकी गम्भीरता अलग-अलग रूपों में मिलती है। समस्या के निराकरण के लिए

जब तक समस्त समूह रुचि न लें तब तक उसको समाप्त करना असम्भव है और समस्त समूहों मे अभिरुचि उत्पन्न करना आसान नही है। जनता के एक भाग की रुचि बेकारी समाप्त करने में होगी तो दूसरे की निर्धनता खत्म करने मे और तीसरे की निरक्षरता (illiteracy) दूर करने मे। सभी लोगो में आवश्यक धारणाएँ उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। गिलिन ने इन आवश्यक सामाजिक धारणाओं को इस प्रकार परिभाषित किया है—'जब एक समाज अथवा समूह किसी (अहितकर) स्थिति का सामना करता है तब उसके (समाधान के) लिए ऐसी सामूहिक धारणाएँ उत्पन्न करना जो किन्ही विश्वासों व भावनाओं पर आधारित हो।'[30]

इन सामाजिक धारणाओ की उत्पत्ति मे नेता मुख्य कार्य कर सकते हैं। जिन विभिन्न तरीकों से ये आवश्यक धारणाएँ उत्पन्न कर सकते है वे हैं—(क) अपने उदाहरण द्वारा अपने अनुसरण करने वालो को प्रेरणा प्रदान करना, जैसे गाधी जी ने अस्पृश्यता को समाप्त करने में अपना उदाहरण जनसाधारण के सामने रखा। (ख) व्यक्तियो को समस्या के निवारण के लिए नये व स्वस्थ विचार देना। (ग) सफलता प्राप्ति से पहले सफलता का भ्रम उत्पन्न करना।

जानसन के अनुसार सामाजिक समस्याओं का समाधान तीन कारकों के कारण कठिन होता है[31]—

(1) विद्यमान सामाजिक संरचना को शक्तिशाली भावनाओं (sentiments) तथा निहित स्वार्थों (vested interests) का समर्थन होता है। वालर का कहना है कि कभी-कभी यह निहित स्वार्थ उन्ही लोगों में पाये जाते हैं जो विद्यमान परिस्थिति को, जिसे हम सामाजिक समस्या मानते हैं, शोचनीय व हानिकर बताते हैं।[32] इसका उदाहरण मिर्डल[33] ने अमरीका मे प्रजातीय विभेद का दिया है। उसका कहना है कि वे ही लोग जो प्रजातीय विभेद के मनन मे शर्म व अपमान अनुभव करते हैं उसे सस्ते श्रम, कार्य के एकाधिकार तथा ऊँची सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने के लाभ के कारण समाप्त करने के लिए अनिच्छुक पाये जाते है। भारत में अस्पृश्यता, घूसखोरी व भ्रष्टाचार की समस्याओं के लिए भी यह कहा जा सकता है। समस्या को समाप्त करने के लिए दिये गये सुझावों का विरोध कई रूप में पाया जाता है। सबसे सामान्य युक्ति जो अधिकतर निहित स्वार्थ वाले समूहों द्वारा

---

[30] 'Group tendencies to act conditioned by a certain community of beliefs, sentiments or desires, when a society or group of individuals are confronted with a given situation.' Gillin, J. L., *Criminology and Penology*, Appleton Century, N. York, 1945, 446.

[31] Johnson, Harry M., *Sociology—A Systomatic Introduction*, Allied Publishers Private Ltd., Bombay, 1960, 640.

[32] Waller, W., 'Social Problems and the Mores', *American Sociologi Review*, Vol. I, 922-33.

[33] Myrdal, G., *An American Dilemma: The Negro Problem and Democracy*, Harper, N. York, 1944, 94.

अपनाई जाती है वह है समस्या के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना। उदाहरणतः उन्नीसवी शताब्दी मे बाल-श्रम एक सामाजिक समस्या थी, परन्तु कुछ फैक्ट्री मालिकों ने जिनके कारखानों में बच्चे काम कर रहे थे, यह कहा कि बाल-श्रम इस कारण अच्छा है क्योंकि इससे बच्चो का चरित्र बनता है और उनमें बचत करने तथा मेहनत की आदते विकसित होती है। ऐसे तर्क केवल मनोवैज्ञानिक युक्तिकरण (psychological rationalisations)है और जनसाधारण को बहकाने के लिए होते हैं।

(2) सामाजिक समस्या को सुलझाने मे साधारणतया दिया जाने वाला यह तर्क भी विरोध का कार्य करता है कि दिये गये सुझाव समस्या को सुलझाने के बदले और ज्यादा हानियाँ उत्पन्न करेगे। निर्धनता को कम करने और औद्योगिक विकास के लिए पूंजी उपलब्ध करने के लिए 1969 में जो भारत मे बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया था उसके विरोध मे बहुत से पूँजीपतियो और उनके समर्थकों ने ऐसे ही तर्क दिये थे।

(3) तीसरी कठिनाई धीरे-धीरे कार्य करने की है। उदाहरण के लिए बहुत समय तक भारत में यही नहीं माना गया कि राजनीतिक नेताओ तथा ऊँचे अफसरों में भ्रष्टाचार पाया जाता है। अब जब उसे अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया है तो उसकी समाप्ति के लिए प्रयास बहुत धीरे-धीरे हो रहे हैं।

यद्यपि निहित स्वार्थ वालो के युक्तिकरण (rationalisations of vested interests) केवल समस्या के समाधान सम्बन्धी प्रयास का विरोध करने मात्र होते हैं परन्तु यह भी नही माना जा सकता कि उनके तर्क हमेशा ही गलत व बहकाने वाले होते हैं। कभी-कभी उनके तर्क सही भी होते हैं जिस कारण किसी सोचे हुए सुझाव का समस्या के निवारण के लिए तुरन्त प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सुझाव और प्रत्येक विरोधी तर्क की श्रेष्ठता को सामाजिक हितों के सन्दर्भ में परखना आवश्यक रहता है।

सामाजिक समस्याओं के समाधान का एक वैज्ञानिक सुझाव वाल्श और फर्फे ने दिया है। उनका कहना है कि हर समस्या का निवारण अवलोकन, निर्णय और क्रिया द्वारा ही हो सकता है।[31] यहाँ अवलोकन के अभिप्राय वैज्ञानिक तरीके से तथ्यों को एकत्रित करना है, निर्णय से अभिप्राय एकत्रित किये गये तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण से है, और क्रिया से अभिप्राय विभिन्न कार्यों मे से सही कार्य को ढूंढ निकालने से है।

अवलोकन अथवा तथ्यों को एकत्रित करना—जब तक समस्या के सही कारण मालूम करने के लिए पूरे तथ्य प्राप्त नही है तब तक उसको समाप्त करने के लिए कोई भी उपाय बताना अनिष्ट होगा। उदाहरण के लिए, यह सुझाव कि कठोर दण्ड देने से अपराधी पुनः अपराध नही करेगा तथा अपराध बिल्कुल समाप्त हो जायेगा तभी सही होगा जब सभी अपराधी 'सोचना' आरम्भ करेंगे। परन्तु क्योंकि

[31] Walsh and Furfey, *op. cit*, 23–59.

कुछ अपराधी हीनवुद्धि के अथवा मानसिक रूप से अविकसित होते हैं और कुछ अनुकरण व कुछ उद्वेग आदि के कारण अपराध करते है इसलिए केवल कठोर दण्ड अपराध-निरोधन का साधन नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह कहना कि भारत में अछूत लोग प्रथाओं और नियमों द्वारा लदे हुए प्रतिबन्धों पर आपत्ति नही करते बिल्कुल गलत होगा। ऐसा वे ही कह सकते हैं जिनको अस्पृश्य लोगों का सही ज्ञान नही है। अतः किसी सामाजिक समस्या के समाधान का सुझाव केवल वैज्ञानिक तरीकों से तथ्य एकत्रित करके व उसके सही कारण मालूम करके ही दिया जा सकता है। तथ्यों की प्राप्ति में वैज्ञानिक साधन अपनाने वाले इस समय तीन ही समूह हैं: विश्वविद्यालय, सरकारी संस्थाएँ तथा अनुसन्धानकारी कुछ गैर-सरकारी संस्थाएँ। यद्यपि इन संस्थाओ द्वारा किये गये अध्ययन सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिए सही तथ्य उपलब्ध कर सकते हैं परन्तु सामाजिक अनुसन्धानों द्वारा प्राप्त तथ्यों की प्रामाणिकता मे निदर्शन (sampling), अध्ययन-विधि तथा पक्षपात (bias) आदि को ध्यान में रखना होगा।

निर्णय अथवा तथ्यों का विश्लेषण—तथ्यों के विश्लेषण की एक विशेषता यह है कि एक ही सामाजिक परिस्थिति की अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग व्याख्या देते हैं। जनसंख्या के नियन्त्रण में परिवार नियोजन को कुछ लोग बुरा मानते हैं तो कुछ आवश्यक। इसलिए किसी सामाजिक समस्या के विश्लेषण में यह मालूम करना अत्यन्त आवश्यक है कि कौन-सी सामाजिक घटनाएँ सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करती हैं तथा कौन-सी कम महत्त्वपूर्ण। अब यह निर्णय कैसे लिया जाये? इसके लिए सर्वोच्च तरीका यह है कि प्राप्त सूचना के वैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त सामाजिक नीतिशास्त्र (social ethics), जो तर्क पर निर्धारित है, और नैतिक अध्यात्मविद्या (moral theology) जो नैतिक सदाचार पर आधारित है, की भी सहायता लेनी चाहिए, क्योंकि यह दोनो विज्ञान मानवीय व्यवहार के आदर्श नियमों का अध्ययन करते हैं जिससे सामाजिक समस्याओ को सही तरीके से समझा जा सकता है।

कर्म—वैज्ञानिक विश्लेषण के उपरान्त हमें यह निश्चित करना होगा कि सामाजिक समस्या के समाधान के लिए कहाँ सामाजिक कर्म (social action) की आवश्यकता है और कहाँ सामाजिक कार्य (social work) की। इन दोनों में अन्तर है। सामाजिक कर्म प्रचलित सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के परिवर्तन के लिए एक प्रयास है जबकि सामाजिक कार्य उन व्यक्तियों को सहायता पहुँचाना है, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है। सामाजिक कर्म सामाजिक समस्याओं को जड़ से उखाड़कर उनके उत्पत्ति सम्बन्धी कारणों को दूर करने का प्रयत्न करता है, सामाजिक कार्य केवल उनकी बुराइयों का शमन करता है। उदाहरणतः निर्धनता के उपचार के लिए सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कानून पास करना एक सामाजिक कर्म होगा जबकि किसी निर्धन परिवार को कोई सहायता देना सामाजिक कार्य होगा। इस आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सामाजिक कर्म सामाजिक

समस्या के समाधान का सर्वोत्तम उपाय होगा। फिर सामाजिक कर्म संगठित भी हो सकता है और व्यक्तिवादी कर्म भी। संगठित कर्म सामूहिक प्रयास द्वारा अपनाया गया कर्म है और सामाजिक समस्या को समाप्त करने के लिए यह ही संगठित कर्म चाहिए। परन्तु व्यक्तिवादी कर्म भी कहीं-कहीं पर आवश्यक होगा। अन्त में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति और समूह दोनों क्रियाशील (active) होकर सामाजिक समस्या का निवारण कर सकते हैं। दूसरा, सामाजिक समस्या के लक्षणों तथा उस समाज के लक्षणों का, जिसमे समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, विश्लेषण ही सामाजिक समस्या के नियन्त्रण में सहायक होगा।

सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक परिवर्तन

निरुपधि (healthy) सामाजिक जीवन में विस्तार और समस्या में विकास स्वाभाविक है। परन्तु यह विस्तार और विकास जो समाज में परिवर्तन उत्पन्न करता है कभी-कभी हमारी सामाजिक संरचना की नीव को हिला देता है। इसका व्यक्तियों और समूहों पर इतना प्रभाव पड़ता है कि सामाजिक कुसमायोजन (social maladjustment) पैदा होता है और इसी कुसमायोजन से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसा कि ऊपर बताया गया है सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक समस्याओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समस्याएँ सामाजिक परिवर्तन का परिणाम होती हैं और कुछ स्वयं सामाजिक परिवर्तन लाती हैं। फिर कभी-कभी सामाजिक समस्याओं के समाधान से भी सामाजिक परिवर्तन होता है। समाज के परिवर्तन में जब लोग समायोजन नहीं कर पाते तब इसी अपसमायोजन से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। फेल्पस और हेन्डर्सन ने अमेरिका में 1840 और 1860 के मध्य केवल 22 समस्याएँ पायी जबकि 1950 में इनकी संख्या उन्होंने 90 पायी।[35] इनके बढ़ने का एक कारण उन्होंने सामाजिक परिवर्तन बताया है जो नयी परिस्थितियाँ पैदा करता है जिनसे विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, गाड़ियों की दुर्घटनाएँ 1860 में सामाजिक समस्या नहीं थी परन्तु अब उसे गम्भीर समस्या माना जाता है। गिलिन डिट्मर, कोलबर्ट और कैस्लर का भी कहना है कि समाज में परिवर्तन हर व्यक्ति और हर समूह को प्रभावित करता है और क्योंकि समाज का एक बहुत बड़ा भाग अपने को समय के अनुकूल शीघ्र और सम्पूर्ण रूप से बदल नहीं पाता इस कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।[36]

नेल्सन, रैम्ज़े और वर्नर[37] का विचार है कि अधिकांश मानवीय समस्याओं में किसी न किसी रूप में सामाजिक परिवर्तन मिलता है। सबसे पहले तो परिवर्तन

---

[35] Phelps, Harold A., and Henderson David, *Contemporary Social Problems*, Prentice Hall, Englewood (4th edition), 1952, 6-7.

[36] Gillin, J. L., Dittmer, C.G., Colbert, R. J., Kastler, N. M., *Social Problems* (4th edition). The Times of India Press, Bombay, 1965, 21.

[37] Nelson, Ramsey and Verner, *op. cit.*, 391.

किसी प्रकार का भी हो उससे समस्याएँ अवश्य उत्पन्न होंगी क्योंकि परिवर्तन अभ्यस्त व्यवहार से एक तरह का विचलन है। दूसरा, परिवर्तन के कारण जब व्यक्ति किसी समस्या का सामना करता है और उसके समाधान हेतु वह अपने सम्बन्धों का समायोजन करता है तो सम्बन्धों का यह समायोजन भी एक प्रकार का परिवर्तन होगा। कभी-कभी व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध इस तरह बदलते है जिसका उसने अनुमान भी नही लगाया था और न वैसे नये सम्बन्ध वह चाहता ही था। इन नये अप्रिय तथा अनिच्छित सम्बन्धों के कारण फिर नयी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार एक समस्या के निवारण से दूसरी समस्या पैदा होती है और यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहता है।

सामाजिक परिवर्तन को अनुभव करना आसान है परन्तु उसकी प्रकृति की भविष्यवाणी करना तथा इसका नियन्त्रण कठिन है। परिवर्तन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि कोई आधार रेखा हो जिससे परिवर्तन को नापा जा सके परन्तु मूल्यों की भिन्नता आदि के परिणामस्वरूप यह आधारभूत रेखा प्राप्त करना सरल नही होता।

अब हमें यह देखना है कि भारत में इस शताब्दी में पिछली शताब्दी की अपेक्षा किस तरह का परिवर्तन मिलता है जिसमें हम अपना समायोजन नही कर पाये हैं जिसके फलस्वरूप समस्याओं का सामना कर रहे है। मुख्य रूप से हमें चार प्रकार के परिवर्तन मिलते हैं—

1. धर्मरक्षित (sacred) से धर्मनिरपेक्षता (secular) में परिवर्तन।
2. समरूपता (homogeneity) से भिन्नता (heterogeneity) में परिवर्तन।
3. लोक कथाओं (folklore) से विज्ञान (science) में परिवर्तन।
4. प्राथमिक समूहों के प्रभाव में कमी।

जहाँ तक परिवर्तन लाने वाले तत्त्वों का प्रश्न है प्रमुख रूप से चार तत्त्वो ने इस सन्दर्भ मे मुख्य कार्य किया है—(क) औद्योगीकरण; (ख) यातायात व संचारण के साधनो का विकास; (ग) शिक्षा के कारण धार्मिक विचारों में परिवर्तन; और (घ) सरकार द्वारा पास किये गये अधिनियम। औद्योगीकरण भारत में ब्रिटिश काल से प्रारम्भ हुआ है। इस औद्योगीकरण का जाति-व्यवस्था, परिवार, सम्पत्ति आदि पर गहरा प्रभाव पड़ा है। पूंजीवाद उद्योग-व्यवस्था का प्रारम्भ सम्पत्ति प्रणाली व श्रम-विभाजन में परिवर्तन लाया है तथा इसने नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया है जिन्होंने भारत के राजनीतिक विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त फैक्ट्रियो के विकास के कारण श्रमिकों मे बेरोजगारी, मालिक-श्रमिको मे संघर्ष, तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धो आदि से भी सामाजिक समस्याएँ पैदा हुई।

गिलिन, डिट्मर, कोलबर्ट और कैस्लर[34] के अनुसार परिवर्तन दिशाएँ होती है—(1) प्राथमिक दिशा—जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नये

[34] Gillin, Dittmer and Kastler, *op. cit.*, 38.

खोज की स्वीकृति से, जनसंख्या की आकस्मिक अदला-बदली (shift) से, तथा साधनों के प्रयोग (exploitation of resources) से है। (2) द्वितीयक दिशा—जिसका सम्बन्ध प्राथमिक दिशा में प्राप्त परिवर्तन से उत्पन्न हुए कुसमायोजन से है। उदाहरण के लिए आधुनिक चिकित्सा की प्रगति को लीजिए। नये आविष्कार स्वीकार कर हमने बीमारी और मृत्यु-दर को कम किया है। यह परिवर्तन का प्राथमिक पहलू है जो चिकित्सा-शास्त्र में प्रगति के कारण मिलता है। परन्तु इस प्रगति का द्वितीयक पहलू यह है कि हजारों-लाखों व्यक्ति जो आधुनिक जीवन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं का सामना नहीं कर सकते वे भी जिन्दा रहते हैं और ये व्यक्ति सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अन्य उदाहरण लेकर भी यह बताया जा सकता है कि परिवर्तन से उत्पन्न कुसमायोजन ही सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है।

सामाजिक समस्याएँ और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र सामाजिक समस्या को किसी एक कारण द्वारा स्पष्ट न करके उसे सम्पूर्ण समाज की विभिन्न दिशाओं की पृष्ठभूमि में स्पष्ट करता है। एक साधारण व्यक्ति सामाजिक समस्याओं को ऐसे देखता है जैसे सभी समस्याएँ अलग-अलग रहती हों और उनको सुलझाने के लिए अलग-अलग प्रयास करने हों। इसके विपरीत समाजशास्त्री हर समस्या की जड़ें सामाजिक व्यवस्था में ढूँढ़ता है। वह सभी सामाजिक समस्याओं को विस्तृत दृष्टिकोण से देखता है तथा सम्पूर्ण जीवन को कुछ भागों में विभक्त करके तथा तदुपरान्त उनका अध्ययन करके उनके व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्री न केवल सामाजिक घटनाओं को समझने का प्रयत्न करता है अपितु उन कार्यक्रमों और नीतियों को भी ढूँढ निकालने का प्रयास करता है जिनसे समाज की उन्नति हो सके। वह प्राप्त तथ्यों से जो सिद्धान्त विकसित करता है वे हमें वह वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करते हैं जिनसे समायोजन के लिए आवश्यक कार्यक्रम उपलब्ध किया जा सके जिससे सामाजिक समस्याओं को भी रोका जाए। परन्तु क्लीमैन्स तथा एवरार्ड का कहना है कि विशिष्ट समस्याओं को सुलझाने के लिए समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के सफल प्रयोग के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं।[23] सामाजिक समस्याओं का समाजशास्त्रीय शोध उनके समाधान हेतु नहीं होता परन्तु व्यक्ति के व्यवहार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए होता है। उदाहरणतः, अपराध के समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रमुख सकारात्मक योगदान यह दिखाता रहा है कि अपराधी व्यवहार की जैविकीय, मनोवैज्ञानिक तथा भौगोलिक आदि अनेक प्रचलित व्याख्याएँ अमान्य हैं। वारवरा वूटन ने भी कहा है कि सामाजिक व्याधिकी के प्रश्नों पर सुनिश्चित अन्वेषणों का प्रभाव मुख्यतः सभी

[23] Clemance and Evrard, *Transactions of the Fourth World Congress of Sociology*, 1-2.

नये विश्वासों की विश्वसनीयता को कम करना रहा है। समस्या के कारणों के विश्लेपण और उनको दूर करने के उपायों में भी इस बात को समाजशास्त्री महत्त्व देते हैं कि उनसे सामाजिक मूल्यों को हानि न पहुँचे। उदाहरण के लिए, समाजशास्त्री अपराधी व्यवहार के शोध में न केवल विभिन्न प्रकार के अपराधों में भेद स्थापित करते हैं तथा प्रत्येक प्रकार के लिए विशिष्ट कारणों की खोज करते हैं अपितु इस बात का भी विश्लेपण करते हैं कि अपराधियों के सुधार मे कौनसे तरीके अपनाए जायें जिनसे समाज को भी सुरक्षा प्राप्त हो और साथ मे अपराधी के व्यक्तित्व को भी बदला जा सके। इसी प्रकार तलाक सम्बन्धी अध्ययनों का उद्देश्य भी उन कारकों की जानकारी प्राप्त करना है जो दाम्पत्य जीवन के संघर्ष को समाप्त कर सकते हैं तथा जिनका प्रयोग विवाह सम्बन्धी परामर्श तथा अन्य प्रकार से मिलती-जुलती समस्याओं की आवृत्ति कम करने के लिए तथा बिना परिवार को छिन्न-भिन्न किये इन समस्याओं के समाधान को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्री यद्यपि यह समझाने की स्थिति में नही हैं कि कोई सामाजिक समस्या क्यों उत्पन्न हुई परन्तु वे सामाजिक समस्या के कारणों के बारे में कुछ दोपपूर्ण किन्तु लोकप्रिय विश्वासो का निपेध अवश्य करते हैं। इसके अतिरिक्त वे यह बतलाने की स्थिति में अवश्य हैं कि विभिन्न उपचार सम्बन्धी निर्णयों के सीमित दायरे में कौन-सा निर्णय वांछनीय परिणाम उत्पन्न कर सकता है। यद्यपि वे युद्ध को रोक नही सकते हैं परन्तु कम से कम यह समझाने में महत्त्वपूर्ण ढंग से सहायता कर सकते हैं कि तनाव एवं संघर्ष की संकटकालीन स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होती है। बोटोमोर का भी यह कहना है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन सामाजिक समस्याओं के बारे में अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित कर सकता है तथा विशेपतया उन अनुदार भर्त्सनाओं को रोक सकता है जो कि प्रायः समस्याओं को बढा देती हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याओं के समाजशास्त्रीय विवेचन से हमारा अभिप्राय है :

(1) समाजशास्त्रीय विवरण कि सामाजिक समस्याएँ क्यो और कैसे उत्पन्न होती हैं तथा समस्या के एक पहलू का नहीं अपितु सभी पहलुओं का सामान्यता के आधार पर अध्ययन करना।

(2) एक वह दृष्टिकोण जिससे समस्या को बिना वक्रता (distortion) या अतिशयोक्ति (exaggeration) के अतीत व वर्तमान समाज के सन्दर्भ में देखा जा सके।

(3) सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर-सम्बन्ध का सही और निपुण ज्ञान जिसमें सिद्धान्त को वास्तविक उपयोग द्वारा जाँच की जा सके तथा सभी उपयोग की जाने वाली नीतियों का कार्यक्रम वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित हो।

(4) सामाजिक समस्याओं का व्यक्तित्व, समूहों तथा संस्थाओं आदि पर प्रभाव का स्पष्टीकरण।

(5) समस्या के निराकरण के लिए दिए गए सुझावों के परिणाम

(6) वर्तमान सामाजिक समस्याओं के प्रति सचेतना उत्पन्न करना।

2 अपराध और अपराधी
(CRIME AND CRIMINALS)

अपराध का अर्थ

कानूनी दृष्टिकोण से अपराध का अर्थ है वह व्यवहार जो कानून का उल्लंघन है अथवा जो अपराध संहिता (criminal code) द्वारा निषेधित है। माईकिल और ऐडलर के अनुसार अपराध की यह कानूनी परिभाषा न केवल यथार्थ और स्पष्ट है परन्तु यही परिभाषा उचित एवं उपयुक्त है।[1] अपराध की इस परिभाषा के अनुसार अपराधी वह है जिसको न्यायालय द्वारा दोषी प्रमाणित किया जाता है और इस सिद्ध दोष के लिए दण्ड दिया जाता है। यदि किसी व्यक्ति ने कोई अपराध किया है परन्तु न्यायालय में वह अपराध सिद्ध न होने के कारण वरी हो जाता है तब वह कानूनी दृष्टिकोण से अपराधी नहीं कहलायेगा।

समाजशास्त्र में अपराध और अपराधी को एक और ही दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। अपराध को हम व्यावहारिक नियमों के उल्लंघन के दृष्टिकोण से और अपराधी को इन नियमों के उल्लंघन के कारण उसके व्यक्तित्व के विकास, परिवार और समाज के ऊपर प्रभाव के दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। यद्यपि अधिकांश सामाजिक नियमों के उल्लंघन के लिए कानून बना होता है परन्तु ऐसे भी नियम हैं जिनके उल्लंघन के लिए कोई विधि विधान नहीं होता। इस कारण एक *व्यवहार सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध (अथवा नियमों का उल्लंघन) तो हो सकता* है अपितु कानूनी दृष्टिकोण से नहीं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वह व्यवहार जो आदर्शात्मक समूहों के व्यावहारिक नियमों के अनुरूप है वह 'सामान्य' (normal) व्यवहार है और जो इन नियमों का उल्लंघन करता है वह 'समाज-विरोधी' (anti-social) व्यवहार है और यह ही अपराध भी कहलाता है।

यहाँ हमें तीन शब्दों को समझना है: व्यवहार, व्यावहारिक नियम और *आदर्शात्मक समूह। व्यवहार व आचार का अर्थ है व्यक्ति की क्रिया (activity) या* प्रतिक्रिया (reactions) और यह क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ केवल कुछ परिस्थितियों में ही सम्भव हैं। व्यावहारिक नियम आदर्शमूलक समूहों के वे नियम हैं जो विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। क्योंकि व्यक्तित्व एक

[1] Michael, J., and Adler, M. J., *Crime, Law and Social Science*, Harcourt, Brace, N. York, 1933, 18.

सामाजिक उपज (social product) है इसलिए व्यक्ति का व्यवहार समाज द्वारा निर्धारित होना आवश्यक है। इसी कारण समाज ने अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए कुछ नियम बनाये हैं। समाज मे बहुत से समूह हैं, जैसे परिवार, स्कूल, पड़ोस आदि और हर व्यक्ति यद्यपि इन सभी समूहों का नही किन्तु इनमें से अधिकांश समूहों का सदस्य होता है क्योंकि वे उसके शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आदि आवश्यकताओ को पूरा करते हैं। अधिकतर समूह एक प्रकार से आदर्शमूलक (normative) होते हैं क्योंकि उनमें वह व्यावहारिक नियम पैदा होते हैं जो उन परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं जो उन समूहो के विशेष कार्यों के कारण उत्पन्न होती हैं। समूह के सदस्य होने के नाते व्यक्ति को उसके नियमों का पालन करना पड़ता है। समाज में जैसे यह अलग-अलग नियमों वाले समूह बढते हैं, व्यक्ति को विभिन्न नियमों और कार्यों का सामना करना पड़ता है। अतएव, वह केवल उन समूहों के नियमों का ही पालन करता है जिनसे वह अपने को घनिष्टतापूर्वक समीकृत करता है और अन्य समूहों के नियमो के पालन से विचलित होता है। यह विचलित व्यवहार ही अपराध कहलाता है। परन्तु नियमो का हर विचलन या उल्लंघन अपराध नहीं होता। क्लिनार्ड ने तीन प्रकार का सामाजिक नियमों का विचलन बतलाया है[2]—

1. वह विचलन जिसको सहन किया जाता है (tolerated deviation)।

2. वह विचलन जो साधारण घृणा (mild disapproval) व इनका विरोध उत्पन्न करता है।

3. वह विचलन जो अत्यधिक घृणा व प्रबल विरोध (strong disapproval) पैदा करता है।

इन तीनों में से क्लिनार्ड तीसरे प्रकार के विचलन को ही अपराध मानता है। उदाहरण के लिये भारत में जाति प्रथा को लीजिये। जाति प्रथा ने अछूतों से सामाजिक दूरी रखने का एक नियम निर्धारित किया है। गांधी जी ने न केवल इस नियम का स्वयं उल्लंघन किया पर अन्य लोगों को भी इसके उल्लघन के लिए प्रेरित किया; परन्तु फिर भी हम गांधीजी को अपराधी नही मानते और न उनके कार्य को अपराध कहते हैं क्योंकि यह उल्लंघन समाज के हित में था। वह विचलन जो समाज के हितों के लिये हानिकारक है और बहुत अधिक घृणा पैदा करता है, वह ही सामाजिक दृष्टिकोण से अपराध माना जाता है। क्योंकि हर समाज के हित और नियम अलग-अलग होते हैं इस कारण एक व्यवहार एक समाज में अपराध हो सकता है, पर दूसरे में नही। फिर, क्योंकि समाज के हित भी समय के साथ-साथ बदलते रहते हैं इस कारण एक ही समाज में एक व्यवहार एक समय में अपराध हो सकता है किन्तु दूसरे मे नहीं। इसलिये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से क्लिनार्ड ने

[2] Clinard, Marshall B., *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, and Winston Inc., N. York, 1957, 22.

अपराध की एक व्यापक परिभाषा दी है कि अपराध सामाजिक नियमों का उल्लंघन है।[3] अतः जब अपराध का कानूनी दृष्टिकोण न्यायालय द्वारा दोष-प्रमाण और दण्ड पर बल देता है, सामाजिक दृष्टिकोण इनको आवश्यक नहीं समझता।

इसी आधार पर समाजशास्त्रियों द्वारा अपराध की विभिन्न परिभाषाएँ भी दी गयी हैं। काल्डवैल के अनुसार अपराध उन मूल्यों के संग्रह का उल्लंघन है जो निश्चित स्थान पर किसी एक विशेष समय में एक संगठित समाज को मान्य हैं।[4] रेडक्लिफ ब्राउन के शब्दों में अपराध उस आचरण (usage) का उल्लंघन है जिसके लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है।[5] माऊरेर का कहना है कि अपराध एक समाज-विरोधी कार्य है।[6] अनुसन्धान-सम्बन्धी (empirical) अध्ययनों के दृष्टिकोण से हम अपराध की कानूनी परिभाषा को अधिक मान्यता देते हैं। अपराधशास्त्र में जितने भी अनुसन्धान होते हैं उन सबका आधार अपराध की कानूनी परिभाषा ही होता है।

हाल जेरोम ने अपराध के कुछ वैलक्षण्य (differentia) बताये हैं।[7] उसका कहना है कि किसी भी व्यवहार को तब तक अपराध नही मानना चाहिए जब तक उसमें यह सभी लक्षण न हों। इनमे से पाँच मुख्य लक्षण ये हैं—(1) हानिकारक कार्य; (2) इच्छानुरूप या संकल्पित कार्य; (3) कानूनी प्रतिबन्ध; (4) अपराधी उद्देश्य; (5) कानून द्वारा निर्धारित दण्ड। इन्ही भेदक लक्षणो के आधार पर अपराध की हम यह व्यापक परिभाषा दे सकते हैं : वह ऐच्छिक कार्य जो सामाजिक हितों के लिये हानिकारक है, जिसमें अपराधी उद्देश्य है, जो कानूनी दृष्टि से प्रतिबन्धित है और जिसके लिये कानून दण्ड निर्धारित करता है।[8]

कुछ व्यक्ति अपराध, पाप, अनैतिकता और व्यक्तिगत क्षति (tort) में अन्तर नहीं मानते जबकि ये अलग-अलग शब्द हैं। अपराध कानून का उल्लंघन (कानूनी दृष्टिकोण) या सामाजिक नियमो का विचलन (सामाजिक दृष्टिकोण) है; पाप वह कार्य है जो धार्मिक आदेशों के विरुद्ध है अथवा जो दैवीय अधिकार का उल्लंघन है। झूठ बोलना, किसी अमीर व्यक्ति द्वारा किसी निर्धन की अत्यन्त आवश्यक समय में

---

[3] *Ibid.*, 28.

[4] 'Crime is the violation of set of values acceptable to organised society at a certain time and in a given place.' Caldwell, Robert G., *Criminology*, Ronald Press Co., N. York, 1956, 4.

[5] 'A violation of usage which gives rise to the exercise of penal sanction.' Radcliffe Brown, quoted by Sutherland, Edvin, *Principles of Criminology*, Times of India Press, Bombay, 1965, 15.

[6] Mowrer, E. R., *Disorganisation—Personal and Social*, Lippincott Co., Philadelphia, 1942.

[7] Hall Jerome, *General Principles of Criminal Law*, 8–18.

[8] 'Legally forbidden and intentional action which has harmful impact on social interests, which has criminal intent and which has legally prescribed punishment for it.'

सहायता न करना तथा सन्तान द्वारा माता-पिता का अनादर करना पाप हो सकते है किन्तु अपराध नहीं। एक कार्य पाप हो सकता है पर अपराध नहीं, परन्तु एक ही कार्य पाप व अपराध दोनों भी हो सकते हैं, जैसे विश्वासघात करना।

अनैतिकता वह कार्य है जो अन्तरात्मा या विवेक के विरुद्ध है। यह वह अनुचित कार्य है जिसमें करने वाले को ही कष्ट सहन करना पड़ता है। कालेज से घर जाते समय यदि कोई विद्यार्थी रास्ते में किसी मोटर द्वारा घायल व्यक्ति को सहायता करने के बजाय सीटी बजाता घर चला जाये तो उसका कार्य अपराध नही कहलायेगा यद्यपि उसकी आत्मा उसके लिए उसे कोसती रहेगी।

दुराचार (vice) में जुआ, मदिरापान, वैश्यागमन आदि जैसे व्यवहार आते हैं। यह अपराध हो भी सकते हैं अथवा नहीं भी। यदि कोई व्यक्ति अपने घर में शराब पीता है और किसी प्रकार का जनोपद्रव पैदा नहीं करता तब वह अपराध नही होगा चाहे वह दुराचार क्यों न हो; पर अगर यही व्यक्ति किसी सार्वजनिक स्थान मे शराब पीकर उपद्रव पैदा करता है तब वह अपराध करता है। इसी प्रकार किसी जुआघर में जुआ खेलना अपराध होगा परन्तु घर मे ताश खेलना नहीं।

वैयक्तिक अपकार (tort) व्यक्ति के हितों को हानि पहुँचाता है जबकि अपराध समाज के हितों को नुकसान पहुँचाता है। दूसरे शब्दो में अपराध एक सार्वजनिक अनुचित कार्य है और अपकार एक वैयक्तिक दोषपूर्ण कार्य है। वैयक्तिक अपकार में जब तक क्षतिग्रस्त व्यक्ति हानि पहुँचाने वाले के विरुद्ध शिकायत नहीं करता, राज्य उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नही करता परन्तु अपराध मे किसी अभियोग के बिना भी नुकसान पहुँचाने वाले के प्रति राज्य कार्यवाही करता है। साधारण तौर पर अपराध और वैयक्तिक अपकार में कोई विशेष सीमा नही खींची जा सकती। मान लीजिए एक व्यक्ति 'क' एक अन्य व्यक्ति 'ख' के घर में अनधिकार घुस जाता है तब 'क' का कार्य 'ख' के विरुद्ध वैयक्तिक अपकार कहलायेगा। पर यदि 'क' चोरी करने की इच्छा से 'ख' के घर घुसता है तब उसका कार्य अपराध कहलायेगा। इस प्रकार अपराध और वैयक्तिक अपकार पारस्परिक रूप से भिन्न नही हैं।

अपराधों का वर्गीकरण

अपराधो का वर्गीकरण विद्वानों ने अलग-अलग आधार पर किया है। सदरलैण्ड ने गम्भीरता के आधार पर दो प्रकार के अपराध बताये हैं: जघन्य या गम्भीर अपराध और साधारण अपराध।[*] जघन्य अपराध जैसे खून, डकैती आदि के लिए मृत्यु का दण्ड अथवा एक वर्ष से अधिक कारावास दिया जाता है और साधारण अपराध जैसे चोरी, मारपीट आदि के लिए ~~साधारण अर्थदण्ड~~ जैसे कुछ समय

[*] Sutherland, E. H., *op. cit.*, 16

के लिये कारावास, जुर्माना आदि किया जाता है। परन्तु जेम्स स्टीफेन[10] और कुछ अन्य विचारकों के अनुसार यह वर्गीकरण अधिक उपयोगी नहीं है। इसका पहला कारण यह है कि एक समाज में एक अपराध जघन्य हो सकता है परन्तु वही अपराध दूसरे समाज में साधारण माना जा सकता है। इसी प्रकार एक ही समाज में एक अपराध एक क्षेत्र में जघन्य हो सकता है और दूसरे क्षेत्र में साधारण अथवा एक काल मे साधारण और दूसरे काल मे जघन्य। दूसरा कारण यह है कि एक अपराध जिसे समाज ने साधारण माना है वह वास्तव मे जघन्य हो सकता है, उदाहरणतया खाने में विष मिलाना इतना अधिक गम्भीर अपराध नही माना जाता जितना किसी की हत्या करना यद्यपि विष मिले हुए खाने से बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु हो सकती है जबकि हत्या द्वारा एक ही व्यक्ति को मारा गया हो।

अपराधियो के सुधार के दृष्टिकोण से भी यह वर्गीकरण अधिक उपयोगी नही माना जाता क्योंकि सुधार का आधार अपराध की गम्भीरता नहीं है अपितु अपराधी का व्यक्तित्व और परिस्थिति की प्रकृति है। परन्तु इन तर्कों के बाद भी लगभग हर समाज में अपराध की गम्भीरता अपराधो के वर्गीकरण का सदैव एक मुख्य आधार रही है।

बोंगर ने प्रेरक उद्देश्य (motive) के आधार पर चार प्रकार के अपराध बताये है—(क) आर्थिक अपराध, जिसमे धन-प्राप्ति अपराध का मुख्य उद्देश्य है। (ख) यौन-सम्बन्धी अपराध, जिसमे यौन-सम्बन्धों की तृप्ति ही अपराध का मुख्य कारण है। (ग) राजनीतिक अपराध, जिसमें राजनीतिक क्षेत्र मे लाभ के कारण अपराध किया जाता है। (घ) विविध अपराध, जिसमें बदले की भावना व प्रतिशोध अपराध का मुख्य आधार होती है।[11]

परन्तु यह वर्गीकरण भी अनुपयुक्त माना जाता है क्योकि यह आवश्यक नही है कि कोई अपराध केवल एक ही उद्देश्य से किया जाये। किसी की हत्या करने में एक साथ आर्थिक, लिंगीय और राजनीतिक उद्देश्य तथा बदले की भावना भी हो सकती है। ऐसे अपराधो को बोगर द्वारा दिये गये चार प्रकार के अपराधों मे से किसी एक में रखना सम्भव नही है।

साख्यिकीय (statistical) आधार पर अपराधों को निम्न चार समूहों में रखा गया है—(क) व्यक्ति के विरुद्ध अपराध, जैसे हत्या, मारपीट आदि; (ख) सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध, जैसे चोरी, डाका आदि; (ग) सार्वजनिक न्याय और सत्ता के विरुद्ध अपराध, जैसे गबन, धोखा आदि; तथा (घ) सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार (decency) और सदाचार के विरुद्ध अपराध, जैसे शराब पीकर जनोपद्रव मचाना, अव्यवस्थित व्यवहार आदि।

---

[10] Stephen, James F., *A History of the Criminal Law of England*, Macmillan and Co., London, 1883, 321.

[11] Bonger, W. A., *Criminality and Economic Conditions*, Little Brown, Boston, 1916, 536-37.

लेमर्ट ने दो प्रकार के अपराध बताये हैं[12]—(1) परिस्थिति सम्बन्धी अपराध और (2) सुव्यवस्थित अपराध। परिस्थिति सम्बन्धी अपराध वह अपराध है जो किसी परिस्थिति से बाध्य होकर तथा प्रतिकूलता के कारण किया जाता है। सुव्यवस्थित अपराध वह अपराध है जिसका हर पहलू पहले ही से निश्चित होता है, जैसे किसकी हत्या करनी है, कब करनी है, कहाँ करनी है, कैसे करनी है, इत्यादि।

क्लिनार्ड और क्वीने (Clinard & Quinney) ने अपराध के प्रकार पद्धति के निर्माण में अपराधी व्यवहार की पद्धतियों को आधार बनाया है।[13] पद्धति से उनका अर्थ दिये गये प्रकार के लक्षणों में उस सम्बन्ध का पाया जाना है जिससे पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर (constant) रहते हैं। इस आधार पर उन्होंने आठ प्रकार के अपराध माने है: हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध, सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध, व्यावसायिक अपराध, राजनीतिक अपराध, सार्वजनिक व्यवस्था (public order) सम्बन्धी अपराध, परम्परागत (conventional) अपराध, सगठित अपराध, तथा पेशेवर अपराध।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त अपराधों के दो अन्य प्रकार भी दिये जा सकते है—(1) संगठित और असंगठित अपराध, तथा (2) वैयक्तिक और सामूहिक अपराध। संगठित अपराध वह अपराध है जिसमें अधिक अपराधियों का पारस्परिक सहयोग पाया जाता है अर्थात् जिसमें अपराध-कार्य एक सामूहिक प्रयास है। इसमें अपराध का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ होता है, अधिकार का केन्द्रीकरण होता है, विभिन्न कार्यों के विशेषीकरण और कर्तव्यों के विभागीकरण के लिए श्रम-विभाजन पाया जाता है, अपराधी उपक्रमों मे एकाधिकार प्राप्त करने के लिए व्यापक और एकाधिकारात्मक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, सदस्यो के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए नियम और कार्य करने सम्बन्धी तरीके निर्धारित किये जाते है, समूह के अपराधी कार्यों के लिए मूल धन (capital) जुटाने हेतु एक कोप स्थापित किया जाता है, तथा संकट (risk) को कम करने के लिए और अपराधी उपक्रमों की सफलता के लिए निश्चित योजना बनायी जाती है। काल्डवैल ने इस संगठित अपराध के तीन मुख्य प्रकार बताये हैं[14]—

1. **संगठित (अपराधी) गिरोह**—इस गिरोह द्वारा बड़े पैमाने पर चोरी, डकैती, अपहरण, महसूली माल को चोरी से मँगाना जैसे अपराध किये जाते हैं। यह गिरोह सदैव हिंसक तरीके ही प्रयोग मे लाते हैं।

2. **दस्युता व लूटपाट (Racketeering)**—इसमे डरा धमका कर अथवा हिंसात्मक तरीकों से संगठित अपराधी गिरोह द्वारा वैध या अवैध धन्धे वालों से

[12] Lemert, Edwin M., *Social Problems*, 1958, p. 144.

[13] Clinard & Quinney, 'Criminal behaviour systems a typology', Holt, Rinehart & Winston Inc., N. York. 1967, 14–18.

[14] Caldwell, *op. cit.*, 74.

रुपया ऐंठा जाता है।

3. अपराधी अभिषद् व सिंडीकेट (Syndicate)—इसमें संगठित अपराधी गिरोह द्वारा अवैध माल या सेवाएँ उपलब्ध की जाती हैं। यह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति बिना हिंसा के प्राप्त करते हैं।

असंगठित अपराध संगठित अपराध के बिल्कुल विपरीत होता है। वैयक्तिक अपराध एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है और सामूहिक अपराध एक से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह द्वारा किया जाता है।

इन विभिन्न प्रकार के अपराधो में से समाजशास्त्र में अपराधी के सुधार के दृष्टिकोण से लेमर्ट द्वारा दिया गया वर्गीकरण अधिक उपयोगी पाया गया है।

भारत मे कानूनी दृष्टिकोण से अपराध को तीन समूहो में बाँटा गया है—

(1) वे अपराध जिनके लिए भारतीय दण्ड विधान (Indian Penal Code) द्वारा दण्ड निर्धारित किया गया है; इनको फिर बहुत से उप-समूहों मे बाँटा गया है, जैसे जीवन-सम्बन्धी अपराध, सम्पत्ति-सम्बन्धी अपराध, राज्य के विरुद्ध अपराध, सार्वजनिक-शान्ति सम्बन्धी अपराध इत्यादि।

(2) वे अपराध जिनके लिए दण्ड प्रक्रिया संहिता (Criminal Procedure Code) द्वारा दण्ड निर्धारित किया गया है। इनको दो उप-समूहों मे बाँटा गया है—(अ) शान्ति भंग करने सम्बन्धी अपराध, तथा (ब) दुर्व्यवहार सम्बन्धी अपराध।

(3) वे अपराध जिनके लिए विशेष और स्थानीय कानूनो द्वारा दण्ड निर्धारित किया गया है।

यह वर्गीकरण अपराधी कानूनों को नियमबद्ध करने हेतु उपयोगी हो सकता है परन्तु यह सैद्धान्तिक विश्लेषण के लिए अधिक सहायक नही है।

अपराधियों का वर्गीकरण

समाजशास्त्र मे अपराध का वर्गीकरण इतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना अपराधियों का, क्योकि समाजशास्त्रियों का अध्ययन-केन्द्र अपराध न होकर अपराधी ही रहा है। अपराधों की तरह अपराधियों का वर्गीकरण भी कई विद्वान् समाजशास्त्रियो द्वारा अलग-अलग किया गया है।

सदरलैण्ड—सदरलैण्ड ने दो प्रकार के अपराधी बताये हैं—(1) साधारण या निम्न श्रेणी के अपराधी, तथा (2) सफेद-कालर या श्वेतवस्त्रधारी अपराधी। सदरलैण्ड के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराधी (white-collar criminal) वह अपराधी है जो उच्च सामाजिक व आर्थिक श्रेणी का सदस्य है और जो अपने व्यवसाय-सम्बन्धी कार्यों को करते हुए अपराध करता है।[15] यहाँ 'उच्च सामाजिक व आर्थिक स्तर' को केवल धन के आधार पर ही नही परन्तु समाज में प्रतिष्ठा के

[15] Sutherland, E. H., 'Is white-collar crime crime?', *American Sociological Review*, April 1945, 132–39.

आधार पर भी परिभाषित किया गया है। इन अपराधियों का पता साधारण रूप से नही लग पाता। बार्न्स और टीटर्स के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराधी वे हैं जो सन्देहपूर्ण आचार द्वारा व्यापारिक कार्य करते हैं।[16] क्लिनार्ड के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराध उस कानून का उल्लंघन है जो व्यापारी, पेशेवर लोग और राजनीतिज्ञों आदि जैसे समूहों द्वारा अपने 'व्यवसाय' के सम्बन्ध में किया जाता है।[17] श्वेतवस्त्रधारी अपराध के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—सार्वजनिक पदाधिकारी द्वारा रिश्वत लेना, व्यापारिक लेन-देन में रिश्वत, गबन, प्रन्यास फण्ड (trust fund) का दुरुपयोग, कपटी दिवालियापन (dishonest bankruptcies), तथा विज्ञापन अथवा बिक्री में असत्य तथ्य देना।

सदरलैण्ड के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराध से न केवल अन्य अपराधों की अपेक्षा समाज को अधिक आर्थिक हानि होती है परन्तु इससे अविश्वास की भावना बढ़ती है, सार्वजनिक नैतिकता समाप्त होती है तथा सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।

काल्डवैल, टैपन, जार्ज वोल्ड और कुछ अन्य विद्वानों ने सदरलैण्ड द्वारा दिये गये श्वेतवस्त्रधारी अपराध की आलोचना की है। काल्डवैल का मुख्य तर्क यह है कि सदरलैण्ड ने कोई निश्चित लक्षण (criteria) नही बताये हैं जिनके आधार पर अपराधी के वर्ग को मालूम किया जा सके और न ही उसने निश्चित अपराधी-कार्य बताये है जिनके करने वालों को श्वेतवस्त्रधारी अपराधी माना जा सके।[18] जार्ज वोल्ड का कहना है कि इस (श्वेतवस्त्रधारी) अपराधी की धारणा इतनी अस्पष्ट है कि किसी अनुसन्धान के लिए वह सर्वथा निरर्थक है।[19] टैपन का विचार है कि जब तक विद्वानों में इस धारणा के प्रति कोई सहमति पायी जाये, इसे कोई मान्यता ही नही देनी चाहिए क्योंकि अस्पष्ट धारणाएँ कानूनी व्यवस्था और उस समाजशास्त्र के लिए जो वैषयिक (objective) होने का प्रयत्न कर रहा है यह एक कलक है।[20]

अलैक्जेण्डर और स्टाब—अलैक्जेण्डर और स्टाब ने दो प्रकार के अपराधी बताये हैं[21]—(अ) आकस्मिक, और (ब) दीर्घ स्थायी (chronic)। आकस्मिक

---

[16] Teeters, N. K., and Barnes, H. E., *New Horizons in Criminology*, Prentice Hall, N. York, 1959 (Third edition), 38-39.

[17] 'A violation of law committed primarily by groups such as businessmen, professional men and politicians in connection with their occupations.' Clinard, Marshall B., *The Black Market*, Rinehart and Co., N. York, 1955, 29-30.

[18] Caldwell, R. G., *op. cit.*, 67-69.

[19] Vold, George, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, N. York, 1958, 250.

[20] 'Vague concepts are blight upon either a legal system or a system of Sociology that strives to be objective.' Tappan, *American Sociological Review*, Feb. 1947, 98.

[21] Alexander Franz and Hugo Staub, '*The Criminal, the Judge Public*', trans. Gregory Zilboorg, Macmillan Co., N. York, 1931,

अपराधी वे है जो अलौकिक और अनोखी परिस्थितियों के कारण अपराध कर बैठते हैं; दीर्घकालिक अपराधी वे हैं जिनका अपराध करना एक रोग-सा बन जाता है। इन दीर्घस्थायी अपराधियों को तीन उप-समूहों में विभाजित किया गया है—(अ) सामान्य, (ब) मानसिक दोष से पीड़ित तथा न्यूराटिक और (स) शारीरिक दोष से पीड़ित तथा पैथालाजीकल। सामान्य अपराधी के अपराध का कारण सामाजिक है। इसका अपराध अपराधियों से घनिष्टता तथा परिस्थितियों के कारण होता है। न्यूराटिक अपराधी के अपराध का कारण मनोवैज्ञानिक है। यह अपराधी भावनाओं और व्यक्तित्व-सम्बन्धी संघर्षों के कारण अपराध करता है। पैथालाजीकल अपराधी के अपराध का कारण शारीरिक है। वह शारीरिक अंगों की दशा अथवा शारीरिक दोष के कारण अपराध करता है।

लोम्ब्रोज़ो—लोम्ब्रोज़ो ने चार प्रकार के अपराधी बताये है[22]—(क) जन्मजात अपराधी, (ख) कामातुर (by passion) अपराधी, (ग) पागल अपराधी, और (घ) आकस्मिक अपराधी। लोम्ब्रोज़ो के अनुसार जन्मजात अपराधी को कुछ विशेष शारीरिक लक्षणों से पहचाना जा सकता है, जैसे लम्बे कान, सिर का असाधारण आकार, चपटी नाक, उथला होंठ, बहुत बड़ी या छोटी और चौड़ी ठुड्डी, लम्बी बाहें, अस्त-व्यस्त मुँह आदि। जिस व्यक्ति में इनमें से पाँच या अधिक शारीरिक दोष होंगे वह लोम्ब्रोज़ो के अनुसार अवश्य अपराधी होगा। आजकल के समाजशास्त्री जन्मजात अपराधी की धारणा को बिल्कुल नही मानते। उनका कहना है कि कोई अपराधी केवल जन्म से वंशपरम्परागत पाये गये शारीरिक दोषो के कारण अपराधी नही हो सकता क्योंकि पर्यावरण का भी अपराध में महत्त्व है।

आकस्मिक अपराधी के लोम्ब्रोज़ो ने फिर तीन उप-प्रकार बताये हैं—(क) मिथ्या (pseudo) अपराधी, (ख) अभ्यस्त अपराधी, और (ग) क्रिमिनलायड अपराधी। मिथ्या अपराधी का अपराध किन्हीं अनोखी परिस्थितियो, जैसे अपनी प्रतिष्ठा बचाने आदि के कारण होता है। यह अपराधी खतरनाक नही होता। अभ्यस्त अपराधी यद्यपि प्रतिकूल पर्यावरण के कारण अपराध करने का अभ्यस्त हो जाता है, इसमे पैतृक अपराधी लक्षण नही होते। क्रिमिनलायड (criminaloid) अपराधी में विघटन के चिह्न पाये जाते हैं। इसमे कुछ ईमानदार व्यक्ति के और कुछ जन्मजात अपराधी के लक्षण होते हैं।

लिन्डस्मिथ—लिन्डस्मिथ के अनुसार अपराधी दो प्रकार के होते हैं[23]—(1) सामाजिक, और (2) व्यक्तिवादीय (individualised)। व्यक्तिवादीय अपराधी अकेला ही अपराध करता है तथा वह अपराध से कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नही करता। इसका अपराध किसी शिक्षण विधि के कारण नही किन्तु परिस्थिति के कारण होता

[22] Lombroso Cesare, *Crime, its Causes and Remedies*, Little Brown and Co., Boston, 1911. Also see George Vold, *op. cit.*, 52.

[23] Lindesmith, Alfred R. and Dunham Warren, H., *Social Forces*, March 1941, 307-14.

है। सामाजिक अपराधी में निम्न लक्षण पाये जाते है—(क) उसका अपराधी व्यवहार सामाजिक वातावरण के कारण होता है। (ख) साहस, वीरता और चतुराई से अपराध करने से उसे किसी अल्पसंख्यक समूह मे प्रतिष्ठा मिलती है। (ग) अपराधियों के सम्पर्क से वह किसी शिक्षा-विधि द्वारा अपराध सीखता है। (घ) वह अन्य व्यक्तियों के साथ अपनी इच्छा से तथा जान-बूझकर अपराध करता है।

रूथ कैवन—कैवन ने छः प्रकार के अपराधी बताये है[24]—(1) पेशेवर अपराधी; (2) वे अपराधी जो व्यवस्थित अपराध करते हैं; (3) वे अपराधी जो अनपराधी समूहों में रहते हैं; (4) अभ्यस्त अपराधी; (5) वे अपराधी जो बुरा चाहने वाले नहीं होते, ये बड़े समाज के नियमों का पालन तो करते हैं परन्तु कुछ अवसरों पर छोटे समूहों के नियमों का उल्लघन करते है; (6) मानसिक रूप से विघटित अपराधी। इन अपराधियों का अपराध उनकी किसी मानसिक आवश्यकता की पूर्ति करता है।

ऊपर दिये हुए छः प्रकार के अपराधियो में से पेशेवर अपराधी का विस्तृत विश्लेषण आवश्यक है। किसी कार्य को पेशेवर बनाने के लिए तीन तत्त्व मुख्य होते है—प्रशिक्षण, अभ्यास और एक विशेष धारणा। पेशेवर अपराधियो मे यह तीनों लक्षण पाये जाते है। वे अपराध को एक व्यवसाय समझते हैं और अपराध ही उनकी आय का मुख्य साधन होता है। वे अपने आपको रूढ़िगत समाज का सदस्य कम और अपराधी समाज का सदस्य अधिक मानते हैं। अपराध उनका एक रहने का तरीका बन जाता है और इसी पर उनके जीवन के प्रति विभिन्न धारणाओं की रचना होती हैं। सेंध लगाने वाला चोर, लुटेरा, डाकू, पाकेटमार आदि जो इन अपराधो को आजीविका का मुख्य साधन समझते है, पेशेवर अपराधियों के उदाहरण है। इन सबके अपराध में एक शिक्षण-विधि पायी जाती है जिससे ये उन समूहों से जो समाज के नियमों का पालन करते हैं अपने आपको धीरे-धीरे पृथक् करके अपराधी समूहो के साथ एकीकृत करते हैं। रूढिवादी समूहों से अलग होकर अपराधी समूहों के सदस्य बन जाने की प्रक्रिया शनैः शनैः होती है और इसी प्रक्रिया में वे जीवन के प्रति नये दार्शनिक विचारों की रचना भी करते हैं; जैसे, मोटरकार दो स्थानों की दूरी कम करने के लिए नही अपितु अपराध के बाद भाग निकलने के लिए बनायी गयी है, मकान के दरवाजे और खिड़कियाँ हवा के लिए नही परन्तु घर मे छुपकर घुसने के लिए है, बटुआ इसलिए बना है जिससे व्यक्ति सभी चीजें एक ही जगह रखे ताकि पाकेटमार को उनके उड़ाने में आसानी हो। बार्न्स और टीटर्स ने इन पेशेवर अपराधियों के दो प्रकार बताये हैं[25]—एक वह जो परिस्थितियों के कारण नही परन्तु अपने व्यक्तित्व के दोषो के कारण पेशेवर अपराधी बन जाते हैं और दूसरे

[24] Cavan, Ruth S, *Criminology*, Thomas, Y. Crowell, N. York, 1948, 20-32.

[25] Barnes and Teeters, *op. cit.*, 53-55.

वह जो परिस्थितियों के कारण असामाजिक विचार और धारणाओं की रचना करके अपराधी जीवन को अपनाते है।

कैवन ने उन अपराधियों को जो अनपराधी समूहों में रहते हैं, चार उप-समूहों मे विभाजित किया है[26]—(क) सामयिक (casual), (ख) आकस्मिक (occasional), (ग) प्रासंगिक (episodic) अपराधी जो भावनात्मक तनाव की स्थिति में अधिकतर गम्भीर अपराध करते हैं और (घ) श्वेतवस्त्रधारी अपराधी (white-collar criminal)।

कैवन ने छः प्रकार के अपराधियों के वर्गीकरण में तीन मापदण्डों को सम्मिलित किया है—(1) किये गये अपराधों की संख्या, (2) किये गये अपराधों की प्रकृति, और (3) अपराधी का व्यक्तित्व। इस वर्गीकरण में सबसे बड़ा दोष यह है कि एक प्रकार के अपराधी को दूसरे प्रकार के अपराधी से अलग नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, पेशेवर अपराधी और व्यवस्थित अपराधी के बीच इस कारण रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि कभी-कभी पेशेवर अपराधी भी व्यवस्थित अपराध करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार सामयिक और आकस्मिक अपराधियों को भी एक-से अलग करना आसान नहीं है।

डेविड अब्राह्मसेन—अब्राह्मसेन ने अपराधियों के वर्गीकरण में तीन बातों को आधार बनाया है—(1) अपराधी की पर्यावरण सम्बन्धी पृष्ठभूमि, (2) तत्कालीन परिस्थिति, और (3) व्यक्तित्व। इस वर्गीकरण मे समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर बल दिया गया है। इन तत्त्वों को चित्रित करने वाले तीन कारक हैं—(क) संख्या एवं बारम्बारता (frequency) अर्थात् अपराधी ने पहला ही अपराध किया है या वह अभ्यस्त अपराधी है। (ख) समय का विस्तार (time-factor) अर्थात् दो अपराधो के बीच का समय। (ग) अपराध की गम्भीरता (seriousness)। इस आधार पर अब्राह्मसेन ने मुख्यतः दो प्रकार के अपराधी बताये है[27]—(1) क्षणिक (momentary) अपराधी जो असामाजिक मनोवेगों (impulses) के कारण प्रलोभी परिस्थितियों मे एक या दो वार अपराध करता है, और (2) दीर्घ-स्थायी (chronic) अपराधी जो तीन या उससे अधिक बार अपराध करता है। क्षणिक अपराधी के उसने फिर तीन उप-प्रकार बताये हैं—(क) परिस्थिति सम्बन्धी अपराधी, (ख) सम्पर्क सम्बन्धी अपराधी, और (ग) आकस्मिक अपराधी। इसी प्रकार दीर्घ-स्थायी अपराधियों के भी उसने तीन उप-प्रकार बताये हैं—(क) नाडी रोग से पीडित (neurotic) अपराधी, (ख) मानसिक रोग से पीड़ित (psychotic) अपराधी, तथा (ग) मनोविकृत (psychopathic) अपराधी।

विभिन्न विद्वानो द्वारा ऊपर दिये गये वर्गीकरणों को एकत्रित कर हम कह सकते हैं कि मुख्यतः पाँच प्रकार के अपराधी होते हैं—(1) प्रथम अपराधी,

---

[26] Cavan, Ruth, *op cit.*, 27.

[27] Abrahamsen, David, *Psychology of Crime*, John Wiley and Sons, N. York, 1960, 123.

(2) आकस्मिक अपराधी, (3) पेशेवर अपराधी, (4) अभ्यस्त अपराधी और (5) श्वेतवस्त्रधारी अपराधी।

अपराध के कारणों के सिद्धान्त

अपराध के कारणों को समझाने के लिए बहुत से विद्वानों ने विभिन्न व्याख्याएँ और सिद्धान्त दिये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थ भाग के अन्त में सर्वप्रथम लोम्ब्रोज़ो, फेरी और गारोफैला ने अपराध का वैज्ञानिक विवरण दिया था। इससे पहले कुछ विचारकों ने प्रेतवादी और क्लासिकल सिद्धान्तों के आधार पर अपराध को समझाने का प्रयत्न किया था। लोम्ब्रोज़ो के बाद ही जैविकीय, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, भौगोलिक, समाजवादी, समाजशास्त्रीय तथा बहुकारकवादी सिद्धान्तों की रचना हुई। इन सबका हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

प्रेतवादी सिद्धान्त (Demonological theory)—अपराधी व्यवहार को समझाने का एक पुराना सिद्धान्त प्रेतवादी सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराध का मुख्य कारण है—'शैतान द्वारा भड़काया जाना' (instigation of devil) तथा 'प्रेतात्माओं का प्रभाव' (possession by evil spirits)। इस कारण अपराध को रोकने व अपराधी के सुधार के लिए प्रेतात्माओं को प्रसन्न करना अथवा ऐसा दण्ड देना जिससे अपराधी को प्रेतात्माओं से मुक्त किया जा सके, आवश्यक है। यदि इन विधियों द्वारा अपराधी को सुधारा नहीं जा सकता तब उसे मार देना चाहिए जिससे उसके परिवार और समुदाय को उसके और अधिक अत्याचारों (outrages) से रोका जा सके तथा उसकी मृत्यु से देवता और प्रेतात्मा को भी सन्तुष्ट व शान्त किया जा सके। यद्यपि प्रेतवाद में बहुत से सांस्कृतिक समूह अब भी विश्वास करते हैं परन्तु कोई भी अपराधशास्त्री इसे अपराध को समझाने का आधार स्वीकार नहीं करता। वैज्ञानिक युग में इस अवैज्ञानिक मान्यता को (कि प्रेतात्माओं के प्रभाव के कारण व्यक्ति अपराध करते हैं) कोई नहीं मान सकता। अठारहवीं शताब्दी में ही, जब अपराधी व्यवहार के क्लासिकल सिद्धान्त की रचना हुई, इस प्रेतवादी सिद्धान्त की मान्यता समाप्त हो गयी।

क्लासिकल सिद्धान्त—(Classical theory)—इस सिद्धान्त की रचना इटली के विद्वान् बैकेरिया ने 1764 में की थी। इस सिद्धान्त का आधार उस समय प्रचलित 'स्वतन्त्र इच्छा' का विचार था जिसके अनुसार यह माना जाता था कि यद्यपि मूल प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की इच्छा को प्रभावित कर सकती हैं परन्तु उसके असामान्य कार्यों में उसकी इच्छा स्वतन्त्र है और उसके व्यवहार को नियन्त्रित करने का प्रमुख साधन 'भय' है—विशेषकर पीड़ा या दुःख का भय। इस कारण उसकी इच्छा को प्रभावित करने तथा व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए 'भय उत्पन्न' करने का तरीका स्वीकार किया गया। बैकेरिया ने भी इस विचार को म. मनुष्य के व्यवहार का आधार 'सुख-दुःख की भावना' माना। उसके अनुसार

अपने जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाने हेतु किसी क्रिया को करने से पहले ही उस क्रिया से प्राप्त होने वाले सुख और दुःख की माप कर लेता है और वही कार्य करता है जो उसे अधिक सुख देता है चाहे वह कार्य अपराध ही क्यों न हो। बैकेरिया ने उस समय मान्यता प्राप्त रूसो (Rousseau) के समाज की उत्पत्ति और विकास के 'सामाजिक समझौते' के सिद्धान्त को भी अपराध को समझाने का आधार बनाया। उसका विचार था कि हर व्यक्ति को इस समझौते के विरुद्ध कार्य करने व उसे खत्म करने की प्रवृत्ति या झुकाव होता है जिसके कारण वह सामाजिक संविदा के विरुद्ध कार्य करता है। इन्ही कार्यों को समाज 'अपराध' मानता है और इनको रोकने के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। इस तरह अपराधी व्यवहार के प्रति बैकेरिया की मूल धारणा यह थी कि व्यक्ति तर्क द्वारा पथ-प्रदर्शित होता है, उसकी इच्छा स्वतन्त्र है और इसलिए वही अपने सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी है। उसके व्यवहार के नियन्त्रण के लिए दण्ड का भय आवश्यक है। वह यह भी मानता था कि अपराधी कार्य के लिए निर्धारित दण्ड का 'दुःख' उस कार्य के 'सुख' से अधिक होना चाहिए तथा दण्ड सर्वमान्य रीति से, शीघ्रता से व अपराध के अनुपात से देना चाहिए। उसके अनुसार दण्ड देने का अधिकार केवल समाज को ही है। समाज विधान-मण्डल के द्वारा अधिनियम बनाकर इस दण्ड को पहले से ही निर्धारित करता है। न्यायालय का कर्तव्य केवल इन कानूनों की व्याख्या करना है और न कि नये कानून बनाना।[28] दण्ड के माप का आधार जन-कल्याण को पहुँचायी गयी हानि होना चाहिए अथवा दूसरे शब्दों में, दण्ड का आधार अपराध का उद्देश्य न होकर कार्य (act) होना चाहिए। इस प्रकार बैकेरिया अपराधी को पीड़ा और प्राण-दण्ड देने के बिल्कुल विरुद्ध था। इन सब विचारों को लेकर हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि क्लासिकल सिद्धान्त के चार मुख्य तत्त्व थे—

1. व्यक्ति के अधिकार और स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए।
2. सब व्यक्ति क्योंकि समान हैं अतः एक ही प्रकार के अपराध करने वाले अपराधियों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।
3. हर अपराध के लिए कुछ निश्चित निर्धारित दण्ड बिना किसी भेद-भाव के हर अपराधी को मिलना चाहिए।
4. दण्ड को प्रतिरोधात्मक प्रभाव के सामाजिक आवश्यकता के आधार पर सीमित होना चाहिए।

नियो-क्लासिकल सिद्धान्त (Neo-classical Theory)—अनुभव के आधार पर बैकेरिया के विचारों को व्यावहारिक रूप देना सम्भव नहीं पाया गया। उसके सिद्धान्त में कुछ कठिनाइयाँ थीं।

(1) क्लासिकल सिद्धान्त प्रथम और अभ्यस्त अपराधियों में कोई अन्तर

[28] Beccaria, Cesare, *Essay on Crime and Punishment*, Stephen Gould, N. York, 1809, 11-32.

स्वीकार नहीं करता था।

(2) इसमें दण्ड का आधार अपराधी का व्यक्तित्व न मानकर उसका अपराधी-कार्य माना गया था।

(3) असहाय और असमर्थ व्यक्ति जैसे बच्चे, बुद्धिहीन और पागल को भी अपराध करने के योग्य समझा गया।

इन दोषों के कारण इस सिद्धान्त में परिवर्तन की आवश्यकता मानकर नियो-क्लासिकल सम्प्रदाय की रचना की गयी। यद्यपि इस सम्प्रदाय के मूल विचार क्लासिकल सम्प्रदाय से भिन्न नहीं थे तथा दोनों स्वतन्त्र इच्छा, हेतुवाद, पूर्ण उत्तरदायित्व और सुखवाद में विश्वास करते थे परन्तु फिर भी दोनों सम्प्रदायों में कुछ अन्तर था। नियो-क्लासिकल सिद्धान्त के तीन मूल लक्षण थे—

(1) व्यक्ति की इच्छा उसके पागलपन, कम आयु और शारीरिक, मानसिक व परिस्थिति-सम्बन्धी व्यवस्था द्वारा प्रभावित हो सकती है जिससे वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग नहीं करता।

(2) न्यायालय को अपराधी को दण्ड देने से पहले उसकी मानसिक स्थिति मालूम करनी चाहिए अर्थात् यह ज्ञात होना चाहिए कि क्या वह उचित और अनुचित कार्यों में अन्तर मालूम करने के योग्य है अथवा नहीं।

(3) ऐसे असहाय और असमर्थ व्यक्तियों को दण्ड देने में दयावान होना चाहिए।

परन्तु क्लासिकल की तरह नियो-क्लासिकल सम्प्रदाय में भी कुछ दोष थे, जैसे, (क) दोनों में अपराधी को नहीं अपितु अपराध को केन्द्र-बिन्दु माना गया है, तथा (ख) व्यक्ति के व्यवहार मे तर्क के कार्य को बहुत बढ़ाकर उसकी आदतों, संवेगों और सामाजिक तत्त्वों को कम महत्त्व दिया गया है। इन दोषों के कारण इस सिद्धान्त को भी विद्वानों द्वारा कोई मान्यता न मिल सकी।

जैविकीय सम्प्रदाय (Biological school)

लोम्ब्रोजो का सिद्धान्त (Lombroso's theory)—1876 में इटली के प्रोफेसर लोम्ब्रोजो ने अपनी पुस्तक 'Criminal Man' में 'जन्मजात अपराधी' अथवा 'शारीरिक रूप से व्यक्त अपराधी प्रारूप' का सिद्धान्त दिया। इसकी धारणा यह थी कि एक लाक्षणिक अपराधी को कुछ विशेष शारीरिक लक्षणों या दोषों से पहचाना जा सकता है। एक कुख्यात अपराधी विलेला के शव की परीक्षा से उसे उसमें 'मानव विकास में पूर्व विकास की अवस्था' (atavism) का प्रमाण मिला। अन्य अपराधियों मे भी इसी प्रकार का प्रमाण मिलने पर उसने अपराध के कारण में 'पूर्व-विकास की ओर लौटने' का सिद्धान्त दिया जिसके अनुसार उसने अपराध और व्यक्तित्व के विघटन में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के अपराधी व्यवहार का कारण उसने उसके वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त शारीरिक और मानसिक लक्षण बताये। उसका कहना था कि अपराधी लंगूर जैसे उद्विकासी पूर्वज से मिलता-जुलता है और उसके अपराधी व्यवहार के दोष इन्हीं पहले की उद्विकासी

अवस्था के होते हैं। ऐसे कुछ जन्म द्वारा प्राप्त दोष जो अर्द्ध-विकसित व्यक्ति में (जो अपराधी बन जाता है) पाये जाते है वे हैं—असाधारण आकार का सिर, अस्त-व्यस्त मुँह या ललाट, लम्बे कान, चपटी नाक, उथला होंठ, बहुत बड़ी या छोटी और लगूरों में पायी जाने वाली जैसे ठुड्डी, हाथों की बहुत अधिक लम्बाई आदि। इटली में किये गये 383 अपराधियों के एक अध्ययन में उसने पाया कि 21 प्रतिशत अपराधियों में उपर्युक्त शारीरिक दोषों में से केवल एक ही दोष था तथा 43 प्रतिशत मे पाँच या उससे अधिक दोष थे। इसलिए उसने कम से कम पांच शारीरिक दोष पाये जाने वाले व्यक्ति को 'जन्मजात' अपराधी माना।[29]

परन्तु कुछ विद्वानों ने अपराधियों और अनपराधियों का तुलनात्मक अध्ययन करके लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त को असत्य प्रमाणित किया। लोम्ब्रोजो ने भी स्वयं अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे अपने सिद्धान्त में कुछ संशोधन करके यह बताया कि सभी अपराधी नही परन्तु केवल कुछ ही व्यक्ति जन्म से अपराधी होते हैं। कुछ ऐसे भी (अपराधी) होते हैं जो मनोविकार या पागलपन के कारण अथवा कुछ अनोखी परिस्थितियो के कारण अपराध करते है। इस तरह उसने वंशानुक्रमण के अतिरिक्त भौगोलिक कारक (जैसे जलवायु, वर्षा आदि); सामाजिक कारक (जैसे विवाह की रीतियाँ, अपराधी कानून आदि); आर्थिक कारक (जैसे अन्न मूल्य, बैंक के नियम, राष्ट्रीय-कर नीति आदि); तथा धार्मिक विचार आदि को भी अपराध के कारणो में महत्त्व दिया। यद्यपि आज के समाजशास्त्री उसके जन्मजात अपराधी के सिद्धान्त को नही मानते परन्तु यह सभी स्वीकार करते है कि लोम्ब्रोजो ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर अपराध को समझाने का प्रयत्न किया था। इस कारण इसके सिद्धान्त को अपराधशास्त्र का 'पॉजिटिव सम्प्रदाय' (positive school of criminology) भी माना जाता है।

इटली के विद्वान् फेरी और गारोफैलो ने भी लोम्ब्रोजो के सिद्धान्त के मूल तत्त्वो का समर्थन किया था। क्योंकि यह दोनो विद्वान् भी लोम्ब्रोजो की तरह इटली के रहने वाले थे, इस सम्प्रदाय को 'इटालियन सम्प्रदाय' भी कहा जाता है।

फेरी ने 1884 में अपराध के चार कारणो—भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक और मानवशास्त्रीय—के पारस्परिक सम्बन्ध पर बल दिया था। भौगोलिक कारणों के अन्तर्गत उसने जलवायु, तापक्रम, ऋतु-सम्बन्धी प्रभाव, भौगोलिक स्थान आदि कारक; सामाजिक कारणों में जनसंख्या का घनत्व, रीति-रिवाज, धर्म और राज्य का संगठन आदि कारक और मानवशास्त्रीय कारणों में प्रजाति, आयु, लिंग, शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अवस्था आदि कारक बताये। उसके अनुसार सामाजिक और आर्थिक सुधार जैसे मुक्त-व्यापार, एकाधिकार को समाप्त करना, परिवार नियोजन, विवाह और तलाक की स्वतन्त्रता आदि के द्वारा ही राज्य उचित वातावरण निर्मित करके अपराध को रोक सकता है।

[29] George Vold, *op. cit.*, 52.

गारोफैलो द्वारा 1885 में दिये गये अपराध के कारणो में जैविकीय अभिमुखता से अधिक मनोवैज्ञानिक अभिमुखता मिलती है। उसने अपराध को दया और सत्यता के मनोभावों या नैतिक सच्चाई अथवा ईमानदारी का उल्लंघन बताया। उसके अनुसार उसकी विचारधारा अपराधी-मानवशास्त्र का अंग तभी मानी जा सकेगी जब अपराधी-मनोविज्ञान को अपराधी-मानवशास्त्र का एक भाग समझा जाये। अपराध को रोकने के लिए उसने उन व्यक्तियों को खत्म करने या हटाने की आवश्यकता बताई जिनका समाज में समायोजन नही हो पाता। अपराधी को ख़त्म करने या हटाने के लिए उसने तीन तरीके बताये[30]—(अ) उन अपराधियो के लिए उसने मृत्यु-दण्ड का सुझाव दिया जो हमेशा के लिए सामाजिक जीवन के लिए अयोग्य हैं। (ब) युवा और आशाहीन अपराधियो के लिए उसने आंशिक लोप जैसे जीवन भर के लिए अथवा बहुत लम्बा कारावास तथा देश-निष्कासन का सुझाव दिया। (स) उनके लिए जिन्होने अनोखी परिस्थितियों, (जिनके फिर से उत्पन्न होने की सम्भावना कम है) के दवाब के कारण अपराध किया है, उसने शक्ति द्वारा हर्जाना प्राप्त करने का सुझाव दिया।

गारोफैलो द्वारा दिये गये इन सुझावों से यह सिद्ध होता है कि वह प्राण-दण्ड के पक्ष में था। परन्तु उसके 'नैतिक दोष जैसे मनोवैज्ञानिक विघटन' की उपकल्पना को समाजशास्त्रियो ने स्वीकार नहीं किया है।

चार्ल्स गोरिंग ने लोम्ब्रोजो.के 'शारीरिक रूप से व्यक्त अपराधी के प्रारूप' (physical criminal type) के सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। 12 साल तक 3000 अपराधियो के अध्ययन के आधार पर 1913 में उसने अपने निष्कर्ष प्रकाशित किये जिनमें उसने बताया कि विभिन्न प्रकार के अपराधियों के आपस में तथा अपराधियों के अनपराधियो के साथ तुलनात्मक अध्ययन से किसी भी प्रकार से इस तथ्य की पुष्टि नही होती कि शारीरिक रूप से व्यक्त अपराधी के प्रारूप जैसी वस्तु सम्भव हो सकती है।[31]

शारीरिक बनावट का सम्प्रदाय या नियो-लोम्ब्रोज्यन सम्प्रदाय

लोम्ब्रोजो के जैविकीय सम्प्रदाय के बाद शारीरिक बनावट के सम्प्रदाय का विकास हुआ जिसके अनुसार व्यक्ति को अपराधी कार्य के लिए प्रोत्साहित करने वाले कारक सामाजिक परिस्थितियो मे पाये जाने वाले विघ्न-कारक नही हैं परन्तु वंशानुक्रमण सम्बन्धी कारक हैं। हूट्न, शेलडन आदि इस सम्प्रदाय को मानने वाले विद्वान् हैं।

हूट्न का सिद्धान्त (Hooton's theory)—हूट्न ने चार्ल्स गोरिंग के अध्ययन को अवैज्ञानिक और पक्षपाती बताया। उसने स्वयं 13,873 पुरुष अपराधी

[30] Garofalo, 'Criminology', *op. cit*, 370–408.
[31] Goring, Charles, 'The English Convict', *Federal Probation*, Dec. 1955.

(कैदी) व 3,203 पुरुष अनपराधियों को 1929 से 1939 तक 10 वर्षों की अवधि मे अध्ययन किया। अनपराधियों में 1976 स्वस्थ और निरोग व्यक्ति (विद्यार्थी, आग बुझाने वाले व्यक्ति आदि) और 1227 मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति थे। इस अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर 1939 मे उसने यह बताया कि अपराध का मुख्य कारण पैतृक शारीरिक-हीनता या निम्नता (biological inferiority) है।[32] शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्ति अपने आपको प्रतियोगीय समाज में समायोजन में असमर्थ पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे असामाजिक कार्य अर्थात् अपराध कर बैठते हैं। उसने यह भी पाया कि सभी अपराधियों की शारीरिक विशेषताएँ, जो शारीरिक-हीनता या निम्नता का एक निश्चित प्रतिमान बनाती है, अनपराधियों की शारीरिक विशेषताओ से भिन्न है। उसके अनुसार हर प्रजाति में कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति, मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो के झुण्ड (hordes), दुर्बल बुद्धि वाले व्यक्तियों के ढेर (masses), तथा अपराधियों की पल्टन (regiments) पायी जाती है। दूसरे शब्दों मे हर समाज में बहुत से अपराधी पाये जाते हैं और ये सभी शारीरिक रूप से हीन व्यक्ति ही होते हैं। इन शारीरिक हीन व्यक्तियो के उसने तीन प्रकार बताये हैं—(अ) असंयोजनीय अंगों वाले व्यक्ति (organically unadaptable), (ब) मानसिक एवं शारीरिक रूप से बौने व्यक्ति (mentally and physically stunted), और (स) सामाजिक रूप से विकृत पुरुष (sociologically warped or perverted)।

अपराध को रोकने के लिए हूटन ने इन शारीरिक, मानसिक और नैतिक दोषपूर्ण व्यक्तियों के वन्ध्याकरण (sterilisation) करने का सुझाव दिया जिसके परिणामस्वरूप एक अच्छी प्रजाति पैदा हो सके और अपराध को कम किया जा सके।

अन्य जीवशास्त्र के विद्वानों की तरह हूटन के सिद्धान्त की भी सदरलैण्ड, जार्ज वोल्ड, रयूटर और मैकारमिक आदि अपराधशास्त्रियों ने आलोचना की है।[33] इसके विरुद्ध उन्होंने निम्न तर्क दिये हैं—

(1) हूटन द्वारा अध्ययन किये गये अपराधियों व अनपराधियों का चुनाव सभी अपराधियों और अनपराधियों का प्रतिनिधित्व नहीं था क्योंकि अनपराधियों में उसने पुलिस और मिलेट्री के कर्मचारी, आग बुझाने वाले व्यक्ति, तैराकों, तथा विद्यार्थियों आदि को लिया जो अधिकतर स्वस्थ और शक्तिशाली व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार केवल कैदी ही सभी अपराधियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते क्योंकि जेल के बाहर भी अपराधी पाये जाते हैं जिनको या तो परिवीक्षा (probation) पर

[32] Hooton, Earnest A., *Crime and the Man*, Cambridge, Harvard Univ. Press, 1939.

[33] Vold George, *op. cit.*, 63-65; Reuter, E. B., *American Journal of Sociology*, July 1939; Sutherland, *Journal of Criminal Law and Criminology*, March-April 1939, 911-14; Macormick, T. C. *American Sociological Review*, April 1940.

छोड़ा जाता है या जुर्माना आदि किया जाता है तथा इनका व्यक्तित्व, अपराध की प्रकृति, आदि कैदियों से भिन्न होती है।

(2) उसने यह नहीं समझाया कि शारीरिक और मानसिक दोष कैसे हीनता पैदा करते हैं।

(3) सामाजिक रूप से विकृत व्यक्ति शारीरिक रूप से हीन नही होते।

(4) उसने श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों पर बिल्कुल ध्यान नही दिया जिनको किसी प्रकार भी शारीरिक रूप से हीन नहीं माना जा सकता।

(5) उसकी अनुसन्धान-प्रणाली भी दोषपूर्ण थी।

उसने अपराधियों से साक्षात्कार के समय के अपराध को आधार मानकर बिना उनके पूर्व अपराधों के अध्ययन के अपराधियों की कुछ श्रेणियाँ (categories) विकसित की। उदाहरणार्थ, उसने लम्बे व दुर्बल व्यक्ति हत्यारे व लुटेरे, लम्बे और भारी व्यक्ति जालसाज और चालबाज, छोटे कद के व दुबले व्यक्ति चोर और सेंध लगाने वाले, छोटे कद के व भारी व्यक्ति आक्रमणकारी व यौन अपराधी बताये तथा मध्यम शरीर वालो के लिए उसने बताया कि वे कोई विशेष अपराध नही करते। यदि हूटन अपराधियों के पूर्व अभिलेख (record) का विश्लेषण करता—क्योंकि उसके प्रतिरूप में लगभग आधे अपराधियो के पूर्व-दण्ड का अभिलेख था—तो सम्भवतया ये अपराधी श्रेणियाँ सत्य नही निकलती।

जैविकीय सम्प्रदाय का मूल्यांकन—अन्त में जैविकीय सम्प्रदाय का, जिसके अन्तर्गत लोम्ब्रोज़ो, चार्ल्स गोरिंग, हूटन, गाल, शेलडन आदि के सिद्धान्त आते हैं, मूल्याकन करते हुए हम जैविकीय कारकों और अपराध के सम्बन्ध मे निम्न तर्क दे सकते है—

(1) हूटन, शेलडन आदि विद्वान् अपराधी-व्यवहार और शारीरिक लक्षणों के सम्बन्ध को पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं कर पाये है।

(2) सभी विचारकों के सिद्धान्तो में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अवहेलना की गयी है अथवा उसका महत्त्व बहुत कम माना गया है।

(3) यह सभी अध्ययन कुछ विशेष चुने हुए समूहों को लेकर किये गये है जो सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

इन तर्कों के आधार पर हम कह सकते है कि जैविकीय सिद्धान्तो को आजकल विद्या-सम्बन्धी (academic) मूल्य से अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता यद्यपि इसका एक महत्त्व यह अवश्य है कि पहली बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अपराधी-व्यवहार को समझने के लिए अपराधी व्यक्ति का अध्ययन करना ही अत्यन्त आवश्यक है। इनके पहले इसकी आवश्यकता नही समझी जाती थी।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—गोडार्ड मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादक माना जाता है। 1919 में दिये गये इस सिद्धान्त के अनुसार कमजोर बुद्धि अथवा मानसिक दुर्बलता अपराध का प्रमुख कारण है।

गोडार्ड ने मन्द-बुद्धि की सर्वोच्च सीमा निर्धारण के लिए 12 वर्ष की मानसिक आयु ली तथा 75 से कम बुद्धि-लब्ध (1·8) वाले व्यक्ति को बुद्धिहीन बताया। गोडार्ड ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है[34]—

(1) लगभग सभी अपराधी मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति होते हैं।

(2) मानसिक दुर्बलता आनुवंशिक होती है तथा यह संचरण मेन्डल के प्रबल एवं गौण वाहकाणु के सिद्धान्त के अनुसार होता है।

(3) मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति विशेष नियन्त्रण के अभाव मे अपराध करते हैं क्योकि एक तो उनकी पर्याप्त बुद्धि नही होती जिससे वे कानून की आवश्यकता को परख सके और दूसरे वे कानून के उल्लंघन-परिणाम को समझ नही सकते।

(4) अपराध को रोकने और अपराधियों को सुधारने के लिए दो ही प्रभावशाली तरीके हैं—एक जीवाणुघात की नीति और दूसरा कमजोर बुद्धि वाले व्यक्तियो का पृथक्करण।

1928–29 में सदरलैण्ड ने विभिन्न बौद्धिक स्तर के माप के अध्ययनों का विश्लेषण करके अपराध और दुर्बल बुद्धि के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया। उसने 350 प्रतिवेदनो की, जिनमे कुल पौने दो लाख अपराधियों और बाल-अपराधियों का अध्ययन हुआ था, परीक्षा की। इस विश्लेषण से उसे ये निष्कर्ष मिले—

(1) 1910–14 के मध्य मे अध्ययन किये गये अपराधियो में से 50 प्रतिशत मन्द बुद्धि के व्यक्ति पाये गये थे जबकि 1925–28 के मध्य मे किये गये अपराधियों के अध्ययन में केवल बीस प्रतिशत ही कमजोर बुद्धि वाले मिले।

(2) अपराधियो का बौद्धिक स्तर सामान्य व्यक्तियो के बौद्धिक स्तर जैसा ही था। दूसरे शब्दों मे अपराधियो को उतना ही बुद्धिमान पाया गया जितना कानून को मानने वाले व्यक्ति बुद्धिमान थे।

(3) समाज मे दुर्बल व्यक्तियों को सामान्य जनसंख्या की तुलना मे अधिक अपराधी नही पाया गया।

(4) दुर्बल बुद्धि वाले कैदियों में सामान्य बुद्धि वाले कैदियों के समान अनुशासन पाया गया।

(5) पैरोल (parole) पर छोडे गये दुर्बल बुद्धि वाले अपराधी उतने ही सफल पाये गये जितने पैरोल पर छोड़े गये सामान्य बुद्धि वाले अपराधी।[35]

इन अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि मन्द बुद्धि ही अपराध का प्रमुख कारण नही हो सकती। भारत में ही बहुत से ऐसे अपराधी मिलते है जो सामान्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान पाये गये है। मर्चीसन, रेक्लेस, हीले आदि ने भी गोडार्ड के सिद्धान्त की आलोचना की है। रेक्लेस का कहना है कि अपराधी वर्ग बहुत नागरिकों की तुलना मे अधिक बुद्धिमान होता है। हीले ने भी बास्टन और

[34] Goddard, H. H., *Human Efficiency and Levels of Intelligence*, Princeton Univ. Press, 1920, 73–74.

[35] Sutherland, *op. cit.*, 118.

शिकागो में चार हजार अभ्यस्त अपराधियों के अध्ययन में पाया कि 72·5 प्रतिशत अपराधी मानसिक रूप से सामान्य थे और केवल 13·5 प्रतिशत अपराधी ही मन्द बुद्धि के थे। इस आधार पर उसने कहा कि हम यह नहीं मान सकते कि अपराध केवल दुर्बल बुद्धि वाले व्यक्तियों में ही पाया जाता है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते है कि मानसिक रूप से दुर्बल व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक गम्भीर अपराध करते है।[36]

मनोविकार विश्लेषण का सिद्धान्त (Psychiatric theory)—गोडार्ड की आलोचना करके हीले और ब्रानर ने स्वयं अपराध का एक दूसरा कारण बताया। उनके अनुसार सवेगात्मक व्याकुलता और नैराश्य के कारण ही अपराध होता है। यद्यपि कुछ समाजशास्त्री भी अपराध का एक कारण नैराश्य मानते हैं परन्तु उनके अनुसार व्यक्ति का नैराश्य एक 'सामाजिक घटना' है जबकि हीले और ब्रानर आदि मानसिक रोग विशेषज्ञों के अनुसार यह एक 'जैविकीय घटना' है। हीले का कहना है कि व्यक्ति का नैराश्य संवेगात्मक व्याकुलता पैदा करता है। व्यक्तित्व का सामंजस्य इस पीड़ा को दूर करना चाहता है और पीड़ा प्रतिस्थापन्न (substitute) व्यवहार से दूर की जाती है। यह प्रतिस्थापन्न व्यवहार अपराध होता है।[37]

व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति किसी बाधा का सामना न करे। यदि उसके सामने कई बाधाएँ आ जाती हैं और वह उनको दूर नहीं कर पाता तो वह निराश हो जाता है। यह नैराश्य उसमे पीड़ा उत्पन्न करता है। इस पीड़ा को हटाने के लिए वह किसी प्रतिस्थापन्न व्यवहार द्वारा प्रयत्न करता है और यह प्रतिस्थापन्न व्यवहार अपराध होता है।

व्यक्तित्व का विकास→रुकावटें→नैराश्य→पीड़ा→प्रतिस्थापन्न व्यवहार→अपराध

मनोविश्लेपणात्मक सिद्धान्त की मुख्य धारणा यह है कि किसी विशेष प्रकार का व्यक्तित्व अवश्य या सम्भवतः अपराध करेगा चाहे उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ कैसी भी हों। अपराधी व्यवहार व्यक्तित्व का एक आवश्यक प्रकटन (expression) है।

हीले और ब्रानर के इस सिद्धान्त की भी सदरलैण्ड, रेक्लेस, कैवन आदि ने आलोचना की है। रेक्लेस का कहना है कि किसी भी व्यक्ति के लिए गैरकानूनी अपराधी व्यवहार में कानून-मान्य व्यवहार की तुलना में संवेगात्मक व्याकुलता और अन्य दोष पाना आसान है।[38]

मनोविश्लेपणात्मक सिद्धान्त (Psycho-analytical theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति दलित इच्छाओं और वासनाओं का भण्डार है। इनको 'इड' (id)

---

[36] Healy, William, and Bronner, A. F., *New Light on Delinquency and Its Treatment*, Yale Univ. Press, New Haven, 1936.

[37] 'Frustration of the individual causes emotional discomfort; personality equilibrium demands removal of such pain; the pain is eliminated by substitute behaviour, *i. e.*, delinquency.' *Ibid*, 54-55.

[38] Reckless, Walter, quoted by Vold George in *Theoretical Criminology*, *op. cit.*

कहते है। यह क्रूर, परपीडक व विनाशक प्रवृत्तियाँ (इड) सीखी नही जाती पर वैसे ही हर व्यक्ति मे पायी जाती हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य काम-तृप्ति करना है और यह उन्ही क्रियाओं के पक्ष में रहता है जो काम-तृप्ति की ओर ले जाती हैं। हम जैसे-जैसे बडे होते जाते है समाजीकरण की प्रतिक्रिया द्वारा इन इड से उत्पन्न हुई दलित इच्छाओ पर नियन्त्रण करना सीखते जाते हैं। यह नियन्त्रण 'इगो' (ego) या 'अहं' और 'सुपर-इगो' (super-ego) या 'नैतिक मन' कहलाते हैं। 'इगो' वास्तविकता को समझाने की एक शक्ति है और सुपर-इगो हमारी 'चेतना' अथवा अन्तरात्मा की आवाज है। जब हम सामाजिक नियमों का पालन करते हैं तब यह सिद्ध होता है कि हमारा अहं और नैतिक मन विकसित हो चुके है परन्तु इन नियमों का उल्लंघन करना अहं और नैतिक मन का अविकसित या कमजोर होना प्रकट करते हैं।[39] जब इड, इगो और सुपर-इगो के बीच असाधित (unsolved) संघर्ष बढ़ते जाते है तथा सुपर-इगो इड को नियन्त्रित नही कर पाता तब व्यक्ति अपराधी व्यवहार करता है।

इस सिद्धान्त के प्रति समाजशास्त्रियो की यह आलोचना है कि इसमें अपराध करने की प्रवृत्ति को 'दिया हुआ' माना गया है जबकि यह एक 'सीखी हुई प्रवृत्ति' है। मर्टन, सदरलैण्ड, कोहेन, कैवेन, क्लोवार्ड, क्लिनार्ड आदि समाजशास्त्री अपराध को 'सीखा हुआ व्यवहार' मानते है।

भौगोलिक सिद्धान्त (Geographical or Cartographic theory)—क्रोपोट्किन, क्वीटले, मांटेस्क्यू, डेक्स्टर आदि इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका कहना है कि जलवायु, तापमान, आर्द्रता अथवा हवा में पानी की मिलावट, स्थान आदि मनुष्य के व्यवहार पर बहुत प्रभाव डालते है। 1911 में रूस के विद्वान् पीटर क्रोपोट्किन ने कहा कि किसी भी समाज मे हम तापमापी व उन्दमान का प्रयोग करके वहाँ के एक वर्ष के आँकड़ों के आधार पर आश्चर्यजनक यथार्थता के साथ उसके दूसरे वर्ष में अपराधो की संख्या की भविष्यवाणी कर सकते है। इस भविष्यवाणी के लिए जो उसने सूत्र प्रतिपादित किया, वह है : $2(7x+y)$।[40] यहाँ 'x' *तापमान है और 'y' आर्द्रता अथवा हवा में पानी की मिलावट है।* एक माह के औसत तापमान को प्राप्त कर उसको सात गुणा करके उसमे औसत आर्द्रता जोड़कर उसको फिर दो से गुणा करने से हमें उस माह मे होने वाली नर-हत्याओं (homicides) की संख्या मिलेगी। परन्तु क्रोपोट्किन के विचार के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि इस सूत्र (formula) द्वारा अपराध की संख्या मालूम करना असम्भव है।

जलवायु का अध्ययन करने वालो ने फिर मार्च-अप्रैल मे सबसे अधिक यौन अपराधो को वसन्त-ऋतु मे बढने वाली काम-तृप्ति की इच्छा से सम्बन्धित किया

[39] *Sigmund Freud—the Basic Writings*, trans. and edit. by Bill, A. A., The Modern Library, New York, 1938.

[40] Kropotkin, quoted by Barnes and Teeters, *op cit.*, 143.

है। अमरीकी विद्वान् डेक्स्टर ने भी 1904 में जलवायु व वायु का मनुष्य के व्यवहार पर प्रभाव का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि अपराध एवं भौगोलिक पर्यावरण का आपस मे गहरा सम्बन्ध है।[41]

फ्रास के विद्वान् क्वीटले के अनुसार व्यक्ति के विरुद्ध अपराध दक्षिण में अधिक प्राप्त होते हैं और गर्मियो में बढ़ जाते है तथा सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध उत्तर दिशा में अधिक मिलते हैं और सर्दियों मे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार उसने भी अपराध और जलवायु का पारस्परिक सम्बन्ध बताया। इस उपकल्पना को स्मिथ और चैम्पन्यूफ ने 1825 और 1830 के मध्य फ्रांस में किये गये अध्ययन के आधार पर प्रमाणित किया। इस अध्ययन में उनको फ्रास के उत्तरी भाग में व्यक्ति के विरुद्ध किये गये हर 100 अपराध के पीछे सम्पत्ति के विरुद्ध 181·5 अपराध मिले जबकि दक्षिण फ्रास मे व्यक्ति के विरुद्ध किये गये हर 100 अपराध के पीछे उन्हे सम्पत्ति के विरुद्ध 48·8 अपराध ही मिले। फ्रांसीसी विद्वान् लैकासिन को भी 1825 और 1880 के मध्य किये गये सम्पत्ति के विरुद्ध अपराधों के परीक्षण में सबसे अधिक अपराध दिसम्बर के माह मे मिले और तत्पश्चात् जनवरी, नवम्बर और फरवरी के महीनो मे।[42] इस प्रकार इन सभी अध्ययनों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि भौगोलिक कारक और अपराध का आपस में गहरा सम्बन्ध है। लेकिन इन सभी अध्ययनों में अपराध की समस्या को बहुत ज्यादा सरल बनाया गया है। यदि भौगोलिक कारक ही अपराध के प्रमुख कारण होते तो एक ही क्षेत्र में पाये जाने वाले समान पर्यावरण में सदैव एक ही प्रकार का व एक ही मात्रा में अपराध मिलता परन्तु हम जानते हैं कि ऐसा नही होता। बार्न्स और टीटर्स ने भी कहा कि एक ही भौगोलिक पर्यावरण में रहने वाले व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार पाया जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि भौगोलिक पर्यावरण का अपराध मे कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

आर्थिक सिद्धान्त (Economic theory)—इस सिद्धान्त में अपराध का प्रमुख कारण निर्धनता बताया गया है। सबसे पहले 1894 मे इटली के विद्वान् फोरनासारी ने अपराध और निर्धनता मे सम्बन्ध बताया था। उसके अनुसार इटली की कुल जनसंख्या में से 60 प्रतिशत लोग निर्धन है और इस देश में पाये जाने वाले विभिन्न अपराधियों मे से 85 से 90 प्रतिशत अपराधी इन्ही 60 प्रतिशत निर्धन जनसंख्या में से हैं। 1916 में नीदरलैंण्ड के अपराधशास्त्री बोंगर ने भी यह बताया कि दरिद्रता और समाज का पूँजीवादी ढाँचा अपराध के प्रमुख आधार है। निर्धनता से छुटकारा आर्थिक उत्पादन और वितरण के साधनों के पुनर्संगठन अथवा एक वर्गहीन समाज की स्थापना से ही सकता है और इसी से ही अपराध को

[41] Dexter, Edwin Grant, *Weather Influences*, Macmillan Co., New York, 1904.

[42] Quetlet, Champneuf and Lacassagne, quoted by Barnes and Teeters, *op. cit.*, 143.

भी कम किया जा सकता है।[43] 1938 में इंग्लैण्ड के विद्वान् सिरिल बर्ट ने भी बाल-अपराध और निर्धनता का सम्बन्ध अध्ययन करते हुए यह पाया कि 19 प्रतिशत बाल-अपराधी अत्यन्त निर्धन परिवारों के सदस्य थे और 37 प्रतिशत सामान्य परिवारों के सदस्य थे। इस आधार पर उसने कहा कि यद्यपि अपराध और निर्धनता में पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है किन्तु फिर भी यह नही कहा जा सकता कि सभी अपराध केवल निर्धनता के कारण ही होते हैं।[44] 1915 मे विलियम हीले और ब्रानर ने आर्थिक स्तर का एक पाँच अंक का नाप निर्धारित करते हुए 675 अपराधियो में से 5 प्रतिशत हीन वर्ग के सदस्य पाये, 22 प्रतिशत निर्धन वर्ग के, 35 प्रतिशत सामान्य वर्ग के, 34 प्रतिशत आरामदेह अथवा सुखी वर्ग के और 4 प्रतिशत विलासी वर्ग के सदस्य पाये। अतः इस अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि 73 प्रतिशत अपराधी आर्थिक रूप से सामान्य अथवा अच्छे परिवारों के सदस्य थे।[45]

भारत मे रटनशा द्वारा बम्बई मे अध्ययन किये गये 225 अपराधियों में से केवल 20 प्रतिशत ही उन निर्धन परिवारो के सदस्य पाये गये जिनकी मासिक आय 150 रुपये से कम थी, 58 प्रतिशत उन परिवारो के सदस्य थे जिनकी आय 150 और 500 रुपये के मध्य में थी, 12·33 प्रतिशत 500–2000 रुपये आय वाले परिवारों के सदस्य, 1·78 प्रतिशत 1000–2000 रुपये आय वाले परिवारो के सदस्य, और 2·66 प्रतिशत 2000 से अधिक आय वाले परिवारो के सदस्य थे।[46] उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर हम अपराध मे आर्थिक स्तर को बहुत महत्त्व नहीं दे सकते। सदरलैण्ड का भी कहना है कि निर्धन परिवारो मे अधिक अपराध इस कारण मिलते हैं क्योंकि वे एक तो आसानी से ढूंढे जा सकते हैं, दूसरा अमीर वर्ग के बहुत से अपराधी-प्रभाव व सिफारिश के कारण बच जाते है, और तीसरा शासन-सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ ऊँचे स्तर वाले व्यक्तियो के लिए अधिक पक्षपाती होती हैं।[47]

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार अपराध का प्रमुख कारण सामाजिक परिस्थितियाँ है तथा अपराध 'एक सीखा हुआ व्यवहार है' आनुवंशिक व्यवहार नही। अपराध सीखने की प्रक्रिया अन्य सामाजिक व्यवहारों के सीखने की प्रक्रिया जैसी ही होती है। रूथ कैवन का कहना है कि विभिन्न समूहों से सम्पर्क द्वारा अपराध उसी प्रकार सीखा जाता है जिस प्रकार अन्य सम्पर्कों द्वारा हम टेनिस खेलना या तैरना आदि सीखते है।[48] अपराध की दर में विभेद का कारण सामाजिक

[43] Bonger, W. A., *Criminality and Economic Conditions*, Little Brown, Boston, 1916

[44] Cyril Burt, *Young Delinquent*, Univ. of London Press, London, 1944.

[45] William Healy, *The Individual Delinquent*, Little Brown, Boston, 1915, 130–31.

[46] Ruttonsha, G. N., *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Deccan College, Poona, 1947, 57.

[47] Sutherland, *op. cit.*, 194.

[48] Cavan Ruth, *Criminology*, Crowell, New York, 1955

संगठन अथवा विभिन्न संस्थाओं में विभिन्नता है। कुछ सामाजिक कारक जिनके कारण अपराध में विभेद मिलता है, धन का बँटवारा, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक विचारधाराएँ, जनसंख्या का घनत्व, सांस्कृतिक संघर्ष, नौकरी के उपलब्ध साधन आदि हैं। परन्तु विभेद के इस विचार को आजकल के कुछ अपराधशास्त्री मान्यता नही देते। उन समाजशास्त्रियों में जो समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक है: सदरलैण्ड, अलवर्ट कोहेन, क्लिोवार्ड और ओहलिन, मर्टन, क्लिफोर्ड शाह, आलम, तथा वालटर रेकलेस उल्लेखनीय हैं। इन सबके सिद्धान्तों का हम अलग-अलग विवेचन करेंगे।

सदरलैण्ड का सिद्धान्त (Sutherland's theory)—1939 में सदरलैण्ड ने 'विभिन्न सम्पर्क' (Differential Association) का सिद्धान्त दिया था। उसके अनुसार अपराधी व्यवहार की दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। पहली परिस्थिति सम्बन्धी व्याख्या और दूसरी जन्म सम्बन्धी अथवा ऐतिहासिक व्याख्या। पहली व्याख्या में अपराध को उन प्रतिक्रियाओं द्वारा समझाया जाता है जो अपराध करने के समय कार्य करते हुए पायी जाती हैं तथा दूसरी व्याख्या के अनुसार अपराध को उन प्रतिक्रियाओ द्वारा समझाया जाता है जो अपराधों के पिछले इतिहास अथवा पृष्ठभूमि मे कार्य करते हुए पायी जाती है। इन दो व्याख्याओ मे से सदरलैण्ड जन्म सम्बन्धी अथवा ऐतिहासिक व्याख्या को मानता है।[49] इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए, एक भूखा व्यक्ति रास्ते से जाते हुए किसी खाने की दुकान पर दुकानदार को नही पाता है। उस समय परिस्थिति का लाभ उठाकर वह रोटी चोरी करके अपनी भूख मिटाता है। चोरी का कारण क्या यहाँ उसकी भूख और दूकानदार का न होना था? यदि हाँ, तो हम कह सकते है कि परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण उसने चोरी की। यह अपराध की परिस्थिति सम्बन्धी व्याख्या होगी। परन्तु सदरलैण्ड के मतानुसार उसकी चोरी की यह व्याख्या सही नही है। अपने जीवन की पृष्ठभूमि के आधार पर ही उसकी अपराध करने की प्रवृत्ति विकसित होती है तथा यह प्रवृत्ति ही उसे यहाँ चोरी करने के लिए उत्साहित करती है। यह अपराध की जन्म सम्बन्धी अथवा ऐतिहासिक व्याख्या हुई। सदरलैण्ड का विचार था कि किसी परिस्थिति को अपराध के लिए प्रतिकूल या अनुकूल समझना व्यक्ति पर ही निर्भर करता है। अपराध मे मुख्य बात है व्यक्ति का पिछला इतिहास अथवा उसका अन्य लोगों से सम्पर्क द्वारा अपराध सीखना। इस आधार पर सदरलैण्ड ने 'विभिन्न सम्पर्क' के सिद्धान्त की रचना की जिसमे उसने कहा कि (क) अपराध संगीत, कला आदि जैसा 'सीखा हुआ व्यवहार' होता है, तथा (ख) यह अपराधी-व्यवहार अपराधी प्रतिमानो द्वारा सीखा जाता है। उसने अपने सिद्धान्त की अग्रलिखित उपकल्पनाएँ दी है[50]—

[49] Sutherland, *op. cit.*, 76-80.
[50] *Ibid.*, 77-79.

(1) अपराधी-व्यवहार सीखा जाता है। इसका नकारात्मक अर्थ यह हुआ कि यह आनुवंशिक व्यवहार नही होता। वह व्यक्ति जो पहले से ही अपराध करने के लिए प्रशिक्षित नही है अपराधी-व्यवहार का आविष्कार नही कर सकता। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार बिना यन्त्र-विज्ञान शिक्षा के कोई व्यक्ति यन्त्र सम्बन्धी आविष्कार नही कर सकता।

(2) यह विचारों के सचार की प्रतिक्रिया मे दूसरे लोगों से बातचीत अथवा अन्तःक्रिया द्वारा सीखा जाता है। विचारों का आदान-प्रदान अधिकतर मौखिक होता है यद्यपि यह संकेतों द्वारा भी हो सकता है।

(3) अपराधी-व्यवहार का सीखना मुख्य रूप से घनिष्ठ प्राथमिक समूहों में ही होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि द्वितीयक समूहों जैसे चलचित्र, समाचार-पत्र आदि का अपराध में कोई महत्त्व नही होता।

(4) अपराधी व्यवहार को सीखने में दो बातें सम्मिलित हैं—(क) सरल और जटिल अपराध करने के तरीके सीखना। (ख) विशेष मनोवृत्तियों, प्रेरणाओं, प्रेरक शक्तियों और तर्क-वितर्कों का सीखना।

(5) विशेष प्रेरणाओं एव प्रेरक शक्तियों को कानून सहिताओं के अनुकूल अथवा स्वीकृत और प्रतिकूल या तिरस्कृत परिभाषाओं द्वारा सीखा जाता है।

(6) व्यक्ति अपराधी इसलिए बनता है क्योंकि वह कानून के उल्लंघन के अनुकूल परिभाषाओं को कानून के उल्लघन के प्रतिकूल परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक अपनाता है। यह ही सदरलैण्ड के अनुसार 'विभिन्न सम्पर्क' का मूल-सिद्धान्त है। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति के अपराधी बनने का कारण उसका अपराधी प्रतिमानो के सम्पर्क मे अधिक आना तथा अनपराधी प्रतिमानो से अलग रहना है।

(7) सम्पर्कों की विभिन्नता अवधि, तीव्रता, प्राथमिकता और पुनरावृत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति का अपराध-व्यवहार से प्रारम्भिक जीवन मे कितना पहले सम्पर्क हुआ, कितनी बार सम्पर्क हुआ, कितनी देर तक सम्पर्क रहा और कितना अधिक या तीव्र सम्पर्क हुआ इन सब बातों का उसके अपराध करने या न करने मे बहुत महत्त्व है।

(8) अपराधी प्रतिमानो के सम्पर्क मे अपराधी व्यवहार सीखने की विधियाँ वही है जो किसी कानूनी मान्यता व्यवहार के सीखने मे पायी जाती है।

(9) यद्यपि अपराधी व्यवहार सामान्य आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति है, फिर भी इसको केवल इन्ही के आधार पर नही समझाया जा सकता क्योंकि अनपराधी व्यवहार भी इन्ही आवश्यकताओं और मूल्यों की अभिव्यक्ति है।

सदरलैण्ड के इस सिद्धान्त की हरवर्ट ब्लाच, काल्डवैल, क्रीसे, जार्ज वोल्ड आदि बहुत से समाजशास्त्रियो ने आलोचना की है।[61] प्रमुख रूप से इसके विरुद्ध

[61] Herbert Bloch, *Man, Crime and Society*, 110–15 ; Caldwell, *op. cit.*, 182 ; George Vold, *op. cit.*, 195–97 ; Cressay, Donald, *Journal of Criminal Law and Criminology*, May–June 1952, 51–52.

दिये गये तर्क इस प्रकार हैं—

(1) अधिकांश प्रथम और आकस्मिक अपराधियों में अपराध सीखने की प्रतिक्रिया नही पायी जाती जैसा कि सदरलैण्ड का अनुमान है।

(2) यह सिद्धान्त हर प्रकार के अपराध को नही परन्तु केवल व्यवस्थित अपराध को ही समझाता है।

(3) यह सिद्धान्त परिस्थिति सम्बन्धी तथा शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणों का कोई महत्त्व नही देता।

(4) अन्य लोगों के साथ अन्तःक्रिया में एक व्यक्ति क्योंकर कुछ नियमों का अन्तरीकरण करता है और कुछ को अस्वीकार करता है, सदरलैण्ड ने नही समझाया है।

(5) यह मानव व्यवहार में 'स्वतन्त्र इच्छा' के तत्त्व, कामुकता, प्राप्ति की इच्छा, आक्रामकता आदि जैसी मूल प्रवृत्तियों को भी स्वीकार नही करता जिसका महत्त्व आजकल के किसी भी वैज्ञानिक ने अस्वीकार नही किया है।

(6) यह सिद्धान्त व्यवस्थित अपराधी व्यवहार और व्यवस्थित कानूनी-मान्यता व्यवहार के बीच भेद पैदा करता है जबकि मानव व्यवहार को इस प्रकार विभाजित नही किया जा सकता। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में, चाहे वह अपराधी व्यवहार ही क्यों न हो, क्रम पाये जाते है जो एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं।

(7) यह सिद्धान्त सीखने की प्रतिक्रिया को बहुत सरल करता है जबकि सामाजिक मनोविज्ञान के विद्वानों के अनुसार सीखने की प्रतिक्रिया में जटिलता पायी जाती है। फिर, केवल 'सीखने की प्रक्रिया' को ही मानव व्यवहार का सम्पूर्ण आधार नही माना जा सकता क्योंकि इससे प्रयोजन और प्रत्यक्षीकरण पर आधारित सिद्धान्तों का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा।

(8) सदरलैण्ड ने 'व्यवस्थित अपराधी व्यवहार' और 'सामाजिक विघटन' जैसे मूल शब्दो को परिभाषित नही किया है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे अधिक हानिकारक वक्तव्य 1952 में डोनाल्ड क्रीसे ने दिया था। विश्वासघात सम्बन्धी (trust violations) अपराधों के एक अध्ययन के आधार पर उसने कहा कि वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा यह सिद्ध करना या गलत साबित करना शायद ही सम्भव हो कि सदरलैण्ड का सिद्धान्त वित्तीय अमानत के उल्लंघन के अपराध या अन्य किसी भी प्रकार के अपराधों को स्पष्ट करता है।[52] इस प्रकार इस सिद्धान्त का विद्या सम्बन्धी महत्त्व से अधिक कोई मूल्य नही है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि (1) यह सिद्धान्त अपराध मे सामाजिक कारको को महत्त्व देता है, (2) अपराधी व्यवहार और कानूनी व्यवहार के सीखने मे समानता बताता है, और (3) इस बात पर बल देता है कि अपराध केवल व्यक्तित्व विघटन के आधार पर स्पष्ट नही किया जा सकता क्योंकि

[52] Cressey, D. R., *op. cit.*, 43.

बहुत से ऐसे अपराधी हैं जिन्होंने स्वयं का उसी प्रकार समायोजन किया है जिस प्रकार बहुत से प्रतिभाशाली व्यक्ति अपना समायोजन करते हैं।

क्लोवार्ड और ओहलिन का सिद्धान्त—क्लोवार्ड और ओहलिन का 'अपराध और अवसरवादिता' का सिद्धान्त सदरलैण्ड के 'विभिन्न सम्पर्क' और मर्टन के 'व्याधिकी' (anomie) सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने लक्ष्यो तथा अभिलाषाओं की प्राप्ति के लिए वैध अथवा कानूनी साधनों के उपलब्ध न होने के कारण अवैध अथवा गैर-कानूनी साधनों द्वारा उनको प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और यह अवैध प्रयत्न अपराध होता है।[53] यद्यपि अभिलाषाएँ हर व्यक्ति मे पायी जाती हैं और सभी व्यक्ति उनको प्राप्त भी नही कर पाते पर फिर भी वे सभी इस कारण गैर-कानूनी साधनों का प्रयोग अथवा अपराध नही करते क्योकि यह अवैध साधन हर व्यक्ति को उपलब्ध नही होते। किसी व्यक्ति के लिए अपने आपके उपलब्ध अवसर-व्यवस्था मे समायोजन के लिए आयु, लिंग, सामाजिक और आर्थिक स्थिति आदि जैसे परिवर्त्य (variables) मुख्य होते हैं।

क्लारेंस शिराग ने क्लोवार्ड और ओहलिन की मुख्य उपधारणाओं का व्यवस्थित रूप से पुनर्गठन किया है। यह नयी उपधारणाएँ इस प्रकार हैं[54]—

(1) मध्य वर्ग के लक्ष्य, विशेषकर आर्थिक लक्ष्य, बहुत फैले हुए होते हैं। निम्न वर्ग के सदस्य इन लक्ष्यो के आधार पर अपनी आर्थिक स्थिति सुधारना चाहते है।

(2) प्रत्येक संगठित समुदाय में इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए वैध और नियन्त्रित अवसर पाये जाते है।

(3) भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के लिए यह प्राप्ति के अवसर अलग-अलग रूप से प्राप्ति-योग्य (accessible) होते हैं।

(4) इन साध्यों की प्राप्ति के लिए गैर-कानूनी साधन किसी विशेष समुदाय व समूह को उपलब्ध हो भी सकते हैं और नही भी।

शिराग के अनुसार उपर्युक्त उपधारणाएँ दो बातें स्पष्ट नहीं करती है—(1) निम्न वर्ग के सभी बालक अपराधी गिरोह के कार्यों को क्यों नही अपनाते? (2) हम उन निम्न वर्ग के सदस्यों की पहचान नही कर सकते जिन्हें अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए गैर-कानूनी अवसर उपलब्ध हैं जिस कारण वे अपराधी गिरोहों के कार्यों में भाग लेते हैं। इस कारण शिराग ने ऊपर दिए हुए चार उपधारणाओं के अतिरिक्त तीन और भी उपधारणाएँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) निम्न वर्गों के उन सदस्यों मे अपराधी गिरोह के कार्यों को अपनाने की

---

[53] Cloward and Ohlin, *Delinquency and Opportunity: A Theory of Delinquent Gangs*, New York, 1966, 144–52.

[54] Clarence, Schrag, *Sociology and Social Research*, Vol. 46, 1962, 167–70. Also see D. N. Dhanagare, 'Delinquency and Opportunity: Theory in the Context of Justification', *Sociological Bulletin*, Vol. 16, Sept. 1967, 39–56.

ग्रहण-क्षमता अधिक है जो (क) वैध व्यवस्था को स्वीकार नही करते और अपने को उससे अलग समझते हैं; (ख) जो अपने समायोजन की समस्या के लिए स्वयं के स्थान पर सामाजिक व्यवस्था को दोषी बताते हैं; (ग) जो वैध साधनों की व्यावहारिक निपुणता (pragmatic efficiency) को अस्वीकार करते हैं।

(2) रूढ़िगत नियमों को अस्वीकार करने का कारण है औपचारिक और व्यावहारिक अवसर में भेद। ऐसे लोग औपचारिक अवसर की परिस्थिति को तो मानते हैं परन्तु उसकी वास्तविक उपयोगिता को अस्वीकार करते है। इस कारण रूढ़िगत नियमो का न मानना सबसे अधिक उनमें मिलेगा जो सोचते हैं कि प्राप्ति के औपचारिक अवसर के उपस्थिति के आधार पर वे अपने उद्देश्यों को प्राप्त तो कर सकते हैं पर क्योंकि वास्तव में उनको इन साधनो की उपलब्धि नही है इस कारण वे उनको प्राप्त नहीं कर पाते।

(3) इन रूढिगत नियमों की वैधता से स्वय को अलग करना नियमों को न मानने वाले व्यक्तियो मे अपराध की भावना को कम करता है तथा अपराधी उपसंस्कृति (delinquent sub-culture) की रचना के लिए नीव प्रस्तुत करता है।

क्लोवार्ड के इस अपराध के सिद्धान्त की यद्यपि अमरीका मे कुछ अधिक मान्यता है किन्तु इसके विरुद्ध भी दो तीन तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) यह सिद्धान्त सभी प्रकार के अपराधो के कारणो को स्पष्ट नही करता।

(2) इस सिद्धान्त मे प्रयोग किये गये कुछ सैद्धान्तिक शब्द जैसे अवसर-व्यवस्था, अवसर की उपलब्धि, वैधता को अस्वीकार करना आदि की व्यावहारिक परिभाषा नही दी गयी है जिस कारण उनको अनुसन्धान के लिए अनुपयुक्त पाया जाता है और इसके सम्पूर्ण सिद्धान्त का महत्त्व समाप्त हो जाता है।

(3) कोहेन का कहना है कि क्लोवार्ड और ओहलिन द्वारा दिया गया वैध और अवैध अवसर का द्वि-भाजन (dichotomy) इतना सरल और स्पष्ट नहीं है। यद्यपि दोनों के बीच अन्तर यथार्थ (real) है परन्तु यह ठोस (concrete) नही, केवल विश्लेषणात्मक (analytical) है। दूसरे शब्दों मे कोहेन के अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ अवसर तो वैध होते है और कुछ अवैध। एक ही अवसर वैध भी हो सकता है तो अवैध भी। जैसे एक बन्दूक हिरन को मारने के लिए वैध साधन कहलायेगी किन्तु वह ही बन्दूक आदमी को मारने के लिए अवैध साधन मानी जायेगी। अत: वैध और अवैध अवसर के मध्य स्पष्ट भेद के अभाव मे क्लोवार्ड और ओहलिन के सिद्धान्त का महत्त्व बहुत कुछ कम हो जाता है।

(4) क्लोवार्ड-ओहलिन के अनुसार निम्न वर्ग का व्यक्ति अपना आर्थिक स्तर तो ऊँचा करना चाहता है परन्तु मध्य वर्ग का सदस्य बनकर अपनी सामाजिक स्थिति बदलना नही चाहता। दूसरे शब्दों में क्लोवार्ड-ओहलिन जीवन-स्तर (life-style orienation) और आर्थिक-स्तर (economic orientation) को एक दूसरे से पृथक् मानते हैं। गार्डन (Gordon) का मत है कि जीवन का सामाजिक स्तर और आर्थिक स्तर अलग-अलग नही पाये जाते तथा जब व्यक्ति अपना

स्तर ऊँचा करना चाहता है तो वह सामाजिक स्थिति में भी अवश्य परिवर्तन चाहता है।

शार्ट और कार्टराइट ने भी क्लोवार्ड-ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना की है। उनका कहना है कि उनके अध्ययन के आधार पर यह किसी तरह सिद्ध नही होता कि निम्न वर्ग के किशोर जिनको अपने मध्य वर्ग के मूल्यों, उद्देश्यों व विशेषताओं की प्राप्ति के लिए वैध तरीके उपलब्ध नही हैं अथवा प्राप्ति-योग्य नही है उनके प्राप्ति के लिए अवैध तरीके प्रयोग करते हैं जिससे अपराधी उप-संस्कृति की रचना होती है।[55]

मर्टन का सिद्धान्त (Merton's theory)—मर्टन ने 1946 में व्याधिकी सिद्धान्त (Theory of Anomie) का प्रतिपादन किया। विभिन्न समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों ने अपराध के कारणों मे व्यक्तित्व और उद्देश्य पर बल दिया है परन्तु मर्टन ने अपने सिद्धान्त मे सामाजिक व्यवस्था के कार्य सम्पादन और तत्त्वों के आधार पर अपराधी व्यवहार को समझाया है। सर्वप्रथम फ्रांसीसी विद्वान् दुर्खीम ने एनोम्या (anomia) शब्द का प्रयोग अपनी पुस्तकों 'Division of Labour' (1893) और 'Suicide' (1897) में किया था। उसने ऐनामी (anomie) शब्द को लेकर यद्यपि आत्महत्या की व्याख्या की थी परन्तु उसके आधार पर अपराध के किसी व्यापक सिद्धान्त की रचना का प्रयत्न नही किया। यह प्रयत्न मर्टन ने ही 1946 में अपने लेख 'Social Structure and Anomie' में किया था।[56] मर्टन ने अपने व्याधिकी सिद्धान्त में तीन परिवर्त्यों (variables) को लेकर अपराध समझाया है।

(1) **संस्कृति लक्ष्य**—वे लक्ष्य और अभिलाषाएँ जो व्यक्ति अपनी संस्कृति के कारण सीखते है।

(2) **नियम**—वे नियम जो व्यक्ति के लिए उसके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए वैध साधन सीमित करते हैं।

(3) **अवसर**—जो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपलब्ध है।

मर्टन के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संरचना में सास्कृतिक लक्ष्य मिलते हैं जिनकी प्राप्ति के लिए कुछ सस्थागत आदर्श व उपाय होते हैं। (उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार लक्ष्य बताये गये है जिनको प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चार आदर्श व उपाय बताये गये हैं)। किसी भी सामाजिक संरचना में उसके सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा संस्थात्मक आदर्शों व उपायों में एक सन्तुलन पाया जाता है। इस सन्तुलन बिगड़ने की स्थिति को मर्टन 'ऐनामी' कहता है। दूसरे शब्दो में, मर्टन के अनुसार ऐनामी की परिस्थिति लक्ष्यों और उनके प्राप्ति के लिए सुलभ वैध

[55] Short, J. F., and Cartwright, D. S., *American Journal of Sociology*, Vol. 39, Sept. 1963, 115.

[56] Merton, R. K., 'Social Structure and Anomie', *American Sociological Review*, Oct. 1946, 672–82.

साधनों के सम्बन्ध के टूटने के कारण उत्पन्न होती है। अपराधी व्यवहार सांस्कृतिक लक्ष्यो और उनकी प्राप्ति के लिए संस्थात्मक साधनो की विलगता (disjunction) का एक लक्षण है। सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थात्मक साधनों को स्वीकार करने से व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक नियमों के अनुकूल पाया जाता है, परन्तु दोनों में से एक को स्वीकार व अस्वीकार करने या दोनों को अस्वीकार करने से व्यवहार 'विचलित व्यवहार' कहलाता है। इस प्रकार मर्टन के अनुसार विचलित व्यवहार ही समाज में ऐनामी की स्थिति उत्पन्न करता है तथा सामाजिक ढाँचा व्यक्ति पर समाज-विरोधी व्यवहार करने के लिए एक निश्चित दबाव डालता है।[57] मर्टन अपराध के लिए व्यक्ति के जैविकीय स्वभाव को कोई महत्त्व नहीं देता जबकि दुर्खीम ने आत्महत्या की व्याख्या में व्यक्ति के जैविकीय स्वभाव को एक मुख्य कारक माना था। जब दुर्खीम ने व्यक्ति के अपर्याप्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न का कारण उसकी आन्तरिक अथवा स्वाभाविक इच्छा बताया था, मर्टन ने इसका कारण सामाजिक ढाँचे द्वारा प्रोत्साहन मिलना बताया है।

मर्टन के सिद्धान्त की कोहेन, क्लिनार्ड, लेमर्ट, शार्ट आदि ने आलोचना की है। प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—(i) समाज द्वारा माननीय साधनो से अभिलाषाएँ प्राप्त न होने पर तनाव उत्पन्न होने से प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक नियमो का उल्लघन नही करता, (ii) मर्टन ने यह स्पष्ट नही किया है कि किस प्रकार का व्यक्ति लक्ष्यो को या साधनो को या दोनों को अस्वीकार करता है, (iii) विचलित व्यवहार करने वाले व्यक्ति की स्थिति स्पष्ट करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की भूमिका को आवश्यक महत्त्व नही दिया गया है, (iv) क्लिनार्ड के अनुसार मर्टन का सिद्धान्त पूर्णतः इस मान्यता पर आधारित है कि विचलित व्यवहार दोषपूर्ण अनुपात मे (disproportionately) निम्न वर्ग के लोगों में अधिक पाया जाता है। यह मान्यता सही नही है। अनेक व्यवसाय के लोगों के अध्ययन से यह पता लगता है कि अपराध समाज के उच्च वर्गों में अधिक पाया जाता है। इसी प्रकार बाल-अपराध भी न केवल निम्न वर्ग के बच्चो मे किन्तु मध्य और उच्च वर्गों के बच्चो मे भी काफी मिलता है, तथा (v) इस सिद्धान्त मे सामाजिक सरचना में व्यक्ति की स्थिति को एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्य (variable) मान लिया गया है तथा उसके व्यक्तित्व व आत्म-अवधारणा (self image) आदि जैसे तत्त्वों को कोई महत्ता प्रदान नही की गई है।

अब्राहमसेन का सिद्धान्त (David Abrahamsen's Theory)—अब्राहमसेन ने तीन निश्चित तरीके बताये हैं जिनके कारण व्यक्ति अपराध करता है[58]—

(1) हर व्यक्ति में असामाजिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। जीवन मे कभी कोई ऐसी

---

[57] Merton, 'Crime is a response to a given situation', *Social Theory and Social Structures*, 1957, 131-194. Also see Albert K. Cohen's *Deviance and Control*, Foundations of Modern Sociology Series, Prentice Hall 1966. 75-77.

[58] Abrahamsen David, 'Psychology of Crime', *op. cit.*, 33.

घटना घटती है जो उसकी समाज-विरोधी प्रवृत्ति को प्रेरणा देती है जिसके फलस्वरूप वह अपराध करता है।

(2) कभी-कभी व्यक्ति कोई ऐसा अनुचित कार्य कर बैठता है कि वह स्वयं को अपराधी समझता है और चाहता है कि उसका उसे दण्ड मिले। पर क्योंकि अन्य लोगों को उसके उस अनुचित कार्य का कोई ज्ञान नहीं होता इससे उसे दण्ड नहीं मिलता। इसलिए अपराधी विचारों के जड़ पकड़ने और उसके दण्ड मिलने की अचेतन इच्छा के कारण वह अपराध करता है जिससे उसे दण्ड मिले और उसका पश्चाताप हो सके।

(3) जो व्यक्ति सावेगिक रूप से कमजोर या असुरक्षित होता है उसमें एक आक्रमणकारी सांवेगिक धारणा विकसित होती है। वह इस आक्रमणकारी धारणा को प्रतिवाद और विद्रोह द्वारा प्रदर्शित करता है और इस प्रकार अपराध करता है।

अब्राहमसेन ने अपराध के बारे में दो 'नियम' भी दिये है—

(1) अपराध का कारण एक से अधिक कारक है।

(2) अपराध व्यक्ति की अपराधी मनोवृत्तियों, सम्पूर्ण परिस्थितियों और उसके प्रलोभन के प्रति मानसिक और सावेगिक प्रतिरोध पर आधारित है। इससे सम्बन्धित उसने एक अंकगणितीय सूत्र भी दिया है :[59]

$$\text{अपराध} = \frac{\text{मनोवृत्तियाँ} + \text{परिस्थितियाँ}}{\text{प्रतिरोध}}$$

अब्राहमसेन द्वारा अपराध के स्पष्टीकरण के लिए दिये गये दो 'नियम' तो समझ में आते है परन्तु उसके तीन 'निश्चित तरीकों' मे कोई बल नही मिलता। यदि हम यह भी मान ले कि असामाजिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा अपराध का एक कारण है तो भी उसके दण्ड की अचेतन इच्छा और आक्रमणकारी सांवेगिक धारणा का अपराध में कोई प्रमाण नही मिलता। लेकिन अब्राहमसेन के अपराध के बहुकारकवादी सिद्धान्त को आजकल बहुत से समाजशास्त्री मानते हैं। इसी प्रकार उसके अकगणितीय सूत्र में व्यक्तित्व और परिस्थितियाँ दोनो पर बल देना भी बहुत विद्वानो ने स्वीकार किया है।

क्लिफोर्ड शा का सिद्धान्त (Clifford Shaw's Theory)—शा के 'अपराधी क्षेत्र' के सिद्धान्त के अनुसार अपराध का कारण व्यक्ति के ऊपर 'इकालाजी' (ecology) अथवा उसके आस-पास के वातावरण के स्वाध्याय का प्रभाव है।[60] इकालाजी व्यक्ति और उसके स्थान सम्बन्धी पर्यावरण के सम्बन्ध पर बल देती है। शा के इस सिद्धान्त के पूर्व फ्रेड्रिक थिरैशर और रावर्ट पार्क ने भी इसी प्रकार की धारणा दी थी। इनके अनुसार व्यक्ति एक जैविकीय अथवा इन्द्रिय सम्बन्धी प्राणधारी (organic creature) है और इस कारण उसका व्यवहार जैविकीय संसार के

[59] *Ibid*, 37.

[60] Shaw, C. R. and Mckay, H. D., *Juvenile Delinquency and Urban Areas*, Univ. of Chicago Press. Chicago, 1942.

सामान्य नियमों द्वारा निर्धारित होता है। थिरैशर ने शिकागो में 1313 अपराधी गिरोहों का अध्ययन करके यह पाया कि 'गिरोह का स्थान भौगोलिक और सामाजिक परिवर्तनीय क्षेत्र बताता है।'[61] उसने यह भी कहा कि गाँवों मे पाये जाने वाले अपराधी गिरोह कोई समस्या पैदा नही करते परन्तु शहरो में पाये जाने वाले गिरोह यद्यपि सभी अपराध नहीं करते परन्तु उनमें से अधिकाश न केवल स्वय अपराध करते हैं परन्तु अन्य लोगों को भी अपराध की शिक्षा देते है। उसके इस कथन से यह सिद्ध होता है कि कुछ विशेष प्रकार के इकालाजीकल पर्यावरण के कारण अपराध होता है और यह विशेष इकालाजीकल पर्यावरण उन समुदायों मे पाये जाते हैं जिनका सामान्य पर्यावरण से अपूर्ण अथवा दोषपूर्ण समायोजन होता है। शा भी इस विचार से सहमत है। उनके अनुसार उन अत्यधिक जनसख्या वाले स्थानों और विघटित शहरी क्षेत्रों में अधिक अपराध मिलता है जो व्यापार के केन्द्रीय क्षेत्रों के समीपवर्ती होते है तथा नगर के वाहरी भाग मे अपराध की दर कम मिलती है। उसने सात स्थानो पर अधिक अपराध पाया[62]—(1) वह स्थान जो शहरो के मध्य में स्थित है। (2) जहाँ मकानों का अभाव है अथवा जहाँ गन्दी बस्तियाँ पायी जाती है। (3) जहाँ सामाजिक नियन्त्रण का अभाव है। (4) जहाँ व्यक्तिगत सम्बन्ध नही होते। (5) जहाँ बेकारी और निर्धनता अधिक है। (6) जहाँ भौतिक अवनति मिलती है। (7) जहाँ विदेशी अधिक रहते हैं। इस तरह उसने यह कहा कि 'अपराधी क्षेत्र' में अपराध का कारण वैयक्तिक नही परन्तु पर्यावरण ही प्रमुख है।

सदरलैण्ड ने शा के इस सिद्धान्त की आलोचना की है। उसने मुख्य रूप से दो तर्क दिये है[63]—(क) 'अपराधी क्षेत्रों' मे पाये गये अपराधी पहले ही से विघटित और असन्तुष्ट व निराशावान् व्यक्ति होते है और सम्भव है इसी नैराश्य के कारण वे अपराध करते हो। इस कारण यह किसी प्रकार नही माना जा सकता कि 'अपराधी क्षेत्र' में रहने के कारण ही वे अपराधी बनते हैं। (ख) 'अपराधी क्षेत्र में अनपराधी क्षेत्र' की अपेक्षा अपराधी ढूँढना बहुत आसान है।

थामस का सिद्धान्त (W. I. Thomas's Theory)—थामस ने अपराध का कारण 'चार इच्छाएँ' बतायी है। ये इच्छाएँ है—स्नेह की इच्छा, प्रतिष्ठा की इच्छा, सुरक्षा की इच्छा और नये अनुभव की इच्छा। उसके अनुसार व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता (superiority) तो नही परन्तु अपनी समता अन्य लोगों को दिखाना चाहता है। परन्तु अन्य लोगो द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर एवं अपनी स्थिति को मान्यता न मिलने के कारण व केवल निम्न स्थिति के सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित व्यक्तियो द्वारा मान्यता मिलने के कारण वह अपराधी कार्यों को अपने सामाजिक मान्यता

[61] Thrasher, F., 'Gangland represents a geographically and socially transitional area' in *The Gang*, 2nd edition, Univ. of Chicago Press, Chicago, 1936.

[62] Shaw and Mckay, *op. cit.*

[63] Sutherland, *op. cit.*, 159–62.

और प्रतिष्ठा का साधन मानता है और इस कारण अपराध करता है। थामस का यह सिद्धान्त कुछ अपराधों के लिए तो सही हो सकता है पर सभी अपराधों को स्पष्ट नहीं करता जिस कारण उसके सिद्धान्त को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

बहुकारकवादी सिद्धान्त (Multiple Factor Theory)—इस सिद्धान्त की रचना सबसे पहले 1925 में इंग्लैण्ड निवासी सिरिल बर्ट ने अपनी पुस्तक 'Young Delinquent' में की थी। उसके अनुसार व्यक्ति के अपराध का कारण एक नहीं अपितु अनेक हैं।[64] विभिन्न कारणों में उमने आनुवंशिक कारक, पर्यावरण सम्बन्धी कारक (घर के अन्दर और बाहर के पर्यावरण), शारीरिक कारक (शारीरिक विकास सम्बन्धी व्यवस्था और विघटित शरीर सम्बन्धी व्यवस्था जैसे शारीरिक दोष, तीव्र बीमारी, स्थायी रोग आदि), बुद्धि सम्बन्धी कारक (साधारण से कम या अधिक बुद्धि), स्वभाव सम्बन्धी कारक (अथवा मन की संवेगात्मक स्थिति) और संवेग आदि पर बल दिया है। बर्ट के अनुसार ऐसे चार प्रभावक हैं जिनको किसी भी अपराध में पहचाना जा सकता है। ये है—(1) वह प्रभावक जिसका बहुत स्पष्ट प्रभाव है। (ii) प्रमुख सहायक प्रभावक। (iii) थोड़ा उत्तेजित करने वाला प्रभावक। (iv) वह प्रभावक जो उपस्थित तो है पर प्रत्यक्ष रूप से क्रियाशील नहीं है। आज के युग में बहुत से समाजशास्त्री और अपराधशास्त्री इस बहुकारकवादी धारणा को मानते है। जार्ज वोल्ड[65], अब्राहमसेन, रेक्लेस, काल्डवैल, आदि इनमें से मुख्य विद्वान् है। एक तरह से 1884 में इटली के विद्वान् फेरी ने भी अपनी पुस्तक 'Criminal Sociology' में अपराध के विभिन्न कारणों का विवेचन किया था। उसके अनुसार अपराध के चार मुख्य कारण है—(1) मानवशास्त्रीय; जैसे प्रजाति, आयु, लिंग, इन्द्रिय और मनोवैज्ञानिक व्यवस्था, (2) भौगोलिक; जैसे जलवायु, तापमान, मौसम आदि, (3) सामाजिक; जैसे जनसंख्या की घनता, जनमत, रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यताएँ आदि, तथा (4) आर्थिक; जैसे निर्धनता, आर्थिक विकास, औद्योगिक सगठन आदि। डोनाल्ड टैफ्ट का भी कहना है कि अपराध एक सामाजिक घटना है जो व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक लक्षण तथा उसके व्यक्तित्व के ऊपर पर्यावरण के प्रभाव के कारण पैदा होती है।[66]

अलबर्ट कोहेन ने इस बहुकारकवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। इनका कहना है कि एक-कारकवादी सिद्धान्तों में यद्यपि एक 'कारण' पर बल दिया गया है पर उस कारण के लिए बहुत 'कारक' उत्तरदायी बताये गये हैं।[67] इस तरह वह

---

[64] 'Crime is assignable to no single universal source, nor yet to two or three: it springs from a wide variety and usually from a multiplicity of alternative and converging influences.' Cyril Burt, *Young Deliquent*, 1925, 599–600.

[65] Vold George, *op. cit*, 305.

[66] Donald Taft, *Sociology*, 1956, Chapter 18.

[67] Albert Cohen, *Deviance and Control*, (1966), *op. cit.*, and *Delinquent oys*, (1955).

'कारण' और 'कारक' में अन्तर मानता है। इसको समझने के लिए हम एक उदाहरण ले सकते हैं। किसी युवक का परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने का कारण उसका अच्छी तरह न पढना ही होगा परन्तु इस अच्छी तरह न पढने के कारक बहुत हो सकते हैं जैसे पुस्तकों का न होना, पढ़ाई में अरुचि, बीमार पड़ जाना आदि। इसी तरह एक-कारकवादी मनोविकार विश्लेषण के सिद्धान्त में यद्यपि निराशा अपराध का एकमात्र कारण बताया गया है पर यह निराशा क्यों उत्पन्न होती है इसके लिए बहुत से कारक दिये गये हैं। अन्य एक-कारकवादी सिद्धान्तो मे भी यह ही चीज मिलती है। इस कारण बहुकारकवादी सिद्धान्त एक-कारकवादी सिद्धान्त से बहुत भिन्न नही है। दोनों मे यह समझाया जाता है कि एक तथ्य के एक पहलू में आने वाले परिवर्त्य (variable) दूसरे पहलुओ के परिवर्त्यो से कैसे सम्बन्धित होते हैं।

कोहेन की आलोचना के अलावा बहुकारकवादी सिद्धान्त की एक और आलोचना भी दी जा सकती है। इसमे हम कोई कल्पना नही बना सकते जिसको लेकर आवश्यक तथ्य इकट्ठा करके उसको प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सके। फिर बहुकारकों में हम हर कारक को उचित महत्त्व भी नही दे सकते। इसलिए हाल ही मे काल्डवैल[68] द्वारा बहुकारकवादी सिद्धान्त का संशोधन, कि किन्हीं चुने हुए सांख्यिकीय कारको को लेकर अपराध समझाया जा सकता है, अधिक वैज्ञानिक सुझाव लगता है।

अपराध के कारक

अपराध के कारको को हम दो समूहों में रख सकते हैं : एक, प्रत्यक्ष कारक; और दूसरे, अप्रत्यक्ष कारक। अप्रत्यक्ष कारक वह है जो सीधे रूप मे अपराध पर प्रभाव नही डालते। उनका अपराधी व्यवहार मे कार्य गौण व द्वितीयक (secondary) है। जलवायु, तापमान, भूमि आदि कुछ भौगोलिक कारक ऐसे है जिनको इस समूह मे रखा जा सकता है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष कारको का अपराध के ऊपर सीधा प्रभाव होता है जिस कारण इनका वैज्ञानिक रूप से अध्ययन भी किया जा सकता है। यह प्रत्यक्ष कारक तीन उप-समूहो में बांटे जा सकते हैं—शारीरिक, मानसिक और परिस्थिति सम्बन्धी कारक। शारीरिक कारको मे पैतृकता, और शारीरिक दोष जैसे शारीरिक अयोग्यता, पुरानी बीमारी, शारीरिक बल का अधिक होना आदि आते है, मानसिक कारको में मन्द बुद्धि, संवेगात्मक व्याकुलता, मानसिक संघर्ष, भय और नैराश्य आते हैं; और परिस्थिति सम्बन्धी कारको मे पारिवारिक दशाएँ, बुरे सम्पर्क, सिनेमा और कामुक उपन्यास, निर्धनता और बेकारी, सामाजिक रीति-रिवाज आदि आते है इन सबका हम अलग-अलग उल्लेख करेंगे।

[68] Caldwell, *Criminology*, *op. cit.*, 136–55.

1. शारीरिक कारक

(1) **वंशानुक्रम** (Heredity)—1875 और 1938 के बीच अपराध में वंशानुक्रमण के कार्य को मालूम करने के लिए चार प्रकार के अध्ययन हुए थे—(क) माता-पिता और उनकी सन्तान के बीच अपराधी सम्पर्क का अध्ययन। (ख) अपराधियों का 'Savage family trees' से तुलनात्मक अध्ययन। (ग) प्रसिद्ध और पतित परिवारों का अध्ययन। (घ) समान और असमान लिंग की जुड़वा सन्तान का तुलनात्मक अध्ययन। पहले वाले माता-पिता और उनकी सन्तान के अध्ययन में चार्ल्स गोरिंग ने 1913 मे अपराधी मनोवृत्ति के पित्रागम को समझाने का प्रयत्न किया था। दूसरे अध्ययन में लोम्ब्रोजो ने अपराधी शारीरिक विशेषताओं व दोषों को पैतृकता द्वारा निर्धारित होना बताया था। तीसरे प्रसिद्ध और पतित परिवारो के अध्ययन मे विन्शिप ने एडवर्ड वंश की 1394 सन्तानों का, इसाबूक ने ड्यूक वश की 1200 सन्तानो का, गोडार्ड ने कैल्लीकाक वंश की 480 सन्तानों के इतिहास के अध्ययन द्वारा अपराध मे पैतृकता का महत्त्व स्पष्ट किया था। चौथे जुड़वा सन्तान के अध्ययन में लांगे, फ्रीमैन, न्यूमैन और हालजिन्गर, तथा क्रान्ज आदि ने समान और असमान लिंग की जुड़वा सन्तान का अध्ययन करके न केवल पैतृकता का अपराध मे विवेचन किया, परन्तु यह भी सिद्ध किया कि समान लिंग की जुड़वां सन्तान में असमान लिंग की जुड़वा सन्तान की अपेक्षा अपराधी व्यवहार मे अधिक एकरूपता होती है।

इन सभी अध्ययनों का मुख्य दोष यह है कि इनमे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और परिस्थिति कारक की अवहेलना की गयी है। किसी भी व्यवहार को, चाहे वह अपराध ही क्यो न हो, पैतृकता और पर्यावरण दोनों के सम्बन्ध के आधार पर ही समझाया जा सकता है। ऐशले माटेग्यू का भी कहना है कि अपराध एक सामाजिक घटना है, जैविकीय घटना नहीं क्योंकि इस बात को मानने का कोई भी प्रमाण नहीं है कि अपराध करने के लिए कोई मनोवृत्ति को पैतृकता द्वारा प्राप्त करता है।[69]

इसका यह अर्थ भी नही है कि वंशानुक्रमण का अपराध मे कोई महत्त्व नहीं है। कुछ ऐसे आनुवंशिक लक्षण सम्भव हो सकते है जिनका अपराधी व्यवहार पर अप्रत्यक्ष प्रभाव हो सकता है। आजकल जो विचारक बहुकारकवादी सिद्धान्त को मानते हैं उनका भी यह कहना है कि उन विभिन्न कारणो मे से, जिनके कारण अपराध होता है, वंशानुक्रमण एक कारण है।

(2) **शारीरिक अयोग्यता** (Physical disability)—*शारीरिक अयोग्यता* जैसे दृष्टिहीनता, बहरापन, लगड़ापन, गंजापन आदि के कारण जब व्यक्तियों को तिरस्कृत किया जाता है या उनको चिढाया व छेड़ा जाता है तो वे अपना सन्तुलन खो बैठने हैं अथवा सामान्य सम्पर्कों से किनारा कर लेते हैं। इसके कारण उनमें पैदा हुई हीनता *की भावना उनके व्यक्तित्व को ही बदल देती है। नये उत्पन्न विचारों*

[69] Ashley Montague, *The Annals*, Vol. 17, Sept. 1941.

और धारणाओं के कारण वे समाज-विरोधी कार्य करने लगते हैं।

(3) गम्भीर रोग (Acute illness)—गम्भीर रोग के कारण व्यक्ति दिवा-स्वप्न देखने लगता है जिसके कारण उसके व्यक्तित्व में मायावी और असत्य कल्पनाओं का विकास होता है। दिवा-स्वप्न व्यक्ति को न केवल सुस्त बनाता है पर उसे प्रतिहिंसात्मक आदि कार्य करने के लिए भी बाध्य करता है।

(4) शारीरिक बल का अधिक होना (Excess of physical strength)—सिरिल वर्ट के अनुसार अधिक शारीरिक बल होने के कारण व्यक्ति में घमण्ड और श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह भावना ही उसे मार-पीट जैसे अपराधों की प्रेरणा देती है।

2. मानसिक कारक

(1) मन्द बुद्धि—मन्द बुद्धि व्यक्ति की वह अवस्था है जिसमें मानसिक विकास की कमी के कारण वह समाज की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाता। मन्द बुद्धि मानसिक आयु के आधार पर तीन स्तर पर विभाजित की गयी है—(क) इडयासी (idiocy)—वह व्यक्ति जो सदैव तीन साल से कम आयु वाले बच्चे की तरह व्यवहार करता है। (ख) इम्बेसिलटी (imbecility)—वह व्यक्ति जो सदैव तीन साल से ऊपर और सात साल से कम आयु वाले बच्चों जैसा व्यवहार करता है। (ग) मोरोन्टी (moronity)—वह व्यक्ति जो सदैव सात साल से ऊपर और बारह साल से कम आयु वाले बच्चे जैसा व्यवहार करता है। इनमें से किसी भी स्तर के मन्द बुद्धि होने के कारण व्यक्ति अपने कार्यों को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीकों से नहीं कर पाता। वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए असामाजिक तरीकों के प्रयोग मे कोई हानि नही समझता और यह अवैध तरीके ही उसके अपराध का कारण होते हैं। साइकोसिस और न्यूरासिस जैसे मानसिक रोगों के कारण अथवा साइकोपैथिक व्यक्तित्व होने के कारण भी व्यक्ति अपराध करते हैं। 1932–35 के बीच ब्राम्वर्ग और थाम्सन द्वारा न्यूयार्क मे 9658 कैदियो के अध्ययन में 17·7 प्रतिशत अपराधियों में मानसिक रोग पाया गया। इनमें से 1·5 प्रतिशत साइकोटिक थे, 6·9 प्रतिशत न्यूराटिक थे, 6·9 प्रतिशत साइकोपैथिक व्यक्तित्व वाले थे और 2·4 प्रतिशत मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति थे।[70]

(2) संवेगात्मक व्याकुलता और नैराश्य—कभी-कभी किसी घटना के आकस्मिक घटने के कारण व्यक्ति संवेगात्मक रूप से व्याकुल हो जाता है और अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठता है जो उसे अच्छाई और बुराई मे अन्तर मालूम होने नही देता। ऐसी अवस्था मे यदि वह कोई अपराधी कार्य कर बैठे तो आश्चर्य नही। एक कैदी को उसके दण्ड की अवधि समाप्त होने पर भी जब जेल के अधिकारी उसे जेल

[70] Bromberg, W. and Thompson, C. B., 'The relation of mental defect and personality types to crime', *Journal of Criminal Law Criminology*, May–June 1937, 70–89.

से न छोड़ें और उनके आनाकानी के कारण वह कैदी संवेगात्मक व्याकुलता के कारण भागने का प्रयत्न करे तो उसका कार्य जेल के नियमों के अनुसार अपराध ही कहलायेगा।

(3) **भय**—भय के कारण व्यक्ति डरपोक, षड्यन्त्र रचने वाला, असम्मत और शर्मीला बन जाता है। डारविन का भी कहना है कि 'भय से हृदय की गति बढ जाती है, चर्म (skin) पीली हो जाती है, सिर के बाल खड़े हो जाते हैं, शरीर कांपने लगता है और आतंक की भावना बढ जाने के कारण व्यक्ति असामाजिक कार्य करता है।'

(4) **अनुकरण और सुझाव**—कभी-कभी अन्य व्यक्ति द्वारा दिये गये सुझाव के कारण अपने विवेक और तर्क के विरुद्ध कोई व्यक्ति चोरी, हत्या या मारपीट जैसे अपराध कर बैठता है। इसी प्रकार अन्य व्यक्ति की नकल करना भी अपराधी व्यवहार का कारण बन जाता है। परन्तु सुझाव और नकल के आधार पर व्यवहार करने मे व्यक्ति की आयु, लिंग, बुद्धि आदि जैसे कारक महत्त्वपूर्ण होते है। एक बालक मे सुझाव को मानने की क्षमता एक युवा पुरुष से अधिक ही होती है। इसी तरह कम बुद्धि वाला व्यक्ति अधिक बुद्धि वाले व्यक्ति की तुलना में अन्य लोगो की आसानी से नकल करता है। इसके अलावा सुझाव, थकावट, भूख, नींद की कमी आदि जैसी आन्तरिक व्यवस्था से भी प्रभावित होता है।.

(5) **मानसिक संघर्ष**—जब व्यक्ति किसी समस्या को सुलझाने के लिए दो उपलब्ध हलों में से किसी एक हल का चुनाव नहीं कर पाता तो उसके मस्तिष्क में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी यह संघर्ष इतना तीव्र हो जाता है कि बाध्य होकर वह ऐसा अपराधी व्यवहार कर बैठता है जो सामान्य स्थिति मे न करता। मान लीजिए एक व्यक्ति की पत्नी और उसकी माता में कलह है; व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाता कि माता का साथ दे या पत्नी का, ऐसी अवस्था मे कभी वह अपनी पत्नी की हत्या ही कर देता है। यह अपराध उसके मानसिक संघर्ष के कारण हुआ।

3. परिस्थिति-सम्बन्धी कारक

परिवार—व्यक्ति का प्रारम्भिक समाजीकरण ही मौलिक एव मूलभूत होता है। समाजीकरण के विभिन्न साधनों मे परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि व्यक्ति अपने परिवार से जीवन के प्रथम चरण से लेकर अन्त तक बहुत अधिक सम्पर्क मे रहता है। वह उसके मूल्यो व आदर्शों आदि को निर्धारित कर उसके मानवोचित विकास को सम्भव करता है। इसी कारण अपराध-शास्त्रीय शोध मे वयस्क-अपराध और बाल-अपराध के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा बाल-अपराध और परिवार के पर्यावरण व शिशु के पालन-पोषण की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध में अध्ययन पर बल दिया जाता है। पारिवारिक जीवन निम्न प्रकार विभिन्न तरीकों से अपराध उत्पन्न कर सकता है—

(1) परिवार मे वे धारणाएँ, मूल्य व व्यावहारिक प्रक्रियाएँ उपलब्ध हैं जो अपराध सिखाने में सहायक होती है। व्यक्ति उन प्रक्रियाओं को अपनाकर केवल इस

कारण अपराधी बनता है क्योंकि उसने परिवार में अपराध करना सीखा है।

(2) परिवार व्यक्ति की समाज में सामाजिक वर्ग-स्थिति को निर्धारित करता है। यह स्थिति ही उसके परिवार के बाहर प्राथमिक सम्बन्धों को निश्चित करती है। यदि व्यक्ति एक निम्न आर्थिक व सामाजिक वर्ग का सदस्य है तो वह ऐसे प्राथमिक समूहों के सम्पर्क में आ सकता है जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त मूल्यों को नहीं अपनाते। इन्हीं के सम्पर्क में वह अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

(3) परिवार व्यक्ति के कुछ प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के पूर्वाधिकारों को भी प्रभावित करता है। परिवार से ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता व अनावश्यकता का, भाषा, व्यवसाय, राष्ट्रीयता व लक्षणों के आधार पर उनका मूल्यांकन करना सीखता है। कुछ प्रकार के लोगों के प्रति वह विशेष प्रकार की प्रक्रिया करना सीखता है। यह ही पूर्व विचार उसके अपराधी बनने की सम्भावना प्रभावित करते हैं। घर के बाहर जिन व्यक्तियों को ऊँची स्थिति प्रदान कर उनसे प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित करता है, यदि उनकी धारणाएँ और मूल्य असामाजिक हैं, तब उसके स्वयं के अपराधी बनने की सम्भावना अधिक होती है।

(4) परिवार व्यक्ति के रहने के लिए सामान्यतः संगठित और सुखी घर प्रदान करने में असफल हो सकता है। यदि परिवार में सदस्यों के पारस्परिक घृणित व अनिष्ठाकारी सम्बन्ध है, चाहे वह पत्नी के कारण हो या सन्तान के कारण अथवा माता-पिता के कारण, तो व्यक्ति घर छोड़कर जाना चाहेगा तथा घर में रहते हुए भी अपने को सदस्यों से अलग रखेगा। ऐसी परिस्थिति में घर से बाहर किस प्रकार के व्यक्तियों के संसर्ग में आता है, यह निर्धारित करेगा कि वह अपराधी बनेगा अथवा नहीं।

(5) परिवार व्यक्ति को नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा न देकर समाज का सक्रिय सदस्य बनाने में असहायक रहा हो। सही देख-भाल के अभाव में व आवश्यकता से अधिक सुरक्षा होने के कारण अथवा तिरस्कृत किये जाने के कारण वह समाज के नियमों को नहीं सीख सका हो। ऐसे 'निष्पक्ष' व्यक्ति का अपराधी व अनपराधी बनना उसके घर के बाहर प्राथमिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। परिवार में बच्चों को 'निष्पक्ष' व्यक्ति नहीं परन्तु अनपराधी व्यक्ति बनने की शिक्षा की आशा की जाती है। अपराधी प्रभावों के विरोध करने की शिक्षा के अभाव में वह स्वयं अपराधी व्यवहार स्वीकार करता है। इस प्रकार परिवार की दरिद्रता, विच्छिन्न परिवार, कठोर नियन्त्रण, मनोवैज्ञानिक अथवा संवेगात्मक व्याकुलता अपराधी बनने की परिस्थितियाँ पैदा करते हैं।

व्यक्तिगत और पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का पारस्परिक सम्बन्ध

व्यक्तिगत और पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का उपर्युक्त उल्लेख यह करता है कि केवल एक कारक अपराध उत्पन्न नहीं करता परन्तु सभी . अलग महत्त्व है। प्रत्येक कारक की प्रकृति और उसके अन्य कारकों से

भिन्नता है। जिस कारण इन सभी का अपराध में महत्त्व अलग-अलग मिलता है। रेक्लेस भी इस विचार का समर्थन करता है।[71] व्यक्तिगत कारकों का अपराध में इसलिए प्रभाव है कि वे व्यक्ति के समायोजन सम्बन्धी क्षमता को कम करते हैं और पर्यावरण सम्बन्धी कारको का प्रभाव इस कारण है कि वे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति मे बाधाएँ डालते है और इस प्रकार के मूल्य पैदा करते है जो उसको सगठित समाज के मूल्यो से सघर्ष में लाते है। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का अपराधी व्यवहार उसके व्यक्तिगत और पर्यावरण सम्बन्धी कारको से विकसित होता है, फिर चाहे किसी अपराध मे व्यक्तिगत कारक अधिक हों या पर्यावरण सम्बन्धी कारक।

अपराधियों की दण्ड-व्यवस्था

काल्डवैल के अनुसार 'दण्ड वह सजा है जो राज्य उस व्यक्ति को देता है जिसे अपराधी घोषित किया गया हो।'[72] दण्ड देने की तीन विचारधाराएँ बताई गयी है—

(1) **दण्डात्मक विचारधारा** (Punitive ideology)—इसके अनुसार अपराधी को दण्ड देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि (क) वह व्यक्ति की सम्पत्ति और जीवन के लिए एक खतरा है और फिर वह सुधारा भी नही जा सकता है। (ख) वह समाज के लिए एक खतरा है और समाज की सुरक्षा के लिए उसको दण्ड देना आवश्यक है।

(2) **निरोधात्मक विचारधारा** (Preventive ideology)—अपराधी को दण्ड देना इसलिए आवश्यक है जिससे (क) उसे दोबारा अपराध करने से रोका जा सके और (ख) अन्य व्यक्तियों को भी शिक्षा मिल सके कि वे अपराध की ओर प्रवृत्त न हो।

(3) **चिकित्सा-सम्बन्धी विचारधारा** (Therapeutic ideology)—इसके अनुसार अपराधी की तुलना एक रोगी से की जाती है। जिस प्रकार रोगी के रोग को क्षणिक मानकर उसकी चिकिरसा की जाती है उसी प्रकार अपराधी के अपराध को भी रोग मानकर उसका उपचार किया जाता है।

होम्स के अनुसार 'दण्ड का मुख्य उद्देश्य निरोधात्मक है।' नीमेसिस के अनुसार 'दण्ड का उद्देश्य है अपराधी को यह बताना कि अच्छे कार्य के लिए सदैव पुरस्कार मिलता है और बुरे कार्य के लिए उसे उसका फल भुगतना पड़ता है।'[73]

इस तरह अपराधी को दण्ड देने की आवश्यकता के लिए भिन्न-भिन्न मत हैं।

---

[71] 'We may have to abandon the search for causes and be content with a study of the factors which while not explaining why individuals become criminals will indicate the risk for becoming criminal.' Reckless, Walter C., *Criminal Behaviour*, 181.

[72] Caldwell, *op. cit.*, 389.

[73] 'The object of punishment is to bring home to the mind of the wrong-doer that a good act is always rewarded and a bad one meets its own merited fate.' —Nemesis.

एक मत के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना एक धार्मिक उत्तरदायित्व है। दूसरे मत के अनुसार अपराधी को दण्ड देना इसलिए आवश्यक है जिससे वह पश्चात्ताप करे और पुनः ऐसा कार्य न करे। काण्ट के अनुसार अपराधी को नैतिक नियमों के उल्लघन के लिए दण्ड देना आवश्यक है। हीगल के अनुसार दण्ड इसलिए आवश्यक है कि जिससे क्षति के प्रभाव को नष्ट किया जा सके। बैकेरिया के अनुसार दण्ड समाज की रक्षा के लिए आवश्यक है। गैरोफैलो के अनुसार अपराधी को दण्ड देने से उसकी अपराधी प्रवृत्ति पर आघात लगता है।

इन्ही विभिन्न उद्देश्यों के आधार पर दण्ड के मुख्य रूप से चार सिद्धान्त दिये गये है—

(1) **प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त** (Retributive Theory)—इस सिद्धान्त का आधार है 'दाँत का दाँत और आँख के लिए आँख' तथा 'बदले की भावना' (revenge) जिससे अपराधी को अपने अपराध की भीषणता का आभास हो सके। बदला इसलिए भी आवश्यक समझा जाता है क्योंकि (क) व्यक्ति ने कानून का *उल्लघन किया है और किसी को हानि पहुँचाई है।* (ख) *क्योंकि* समाज के प्रति अपने कर्तव्य का वह पालन नही कर सका है। (ग) यदि अपराधी को दण्ड नही दिया जायेगा तो जो व्यक्ति अपराध का शिकार हुआ है वह स्वय या उसके सम्बन्धी अथवा साथी अपराधी से बदला लेने के लिए स्वयं कानून तोड़ेंगे या फिर समाज को अपना सहयोग प्रदान नही करेंगे क्योंकि समाज ने उनकी रक्षा नही की।

इस सिद्धान्त की सिडविक, मैकेन्ज़ी आदि ने आलोचना की है। सिडविक का कहना है कि 'दण्ड का उद्देश्य बदले की भावना न होकर समाज की रक्षा करना होना चाहिए।' मैकेन्ज़ी[74] का भी कहना है कि अपराधी को दण्ड बदले की भावना से नही दिया जाता परन्तु इसलिए दिया जाता है कि उसे यह आभास हो सके कि वह दण्ड उसके स्वयं के कार्य का परिणाम है। इसी से वह पश्चात्ताप भी करेगा और भविष्य में पुनः अपराध करने से भी रोका जा सकेगा।

(2) **निरोधात्मक सिद्धान्त** (Preventive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार क्योंकि अपराधी सुधार के अयोग्य होने के कारण कभी नहीं सुधारा जा सकता इसलिए उसे समाज से अलग करने के लिए मृत्यु-दण्ड अथवा जीवन भर के लिए कारावास देना चाहिए। इन सिद्धान्तों के मूल मे यह भावना निहित मालूम होती है कि 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'। परन्तु चूँकि आजकल अपराधी के विचलित व्यवहार के कारण कुछ सामाजिक व कुछ व्यक्तिगत माने जाते हैं इसलिए यह कहा जाता है कि इन कारणों को दूर करने से ही अपराधी को सुधारा जा सकता है। इसी मान्यता के कारण दण्ड का निरोधात्मक सिद्धान्त कोई नहीं मानता।

(3) **प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त** (Deterrent Theory)—इस सिद्धान्त का उद्देश्य है न केवल अपराधी को दण्ड देकर पुनः अपराध करने से रोकना परन्तु

---

[74] Mackenzie, *Manual of Ethics*, 1938, London, 366.

उसी दण्ड के भय द्वारा अन्य व्यक्तियों को भी अपराध की ओर प्रवृत्त होने से रोकना। जान सालमण्ड ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उसका कहना है कि 'दण्ड का प्रमुख उद्देश्य है गलत कार्य करने वाले (evil-doer) को उदाहरण बनाकर अन्य व्यक्तियों को चेतावनी देना।' इसलिए इस सिद्धान्त को मानने वाले अपराधी को सार्वजनिक स्थान में कठोर दण्ड देने के पक्ष मे हैं। परन्तु इस सिद्धान्त को भी अब अधिक नहीं माना जाता क्योंकि अधिकांश अपराध भावनात्मक होते हैं और इन अपराधों मे दण्ड प्रतिरोधक कार्य नहीं कर सकता है। अपराधी को बहुत गम्भीर अपराध के लिए मृत्यु-दण्ड देने का उद्देश्य भी प्रतिरोधन है। परन्तु जिन देशों मे मृत्यु-दण्ड की प्रथा को समाप्त कर दिया गया वहाँ अपराध की दर में कोई वृद्धि नहीं हुई है। उदाहरण के लिए इटली में मृत्यु-दण्ड 1890 में समाप्त कर दिया गया था पर 1933 में मुसोलिनी ने उसे फिर शुरू किया। 1945 में उसे फिर समाप्त कर दिया गया। इसके खत्म होने से नर-हत्या की संख्या बढ़ने की अपेक्षा कम हो गया। 1945 मे जब 237 हत्याएँ हुई थीं, 1954 में केवल 46 हत्याएँ ही हुई। इसी प्रकार की चीज भारत में त्रावनकोर राज्य मे 1944 मे मृत्यु-दण्ड समाप्त करके 1950 में फिर से उसे शुरू करने पर मिली। इससे सिद्ध होता है कि मृत्यु-दण्ड अथवा किसी भी प्रकार के गम्भीर दण्ड का प्रतिरोधक मूल्य अधिक नहीं होता।

(4) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—अधिकांशतः दण्ड अपराधी को अपराध करने से रोकने के बजाय उसे समाज का शत्रु बना देता है। इसलिए बहुत से विद्वान् अपराधी को दण्ड देकर उससे बदला लेने की अपेक्षा उसको सुधारने के पक्ष में है। इस सिद्धान्त की रचना आजकल माने हुए अपराध के सामाजिक व व्यक्तिगत कारकों पर ही आधारित है। व्यक्ति के अपराध के कारणों को वैज्ञानिक रूप से मालूम करके उन्हे वैज्ञानिक रूप से ही दूर करना चाहिए। अपराधी के केवल शरीर और मन को कष्ट पहुँचाकर उसे सुधारा नहीं जा सकता। जेम्स सेठ का भी कहना है कि 'अपराधी का सही सुधार तभी सम्भव है जब वह दण्ड को स्वयं सही और आवश्यक समझे।'[75]

अपराध के प्रति दण्ड की प्रतिक्रिया अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समय मे बदलती रहती है। सदरलैण्ड ने इसको 'सांस्कृतिक स्थायित्व के' तत्त्व के आधार पर समझाया है। इसके अनुसार कानून के उल्लंघन के प्रति समाज की प्रतिक्रिया और इस प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करने की विधि अथवा दण्ड की प्रकृति समाज से मान्यता-प्राप्त व्यवहार के योग्य होती है।[76] उदाहरण के लिए पन्द्रहवीं और सोलहवीं

[75] 'True reformation (of an offender) comes only with the acceptance of punishment by mind and heart. The judgment of society upon the man must become a judgment of the man upon himself if it is to be effective as an agent in his reformation.' James Seth, *A Study of Ethical Principles*, Edinburgh, 1911, 332.

[76] Sutherland, *op. cit*, 298–300.

शताब्दियों में शारीरिक कष्ट व्यक्ति का स्वाभाविक अंश (lot) समझा जाता था जिसके कारण उस काल में अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। आधुनिक काल मे क्योंकि हमारी प्रतिक्रिया भिन्न है इस कारण दण्ड की प्रकृति भी बदल गई है।

चार्ल्स वर्ग तथा पाल रेवाल्ड ने इसको 'बलि के बकरे' के तत्त्व से सम्बन्धित किया है। इसके अनुसार दण्डात्मक प्रतिक्रियाओं में भिन्नता का सम्बन्ध लिंगीय और आक्रमण की मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति से है। जब समाज इन प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिए व्यक्तियो को साधन उपलब्ध नही करता तब वे उनकी पूर्ति के लिए अपराधी को बलि का बकरा बनाते हैं और उसके लिए कठोर दण्ड निर्धारित करते हैं; परन्तु जब उनके लिए पूरे साधन जुटाये जाते है तब अपराधी को दण्ड साधारण दिया जाता है। परन्तु इस (दण्ड में भिन्नता पर आधारित) सिद्धान्त को आजकल कोई नही मानता। कुछ अन्य लोगो ने फिर दण्ड की विभिन्नता को समाज की आर्थिक दशा अथवा समाज मे निम्न मध्य वर्ग की प्रधानता तथा समाज मे श्रम-विभाजन में होने वाले परिवर्तनो के आधार पर समझाया है।

भारत में दण्ड-व्यवस्था

भारत मे प्राचीन काल, मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल में दण्ड की व्यवस्था अलग-अलग थी। प्राचीन भारत मे अपराधियो को दण्ड राजा ही दिया करते थे। दण्ड अधिक गम्भीर नही होते थे। कोड़े मारना, यन्त्रणा देना, शरीर के अग काटना आदि जैसे दण्ड नही दिये जाते थे, परन्तु कुछ अपराधो के लिए देश निष्कासन की सजा दी जाती थी। चीजों में मिलावट और वेश्यावृत्ति इतने गम्भीर अपराध माने जाते थे कि उनके लिए मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। ब्राह्मण काल मे ब्राह्मणो को दण्ड में कुछ रियायतें दी गयी थी। किसी भी गम्भीर अपराध के लिए उनको मृत्यु-दण्ड नही मिलता था और न राज्य उनकी सम्पत्ति को जब्त करता था। बहुत गम्भीर अपराध के लिए अधिक से अधिक उनका सिर गंजा कर दिया जाता था। दूसरी ओर शूद्रों के छोटे-छोटे अपराधों के लिए गम्भीर दण्ड निर्धारित थे। मुस्लिम काल में कुरान मे दिये गये नियमो के आधार पर दण्ड निर्धारित था। यद्यपि अकबर के समय मे दण्ड गम्भीर नही था परन्तु औरगजेब के राज्य मे अपराधियो को शेर या चीते से लड़वाना, जिन्दा दीवार में चुन देना, हाथी के पाँवों तले कुचलवाना आदि दण्ड के तरीके भी प्रयोग मे लाये जाते थे। ब्रिटिश काल में इन यन्त्रणा देने वाले तरीको को समाप्त कर दिया गया तथा कैद करने पर अधिक बल दिया गया। जेलो में सुधार करके उनके द्वारा अपराधियों का सुधार किया जाने लगा। इन सुधारात्मक तरीको का अब हम अलग उल्लेख करेंगे।

अपराधियों का सुधार

आधुनिक काल में अपराधियों का सुधार इस धारणा पर आधारित है कि कोई भी अपराधी सुधार के अयोग्य नही है तथा उसके व्यक्तित्व और पर्यावरण का

अध्ययन करके उसके अपराधी व्यवहार को रोका जा सकता है और उसे समाज का नियम-पालक सदस्य बनाया जा सकता है। इस तरह अपराधियों के प्रति हमारा आज का दृष्टिकोण घृणा, शत्रुता, द्वेष, विरोध जैसी धारणाओं पर आधारित न होकर दया और सहानुभूति जैसी भावनाओं पर आधारित है। इन्हीं नयी धारणाओं के आधार पर आज के बन्दी-गृहों, परिवीक्षा (probation) तथा पैरोल (parole) की सेवाओं और अन्य सुधारवादी संस्थाओं का संगठन किया गया है। यहाँ पर हम *अपराधियों के सुधार के लिए अपनाये गये दो प्रकार के प्रयत्नों का उल्लेख करेंगे*—(क) जेलों में सुधार, (ख) प्रोबेशन की सेवाएँ।

जेल प्रणाली—ब्रिटिश काल से पहले अपराधियों को बन्दी-गृहों में रखना उनके सुधार का साधन नहीं परन्तु बन्दी बनाये रखने का तरीका माना जाता था। इस कारण उस समय की जेलों की व्यवस्था आज की व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न थी। जेलों में अपराधियों के वर्गीकरण पर तथा लिंग, आयु व अपराध की प्रकृति के आधार पर पृथक्करण पर कोई बल नहीं दिया जाता था। खाने, पहनने व कार्य करने की व्यवस्था पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। सफाई और स्वास्थ्य की दशाएँ भी अत्यन्त असन्तोषजनक थी। 1838 में सारे भारत में केवल 286 जेल थी जिनमें लगभग 75,000 अपराधियों को रखने की व्यवस्था थी। जेलों में रखे गये कुल अपराधियों में से 85 प्रतिशत से अधिक अपराधियों से पत्थर कूटने और सड़कें बनाने का ही कार्य लिया जाता था। परन्तु अंग्रेजों ने अपराधियों के सुधार में जेलों को एक मुख्य साधन मानकर उनमें बहुत से सुधार किये। 1836, 1864, 1877, 1888 और 1919 में विभिन्न जेल सुधार समितियों की नियुक्ति कर जेलों में बहुत से सुधार किये गये। विशेषकर 1919–20 के जेल कमेटी की सिफारिशों के आधार पर खाने, रहन-सहन, प्रशिक्षा, मनोरंजन आदि व्यवस्था में परिवर्तन किये गये। इस कमेटी द्वारा दिये गये कुछ सुझाव इस प्रकार थे—(1) बेड़ियों और कठोर कार्य पर प्रतिबन्ध लगाये जाएँ। (2) रात को काल कोठरी में बन्द रखना समाप्त किया जाये। (3) बीमारी के लिए जेल के अन्दर ही चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाये। (4) आयु, लिंग आदि के आधार पर अपराधियों का पृथक्करण किया जाये। (5) दण्ड के काल में छूट की व्यवस्था शुरू की जाये। (6) अपराधियों को अपने रिश्तेदारों से सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए पत्र लिखने तथा मिलने की सुविधाएँ दी जाएँ। (7) पच्चीस वर्ष से कम आयु वाले अपराधियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया जाये। (8) अच्छा खाना और कपड़ा देना चाहिए। (9) विचाराधीन अपराधियों को दण्डित अपराधियों से अलग रखा जाये। (10) प्रोबेशन और पैरोल सेवाओं की व्यवस्था की जाये। (11) जेलों में वेतन की व्यवस्था करनी चाहिए। इनमें से लगभग सभी सुझावों को बाद में कार्यान्वित भी किया गया।

भारत में आजकल तीन प्रकार के जेल मिलते हैं—(1) अधिक सुरक्षा वाले बन्द जेल, (2) मध्यम सुरक्षा वाले बन्द जेल अथवा आदर्श बन्दी-गृह, और (3) खुली सुरक्षा वाले जेल अथवा खुले बन्दी-गृह। सबसे अधिक सुरक्षा वाले जेलों में

निम्न लक्षण पाये जाते है—दण्डित और विचाराधीन अपराधियों का पृथक्करण, निवाड़ व दरी बनाने, बढ़ई व लुहार का कार्य सिखाने तथा रंगाई आदि के प्रशिक्षण के प्रबन्ध, रिश्तेदारों से मिलने की व्यवस्था, अच्छे खाने व सफाई का प्रबन्ध तथा कुछ जेलों में वेतन व्यवस्था का प्रबन्ध।

आदर्श बन्दी-गृहों में साधारण जेलो की अपेक्षा स्वतन्त्र वातावरण व आत्म-निर्भरता के प्रयास मिलते हैं। यहाँ वेतन की व्यवस्था व पचायत का सगठन भी मिलता है। अपराधियों के नियन्त्रण का कार्य स्वय अपराधियों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों तथा पंचायतों को देकर अपराधियो का सहयोग प्राप्त करने के लिए एक मनोवैज्ञानिक तरीका अपनाया गया है। लगभग हर राज्य मे एक आदर्श बन्दीगृह मिलता है। उत्तर प्रदेश में ऐसा जेल लखनऊ में, महाराष्ट्र मे यरवदा में तथा राजस्थान में अजमेर मे मिलते है (अजमेर आदर्श बन्दी-गृह दिसम्बर 1956 मे स्थापित किया गया था)। इन आदर्श बन्दी-गृहो में उन्ही अपराधियो को रखा जाता है जिनका व्यवहार साधारण जेल में सन्तोषजनक पाया जाता है। यहाँ पुस्तकालय, अस्पताल, पंचायत, कैण्टीन तथा पढ़ाई आदि की विशेष व्यवस्था मिलती है। अपराधियो से कृषि सम्बन्धी कार्य करवाने के अतिरिक्त उन्हें कुछ उद्योग-धन्धो मे भी प्रशिक्षण दिया जाता है। नैतिक और धार्मिक व्याख्यानों के लिए कभी-कभी बाहर से कुछ व्यक्तियों को बुलाया जाता है। काम करने के लिए प्रतिदिन कुछ पैसे दिये जाते है। अपराधियो की छटनी के लिए एक स्वागत सत्कार केन्द्र (reception centre) भी होता है।

खुले बन्दी-गृह अधिक सुरक्षा वाले जेलो और आदर्श बन्दी-गृहो से इस प्रकार भिन्न है कि (1) उनमें अपराधियो को भागने से रोकने के लिए लम्बी दीवारो, तारो और चौकीदारों आदि जैसे कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किये जाते। (2) अपराधी स्वय ही वेतन कमाकर अपने खाने-पीने आदि का प्रबन्ध करते है। (3) अपराधी अपने परिवार के सदस्यों को अपने साथ रख सकते है। (4) अपराधियो को समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है। इन सब उपायों का अपराधियो के सुधार पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इन लक्षणो के कारण खुले बन्दी-गृहो में उन अपराधियो को ही रखा जाता है जो 21 वर्ष से ऊपर तथा 50 वर्ष से कम होते है, जिनका व्यवहार साधारण कारावास मे असन्तोषजनक नही पाया जाता, जो शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ होते हैं, जो स्वय कार्य करके वेतन कमाकर अपने खाने, कपड़े आदि का प्रबन्ध करना चाहते है तथा जिनकी सजा की अवधि कम मे कम नौ मास शेष रह गयी है। खुले बन्दी-गृहो को स्थापित करने के मुख्य उद्देश्य ये थे—(1) अच्छे व्यवहार के लिए प्रतिफल देना, (2) आत्म-निर्भरता और उत्तरदायित्व की शिक्षा देना, (3) ऐसा कृषि व व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण देना जो जेल से छूटने के बाद अपराधी को समाज में फिर से बसाने में सहायता करे, तथा (4) सार्वजनिक योजनाओ के लिए भरोसे वाला श्रम (dependable labour) जुटाना।

इस प्रकार का सबसे पहला खुला जेल उत्तर प्रदेश में नवम्बर 1952 मे बनारस जिले मे चन्द्रप्रभा नदी के ऊपर बाँध बनाने के लिए प्रारम्भ किया गया था। इसका नाम 'सम्पूर्णानन्द शिविर' रखा गया था। यह शिविर अब नैनीताल जिले में स्थित है। इस प्रकार की जेल अब उत्तर प्रदेश के अलावा राजस्थान, बिहार, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र मे भी पाये जाते हैं। राजस्थान मे इस प्रकार के इस समय तीन जेल है। पहला जयपुर जिले के दुर्गापुरा में सितम्बर, 1955 में प्रारम्भ किया गया था, दूसरा सागानेर में सितम्बर, 1962 में और तीसरा अनूपगढ मे फरवरी 1964 में खोला गया था।

सागानेर मे इस समय लगभग पन्द्रह, दुर्गापुरा में दस, और अनूपगढ़ में 150 अपराधी रह रहे है।* अनूपगढ़ मे रहने वाले अपराधियों से राजस्थान नहर की खुदाई का कार्य लिया जाता है। सांगानेर मे रहने वालो को हस्तकला, कुटीर उद्योग, बागवानी और कृषि की शिक्षा दी जाती है। राजस्थान मे इस समय कुल दो केन्द्रीय जेल (जयपुर व जोधपुर मे), पाँच जिला जेल (बीकानेर, कोटा, उदयपुर, अलवर तथा श्रीगंगानगर में), एक आदर्श बन्दी-गृह (अजमेर मे), बाल अपराधियों के लिए रिफामेट्री (उदयपुर मे), स्त्रियों के लिए रिफामेट्री (जयपुर मे) और 74 उप-जेल है। 1962 में राजस्थान के जेलों में सुधार के लिए एक राजस्थान जेल रिफार्म कमीशन भी नियुक्त किया गया था जिसने 1964 मे अपने सुझाव दिये थे।

अक्टूबर, 1951 में भारत सरकार के आमन्त्रण पर सयुक्त राष्ट्र संघ ने डा० वाल्टर रेक्लेस को यहाँ के अपराधियों के अध्ययन के लिए भेजा था जिसने जेलों में कुछ सुधार सम्बन्धी सुझाव दिये थे। इनमें से मुख्य थे—बाल अपराधियो को अलग रखना, परिवीक्षा सेवाओं का विकास, उत्तर रक्षा सेवाओ का विस्तार, कृषि फार्म की व्यवस्था, जेल नियमावली (manual) मे सुधार इत्यादि।

परिवीक्षा या प्रोबेशन सेवाएँ—परिवीक्षा (probation services) वह व्यवस्था है जिसमे अपराधी को दण्ड देना स्थगित करके उसे कुछ शर्तो पर मुक्त कर दिया जाता है। मुक्ति के बाद उसे अपने ही परिवार मे रहने की अनुमति देने का उद्देश्य यह है कि उसे जेल जाने के सामाजिक कलंक (social stigma) से बचाया जा सके जिसका उसके सुधार पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडे। साथ मे अपने ही परिवार मे रहने से वह न केवल समाज के सम्पर्क मे रहकर अपना सुधार करेगा अपितु परिवार के प्रति जो उसके धनोपार्जन आदि कर्तव्य है उनका भी पालन करता रहेगा। मुक्ति के बाद अपराधी को परीवीक्षा अधिकारी के निरीक्षण मे रखा जाता है, जिससे वह (अपराधी) उसकी सहायता और सुझावो से अपने विचार और धारणाएँ बदलकर अपनी अपराधी मनोवृत्तियों को दूर कर सके। इस उल्लेख के आधार पर परिवीक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: 'वह व्यवस्था जिसमें अपराधी को दण्ड देना स्थगित करके उसे कुछ शर्तों पर मुक्त करके उसका

* These figures pertain to April 1973.

निरीक्षण किया जाए।'

वार्न्स और टीटर्स के अनुसार परिवीक्षा वह व्यवस्था है जिससे अपराधियों को जेल के अप्राकृतिक और अस्वस्थ वातावरण में भेजने के बजाय समाज में रखकर उनका निरीक्षण द्वारा सुधार किया जाता है।[77]

परिवीक्षा में दण्ड को केवल स्थगित ही किया जाता है ताकि यदि अपराधी निश्चित शर्तों पर उल्लघन करे तो उसे वापस न्यायालय में बुलाकर दण्डित किया जाए। इस तरह परिवीक्षा के चार मुख्य लक्षण है—(1) दण्ड को स्थगित करना; (2) समुदाय मे रहने की अनुमति; (3) कुछ शर्तें निर्धारित करना; तथा (4) निरीक्षण की व्यवस्था।

अधिकाश अपराधों में अपराधी को परिवीक्षा पर छोड़ने से पहले उसके अपराध की परिवीक्षक अधिकारी द्वारा सामाजिक छानबीन (social investigation) कराई जाती है। यह सामाजिक छानबीन पुलिस की छानबीन से इस प्रकार भिन्न है कि इसमे अपराधी के व्यक्तित्व, पर्यावरण और उसके पिछले रिकार्ड का अध्ययन करके अपराध करने के सही कारण को मालूम करने का प्रयत्न किया जाता है जो कि पुलिस की छानबीन मे नही मिलता। परिवीक्षक अधिकारी की यही छानबीन की रिपोर्ट कोर्ट के लिए अपराधी को परिवीक्षा पर छोडने या न छोड़ने का आधार बनती है।

सर्वप्रथम यह व्यवस्था अमरीका में 1841 में गैर-सरकारी तौर पर जॉन आगस्टम द्वारा शुरू की गयी थी। उसने 17 साल में (1858 तक) लगभग 1900 अपराधियों को (1100 पुरुष तथा 800 स्त्रियों) कोर्ट द्वारा परिवीक्षा पर छुडवाकर उनको सुधारने का प्रयत्न किया था। सरकारी तौर पर यह व्यवस्था वहाँ 1878 में ही प्रारम्भ की गयी थी परन्तु विस्तृत रूप मे 1925 के बाद ही इसका अधिक प्रयोग किया गया है। इंग्लैण्ड में यह व्यवस्था 1887 मे शुरू हुई थी।

भारत में अपराधियों को परिवीक्षा पर छोडने की व्यवस्था 1888 (C.P.C.) में की गयी थी पर उसमें न तो निरीक्षण आवश्यक था और न सामाजिक छानबीन। फिर, उसके आधार पर केवल प्रथम अपराधियों को ही परिवीक्षा पर छोड़ने की व्यवस्था थी। 1931 में भारत सरकार ने अपराधियों के लिए एक परिवीक्षण बिल बना करके विभिन्न राज्यों को उनके विचार मालूम करने हेतु भेजा परन्तु प्रोत्साहित उत्तर के अभाव मे उसे पास नही किया गया। 1934 मे केवल राज्यों को यह कहा गया कि यदि वे चाहे तो अपने राज्य के लिए परिवीक्षा एक्ट पास कर सकते हैं। इस पर 1936 मे मद्रास और मध्य प्रदेश ने, 1938 में बम्बई और उत्तर प्रदेश ने, 1953 मे हैदराबाद ने, और 1954 में बगाल ने परिवीक्षा एक्ट पास किए। परन्तु इन अधिनियमों का क्षेत्र बहुत सीमित था। विस्तृत रूप मे 1958 मे भारत सरकार ने केन्द्रीय परिवीक्षा एक्ट पास किया था जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों ने अपने-

[77] Barnes and Teeters, *op. cit.*, 553.

अपने राज्यो के लिए परिवीक्षा एक्ट पास किये। 1959 में विहार ने, 1960 में केरल, मध्य प्रदेश, मैसूर और बंगाल ने, और 1962 मे असम, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और राजस्थान ने (1958 के एक्ट के आधार पर) अपने-अपने राज्यो में परिवीक्षा एक्ट पास किये।

उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात और तमिलनाडु के अपने अलग कानून हैं। 1958 एक्ट के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं : (1) उन अपराधियों को परिवीक्षा पर मुक्त करना जिनके अपराध के लिए दो वर्ष से कम का दण्ड निश्चित हो। (2) निरीक्षण का आवश्यक होना। (3) अधिक से अधिक 3 वर्ष तक परिवीक्षा पर छोडना। (4) आवश्यक केस (case) मे सामाजिक छानबीन करवाना। (5) इसमें निश्चित अवधि से पहले छोड़ने, परिवीक्षा समाप्त करने, और अवधि को कम करने की भी व्यवस्था की गयी है।

1969 मे सारे भारत में निरीक्षण वाले परिवीक्षकों की संख्या 13782 थी जिसमें से 9246 परिवीक्षक 1958 केन्द्रीय एक्ट अथवा राज्य एक्ट के अन्तर्गत छोड़े गए थे और शेप बाल अधिनियमों के अन्तर्गत। 9246 में से 259 केस (अथवा 2·3 प्रतिशत) मे परिवीक्षा की अवधि समय से पहले ही समाप्त की गयी थी।

परिवीक्षा के शासन-सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए अलग-अलग राज्यो में परिवीक्षा सेवाएँ अलग-अलग विभागों से सम्बन्धित की गयी हैं। राजस्थान, असम, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, कश्मीर, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश में परिवीक्षा सेवाएँ समाज कल्याण विभाग से, बंगाल, केरल, तमिलनाडु, बिहार और आंध्र प्रदेश में जेल विभाग के साथ और मध्य प्रदेश में कानून विभाग से सम्बन्धित है। केवल मैसूर मे ही इसका अलग विभाग है। यद्यपि परिवीक्षा का क्षेत्र बहुत बड़ा है परन्तु भारत में परिवीक्षा पर छोड़े जाने योग्य कुल अपराधियों में से केवल 8 प्रतिशत को ही परिवीक्षा पर छोडा जाता है जबकि अमरीका में 60 प्रतिशत, इंग्लैण्ड में 49 प्रतिशत, और स्वीडन मे 65 प्रतिशत को छोड़ा जाता है। भारत मे नौ राज्यों (आंध्र प्रदेश, विहार, गुजरात, केरल, तमिलनाडु, मैसूर, महाराष्ट्र, पंजाब और बंगाल) के उपलब्ध आँकडों से यह ज्ञात होता है कि औसतन एक अपराधी का परिवीक्षा काल एक वर्ष है। 70·4 प्रतिशत को एक वर्ष, 24 6 प्रतिशत को दो वर्ष तथा 5 प्रतिशत को तीन वर्ष का परिवीक्षण था।

राजस्थान मे 1962 मे सबसे पहले 9 परिवीक्षक अधिकारियो की नियुक्ति की गयी थी जो 1967 मे बढकर 26 तक पहुँच गयी, अर्थात् हर जिले के लिए अलग-अलग परिवीक्षक अधिकारी था। परन्तु 1967 से परिवीक्षक अधिकारी और समाज कल्याण अधिकारी के पदो को मिला दिया गया है। इस राज्य के 1972–73 के आँकड़ों के अनुसार 1962 से मार्च 1973 तक सारे राज्य में 2918 अपराधियों को परिवीक्षा पर छोड़ा गया था। अप्रैल 1973 में 26 परिवीक्षक अधिकारी 135 परिवीक्षको का निरीक्षण कर रहे थे; दूसरे शब्दों में प्रति परिवीक्षक अधिकारी 6 परिवीक्षकों का निरीक्षण कर रहा था। छानबीन वाले अपराधो की संख्या को लेकर

हम कह सकते हैं कि एक परिवीक्षक अधिकारी एक महीने में औसतन दो-तीन अपराधियों की छानबीन कर रहा था। नई व्यवस्था के कारण अब यह निरीक्षण और छानबीन की सख्या बहुत कम हो गयी है। क्योंकि परिवीक्षक सेवाएँ जेल व्यवस्था की तुलना मे अधिक सफल सिद्ध हुई हैं, अब यह आवश्यक है कि इन सेवाओं को और अधिक विकसित किया जाय।

परिवीक्षक सेवाएँ तीन तरह से लाभदायक हैं—आर्थिक दृष्टिकोण से, सामाजिक दृष्टिकोण से, और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से। इसका आर्थिक लाभ यह है कि जब प्रति कैदी के लिए हम प्रति माह 40 से 60 रुपये व्यय कर रहे हैं, प्रति परिवीक्षक के लिए केवल 20 से 30 रुपये ही खर्च होते है। यदि हम यह माने कि राजस्थान मे प्रतिवर्ष लगभग 12000 दण्डित अपराधियो मे से केवल 70 प्रतिशत ही परिवीक्षा पर छोड़ने के योग्य हैं तब प्रतिवर्ष अपराधियों को जेल में रखने की बजाय परिवीक्षा पर छोड़ने से औसतन बीस लाख रुपये की बचत होगी। यदि सभी राज्यों में परिवीक्षा का प्रयोग विस्तार से किया जाये तो करोड़ो रुपये बचाये जा सकते हैं। सामाजिक रूप से परिवीक्षा इस प्रकार लाभदायक है कि अपराधी के समाज में ही रहने से उसके दैनिक कार्यों में परिवर्तन न आने के कारण उसे सुधार का अधिक मौका मिलता है। फिर, वह अपने परिवार के सदस्यों की भी देखभाल कर सकता है। परिवीक्षक को परिवीक्षा अधिकारी समय-समय पर अपने कार्यालय बुलाकर और कभी-कभी स्वय उसके घर जाकर उसे कानून तथा समय और कार्य-शीलता के प्रति आदर करने की शिक्षा देकर उसकी व्यक्तिगत देखभाल कर सकता है जो जेल प्रणाली में सम्भव नही है। मनोवैज्ञानिक रूप से परिवीक्षा इस तरह उपयोगी है कि अपराधी के जेल जाने से जो उसके जीवन पर सामाजिक धब्बा लग जाता है, जिससे समाज उससे नफरत करता है, उससे वह बच जाता है।

कुछ लोग परिवीक्षा की हानियाँ भी बतलाते है। उनका कहना है कि जो पर्यावरण व्यक्ति को अपराधी बनाते है वही उसे कैसे सुधार सकते हैं। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि क्योंकि परिवीक्षक का निरीक्षण होता है और उसे कुछ शर्तो पर छोड़ा जाता है, उसके पर्यावरण नियन्त्रित होते हैं। दूसरा दोष यह बताया जाता है कि अपराधी को कोई दण्ड न मिलने मे उसे और अपराध करने की प्रेरणा मिलती है, परन्तु इसके लिए हम पहले ही कह चुके है कि आजकल समाजशास्त्री सभी अपराधियो को दण्ड देना आवश्यक नही समझते। उनका तो यह विचार है कि दण्ड सुधारने की अपेक्षा अपराधी को समाज का शत्रु बनाना है। फिर, अपराधी को परिवीक्षा पर छोडना उसके प्रति उदारता दिखाना भी नही कहा जा सकता क्योंकि उसे कम समय के लिए जेल मे रखकर गम्भीर अपराधी बनाने की तुलना मे परिवीक्षा पर छोड़ना अधिक उचित है। इन्ही तर्कों के आधार पर अब परिवीक्षा प्रणाली को अपराधियो के सुधार के लिए अधिक विकसित रूप में प्रयोग करने का सुझाव दिया जाता है।

अन्त में हम कह सकते है कि आधुनिक काल मे 'अपराधियों को सुधारने का

तरीका अधिक वैज्ञानिक है।

उत्तर संरक्षण सेवाएँ

अपराधियों के लिए उत्तर सरक्षण सेवाओं (after care services) का महत्व उतना ही माना जाता है जितना बीमार व पागल व्यक्तियों के संरक्षण का। जिस प्रकार लम्बी अवधि के उपरान्त जब एक रोगी को अस्पताल से छोड़ा जाता है तब डाक्टर उसके चिकित्सा एव स्वास्थ्य सुधार के लिए न केवल विभिन्न औषधियों के प्रयोग के लिए उसे निर्देश देता है परन्तु बहुत कार्य न करने के लिए भी उस पर प्रतिबन्ध लगाता है, अथवा जिस प्रकार एक पागल व्यक्ति को बहुत समय तक पागलखाने मे रखने के पश्चात् तुरन्त उसे मुक्त न करके शनैः शनैः समाज मे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने दिया जाता है जिससे वह अपना अच्छी तरह समायोजन कर सके तथा पुरानी बातों को दुहरा कर फिर मानसिक सन्तुलन न खो बैठे, उसी प्रकार जो अपराधी एक लम्बी अवधि तक जेल में रहता है उसे रिहा होने पर बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जेल मे रहने से उसके जीवन पर जो कलंक (social stigma) लग जाता है उसके कारण लोग उससे किनारा करते हैं तथा उसे सन्देह व अविश्वास की दृष्टि से देखते है। न केवल लम्बी अवधि वाला बन्दी परन्तु थोड़े समय तक जेल मे रहने वाला बन्दी भी इस कारण कुछ समस्याओं का सामना करता है क्योंकि वह अपने विरोधी तथा शत्रु के प्रति अपनी घृणा, द्वेष व शत्रुता भूल नही पाता। इस तरह हर प्रकार का अपराधी विभिन्न समस्याओं का सामना करता है। इन समस्याओं का यदि शीघ्र ही निवारण न किया जाए तो निश्चय ही वह व्यक्ति पुनः अपराध करेगा। इस कारण समस्याओं का सामना करने में सहायता करना ही उत्तर-सरक्षण सेवाओं का प्रमुख उद्देश्य होता है, अथवा हम कह सकते हैं कि उत्तर-संरक्षण कार्यक्रम एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसके द्वारा हम बन्दी को क्रमशः जेल के बन्धनयुक्त वातावरण से स्वस्थ नागरिक जीवन की ओर ले जाते हैं ताकि वह समाज मे पुनः स्थापित हो जाये।

मोटे तौर पर उत्तर-संरक्षण सेवाएँ वे सेवाएँ है जो मुक्त वन्दियों के पुनर्वास के लिए व्यवस्थित की जाती हैं। परन्तु यह परिभाषा बहुत संकीर्ण है क्योंकि इसके अनुसार उत्तर-संरक्षण का कार्य जेल से छूटने के बाद ही आरम्भ होता है जबकि सही अर्थ के अनुसार यह कार्य अपराधी के जेल मे प्रवेश से ही शुरू हो जाना चाहिए। उदाहरणतया, मान लीजिए कोई अपराधी जेल जाने से पहले कुछ रुपयों पर अपनी जमीन गिरवी रखता है। यदि समय पर यह जमीन न छुड़वाई गई तो उसके परिवार के सदस्यों के लिए आर्थिक हानि उत्पन्न हो सकती है। इस कर्ज को चुकाने में सहायता करके परिवार के सदस्यों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना उत्तर-संरक्षण सेवाओं के अन्तर्गत आना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि उत्तर-सरक्षण हर अपराधी के रक्षा प्रदान के लिए है। मुख्यतः उत्तर-संरक्षण सेवाएँ दो प्रकार के अपराधियों के लिए हैं—(1) उनके लिए जो किसी सुधारात्मक संस्था में कुछ समय

रह चुके हैं और वहाँ उनकी देखभाल हुई है तथा वे कोई शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। (2) उनके लिए जिनको वास्तव में किसी सामाजिक, मानसिक अथवा शारीरिक असुविधा व कमी के कारण संरक्षण की आवश्यकता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर-संरक्षण प्रोग्राम बाधाहित (handicapped) व्यक्ति के उस पुनर्वास के कार्यक्रम की परिसमाप्ति है जो किसी सुधारवादी संस्था में आरम्भ किया गया है।

उद्देश्य—उत्तर-संरक्षण सेवाओं के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—(क) अपराधी की सहायता। (ख) परिवार और समुदाय का ऐसा निर्माण जिससे वे जेल व सुधारवादी संस्था से छूटने के उपरान्त अपराधी के पुनर्वास में सहायता कर सकें। अपराधी को तीन प्रकार से सहायता दी जा सकती है: (1) उसके व्यक्तिगत समायोजन में; (2) उसके व्यवसाय सम्बन्धी पुनर्वास में; और (3) उसको समाज में फिर से बसाने में।

व्यक्तिगत समायोजन की आवश्यकता उन अपराधियों को होती है जिनका कोई घर-बार नहीं होता है अथवा जिनका घर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा जिनका पड़ोस शत्रु होता है। फिर, व्यक्तिगत समायोजन की आवश्यकता इस कारण भी पड़ती है कि—(1) न्यायालय द्वारा दण्ड मिलने से पूर्व जो स्थान व्यक्ति प्राप्त किये हुए था वह अन्य किसी के द्वारा भर दिया गया हो। (2) लम्बी अवधि तक अनुपस्थिति के कारण उस व्यक्ति की अथवा उसकी सेवाओं की आवश्यकता ही समाप्त हो गई हो। (3) समाज उसके पुनर्वास के लिए तैयार न हो। (4) छूटने के पश्चात् वह इस स्थिति में न हो कि अपने लिए सुरक्षा प्रदान कर सके।

आर्थिक पुनर्वास में भी अपराधी को आजीविका के साधन जुटाने के लिए विभिन्न प्रकार की सहायता की जा सकती है। उसे नौकरी दिलवायी जा सकती है, किसी रोजगार के लिए सिफारिश-पत्र दिया जा सकता है, तथा किसी धन्धे के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जा सकता है। सामाजिक पुनर्वास में पुलिस की परेशानी से उसे बचाया जा सकता है, आवश्यकता पड़ने पर कानूनी सहायता दी जा सकती है तथा घरबार न होने पर उसे उत्तर-संरक्षण होस्टल में रखा जा सकता है। प्रो० काली प्रसाद ने भी उत्तर-संरक्षण के उद्देश्यों पर बल देते हुए कहा है कि मुक्त बन्दी एक घाव (trauma) अथवा व्यक्तित्व के एक मनोवैज्ञानिक क्षति से अपना जीवन आरम्भ करता है। वह समाज द्वारा दुत्कारे जाने के प्रति सचेत रहता है। उत्तर-संरक्षण का कार्य है कि उसके इस घाव को ठीक करे, उसमें विश्वास व साहस उत्पन्न करे और समाज को उसे वापस स्वीकार करने के लिए तैयार करे।[78] इस तरह क्योंकि जेल से छूटने के बाद अपराधी आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं का सामना करता है अतः हम कह सकते हैं कि उत्तर-संरक्षण प्रोग्राम के मुख्य कार्य अग्रलिखित हैं :

(क) वन्दी को सहायता करना जिससे वह स्वयं अपनी सहायता कर सके; तथा

(ख) देख-रेख व निरीक्षण द्वारा अपराधी अपने पुनर्वास सम्बन्धी कार्यक्रम की योजना बनाए, इस योजना को कार्यान्वित करे तथा कार्यान्वित योजना का कुछ समय पश्चात् मूल्यांकन करे।

उत्तर-संरक्षण सेवाओं की उत्पत्ति—भारत में उत्तर-संरक्षण कार्य की आवश्यकता का सर्वप्रथम इण्डियन जेल कान्फ्रेन्स ने 1877 में अध्ययन किया था और वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि भारत मे मुक्त वन्दी सहायता समितियों की आवश्यकता नही है क्योंकि जेलों से छूटने के उपरान्त यहाँ अपराधियों को समाज मे खोई हुई स्थिति प्राप्त करने में कोई कठिनाई नही होती। परन्तु इस विचार के उपरान्त भी 1894 मे उत्तर प्रदेश मे उस समय के जेलों के इन्सपैक्टर जनरल के व्यक्तिगत प्रयत्नों से एक गैर-सरकारी मुक्त वन्दी सहायता समिति स्थापित की गयी। इसके वाद 1907 में वंगाल मे और 1914 से वम्वई मे भी ऐसी समितियाँ प्रारम्भ की गयी। परन्तु सरकारी समर्थन और सार्वजनिक सहानुभूति के अभाव मे इन तीनों समितियो का कार्य सुचारु रूप से नही चल पाया जिस कारण 1902 मे उत्तर प्रदेश की वन्दी सहायता समिति ने और वाद में अन्य दो समितियों ने भी कार्य करना वन्द कर दिया। इसके उपरान्त 1919 में इण्डियन जेल कमेटी ने इन समितियो की स्थापना पर बल दिया। इस कमेटी की यह मान्यता थी कि अपराधी के जीवन मे सबसे कठिन व विकराल घड़ी वह नही होती जब उसे जेल में वन्द किया जाता है परन्तु उसकी वास्तविक विकट समस्या तो तब आरम्भ होती है जब वह वहुत वर्षों तक जेल में रहने के वाद वहाँ के फाटक के वाहर निकलता है। उसके सामने वह संसार होता है जिसमें उसे चरित्रहीन व मर्यादा-भ्रष्ट समझा जाता है तथा जीवन के साधारण व्यय के लिए भी उसके पास कोई पैसा नही होता। इस कमेटी का यह भी विचार था कि छूटने के वाद 20 प्रतिशत अपराधी पुनः अपराध करते हैं जिसका एक मुख्य कारण उनको किसी प्रकार की सहायता न मिलना होता है। इस कमेटी के सुझाव के वाद कुछ राज्य सरकारों ने अपने-अपने राज्यों में मुक्त वन्दी सहायता समितियाँ स्थापित कीं। सबसे पहली समिति मद्रास मे 1921 मे प्रारम्भ की गयी और उसके उपरान्त 1925 मे मध्य प्रदेश मे, 1927 में पंजाव में तथा 1928 में उत्तर प्रदेश में। यह सब समितियाँ गैर-सरकारी आधार पर ही कार्य कर रही थी यद्यपि इनमें से कुछ को राज्य सरकार द्वारा आर्थिक सहायता मिलती थी।

राजस्थान में उत्तर-संरक्षण सेवाएँ—राजस्थान में कोई मुक्त वन्दी सहायता समिति नहीं है। समाज कल्याण विभाग की ओर से 1971 तक उदयपुर में एक उत्तर रक्षा गृह चलाया जाता था परन्तु आर्थिक कटौती के कारण इसे अब समाप्त किया गया है। अप्रैल 1961 में राजस्थान के जेलों के इन्सपैक्टर जनरल ने अपराधियों को आर्थिक सहायता पहुँचाने हेतु एक वन्दी कल्याण कोष स्थापित करने की सरकार ... योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार एक सेन्ट्रल जेल में कारावासित

(2) नौकरियाँ दिलवाना; (3) मुक्त बन्दियो की नियुक्ति पर लगे प्रतिबन्धो को दूर करवाने का प्रयत्न करना; (4) छोटे कर्ज देना; (5) उत्पादक सहकारी संस्थाएँ स्थापित करना; और (6) छोटे पैमाने के उद्योग शुरू करना।

सामाजिक पुनर्वास से सम्बन्धित सुझाव इस प्रकार थे[81]—(1) उत्तर-संरक्षण होस्टल खोलना; (2) प्रदर्शन, परामर्श व रक्षा की सुविधाएँ पर्याप्त करना; और (3) कानूनी सहायता जुटाने का प्रबन्ध करना।

व्यवस्था सम्बन्धी ढाँचे (organisational structure) के प्रति यह कहा गया कि केन्द्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय परामर्श कमेटी स्थापित की जाये जो देश में उत्तर-सरक्षण सेवाओ की योजना बनाये व उनकी व्यवस्था करे तथा विभिन्न राज्यों मे संरक्षण सेवाओ मे समन्वय स्थापित करे। राज्य स्तर पर भी राज्य परामर्श कमेटी होनी चाहिए जिसका कार्य राज्य मे संरक्षण सेवाओं की व्यवस्था करना, केन्द्रीय कमेटी की योजनाओ को अभिपूर्ण करना व राज्य के विभिन्न जिलो मे पाये जाने वाले संरक्षण समितियो मे समन्वय स्थापित करना होगा। सबसे नीचे स्तर पर प्रोजेक्ट कमेटी होगी जो स्थानीय स्तर पर सरक्षण सेवाओं की व्यवस्था करेगी।

इसके अतिरिक्त गोरे कमेटी ने दो प्रकार की इकाइयो की स्थापना का भी सुझाव दिया, एक 'ए' श्रेणी की इकाई और दूसरी 'बी' श्रेणी की इकाई। 'ए' श्रेणी के कार्य निम्न बताये गये—

(1) मुक्ति से पहले व उपरान्त उत्तर-संरक्षण सेवाओं का प्रबन्ध। (2) मुक्त बन्दियो के लिए थोडे समय के लिए आश्रय का उपाय करना। (3) हर इकाई को 5000 रुपए प्रतिवर्ष व्यय करने का अधिकार देना।

'बी' श्रेणी इकाई के भी यही कार्य बताये गये। केवल इनको 'ए' श्रेणी' इकाई की तुलना मे स्थायी आधार पर मुक्त बन्दियों के आश्रय का प्रबन्ध करने के लिए होस्टल खोलनी थी। हर होस्टल में 300 व्यक्तियों तक रखने की सुविधाएँ प्रदान करने का सुझाव था। आरम्भ में तो इन इकाइयों की संख्या सीमित बताई गई थी परन्तु अन्त में हर जिले मे एक 'ए' श्रेणी की इकाई और एक 'बी' श्रेणी की इकाई का सुझाव था। वित्त व्यवस्था के प्रति गोरे कमेटी ने यह सुझाव दिया कि रुपया केन्द्र और राज्य स्तरों पर गृह-मन्त्रालय, शिक्षा-मन्त्रालय तथा वाणिज्य-मन्त्रालय देंगे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड भी रुपया देगा। गोरे कमेटी के इन सुझावों के आधार पर बहुत कम राज्यों ने संरक्षण की योजनाएँ बनाई हैं। यद्यपि उत्तर-संरक्षण सेवाओं की आवश्यकता पर सभी बल देते हैं परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में कोई अधिक कार्य नहीं किया गया है।

---

[81] *Ibid.*, 244-49.

3

II

बाल-अपराध
(JUVENILE DELINQUENCY)

बाल-अपराध का अर्थ

बाल-अपराध का अर्थ दो आधार पर बताया जा सकता है—एक आयु, दूसरा व्यवहार की प्रकृति। आयु की दृष्टि से मुख्यतः सात और सोलह वर्ष के बीच के अपराध करने वाले व्यक्ति को बाल-अपराधी माना जा सकता है। सात वर्ष से कम वाले बच्चों को उनके किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाता। यदि वे अपराध भी करते है तो भी उन्हें कम बुद्धि के कारण सही और अनुचित कार्य मे भेद न समझने और कार्य के परिणाम को न सोचने की वजह से दण्ड नही दिया जाता। निम्नतम आयु सीमा यद्यपि भारत के विभिन्न राज्यो में निश्चित है परन्तु यह अलग-अलग राज्यों में तथा भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग पायी जाती है। अधिकतम आयु-सीमा भी इसी प्रकार निश्चित नही है। अमरीका के अधिकतर राज्यो मे यह अट्ठारह वर्ष है, इंग्लैण्ड में सत्तरह वर्ष तथा जापान में बीस वर्ष है। भारत में भी यद्यपि राजस्थान, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, बंगाल, मध्य प्रदेश, कर्नाटक आदि राज्यों मे सोलह वर्ष है परन्तु पजाव और महाराष्ट्र जैसे कुछ राज्यो मे यह अट्ठारह वर्ष है। राज्य मे पाये जाने वाले बाल-अधिनियम ही इस उच्चतम आयु सीमा को निर्धारित करते हैं। आयु में इस प्रकार के अन्तर के कारण 'बाल-अपराधी' को वह अपराधी व्यक्ति बताया जा सकता है जो देश अथवा राज्य की वैधानिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित आयु से कम हो।

व्यवहार की दृष्टि से सिरिल बर्ट व गिलूक आदि के अनुसार बाल-अपराधी न केवल उनको माना जाता है जो कानून की अवहेलना करता है परन्तु उसे भी जिसका आचरण समाज अस्वीकार करता है क्योंकि उसका यह दुर्व्यवहार उसे अपराध करने के लिए उत्तेजित कर सकता है अथवा उसके अपराधी बनने के खतरे को उत्पन्न करता है।[1] उदाहरण के लिए ऐसे बच्चों को भी बाल-अपराधी माना जाता है जो घर से भागकर आवारागर्दी करते हैं स्कूल से बिना किसी उचित कारण के अनुपस्थित रहते है, माता-पिता अथवा संरक्षको की आज्ञा का पालन नही

[1] Cyril Burt, *The Young Delinquent*, University of London, London, 1955 (4th edition), 15, Sheldon and Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, Harper Bros., New York, 1950, 3.

करते, चरित्रहीन व निन्दनीय व्यक्तियों के सम्पर्क में पाये जाते हैं, अश्लील भाषा का प्रयोग करते हैं, व जो अनैतिक तथा अस्वस्थ क्षेत्रों में घूमते मिलते है। इसी व्यवहार के आधार पर वाल्टर रेक्लेस ने बाल-अपराध को इस प्रकार परिभाषित किया है— 'बाल-अपराध शब्द अपराधी विधि के उल्लंघन पर तथा उस व्यवहार पर लागू होता है जिसे बच्चो व युवको में समाज द्वारा अच्छा नही समझा जाता।'[2] टैपन, म्युमेयर, माऊरेर आदि ने भी बाल-अपराध की धारणा मे बच्चों के इसी व्यक्तित्व निर्माण-सम्बन्धी व्यवहार पर बल दिया है।[3] परन्तु 1960 में अपराध के नियन्त्रण-सम्बन्धी द्वितीय संयुक्त राष्ट्र कांग्रेस ने यह विचार प्रकट किया कि बाल-अपराध शब्द केवल कानून के उल्लंघन एवं दण्ड विधान की अवज्ञा तक सीमित करना चाहिए। इसमें ऐसे व्यवहार को सन्निहित नही करना चाहिए जो यदि एक वयस्क व्यक्ति करे तो उसे अपराध नही माना जाये।[4] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि 'दुर्व्यवहारी बालक' और 'बाल-अपराधी' में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। यद्यपि कानून की दृष्टि से बाल-अपराध को 'राज्य के कानून द्वारा निर्धारित आयु से कम वाले बालक द्वारा कानून का उल्लंघन' बताया गया है परन्तु इसके सही और वैज्ञानिक परिभाषा में बालक की आयु के अतिरिक्त उसके व्यवहार की गम्भीरता व उसके कार्य की पुनरावृत्ति को भी आधार बनाना चाहिए।

बाल-अपराध की दर और प्रकृति

समाज मे जितने भी बच्चों द्वारा अपराध होते हैं वे सब पुलिस और न्यायालयों तक नही पहुँच पाते। यह माना जाता है कि किये गये कुल बाल-अपराधो मे से दो प्रतिशत से भी कम अपराध ही पुलिस के सामने आते है। इस कारण भारत मे बाल-अपराध की सही मात्रा को मालूम करना सम्भव नही है। परन्तु जो आँकड़े सैन्ट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसिज (Central Bureau of Correctional Services) द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किये जाते है उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रतिवर्ष भारत में 65 और 75 हजार के बीच बाल-अपराधियो को पकडा जाता है जिनमें से लगभग 60 हजार को न्यायालयो मे भेजा जाता है। 1965 के आँकड़ो के अनुसार न्यायालयो मे भेजे गये 60436 बाल-अपराधियों में से 50·7 प्रतिशत को निर्दोष मानकर बरी कर दिया गया, 13·3 प्रतिशत को उनके

---

[2] 'The term *juvenile delinquency* applies to the violation of criminal code and/or pursuit of certain patterns of behaviour disapproved of for children and young adolescents.' Reckless, Walter, *Hand Book of Practical Suggestions for the Treatment of Adult and Juvenile Offenders*, Govt. of India, 1956, 3.

[3] Mowrer, *Disorganisation—Personal and Social*; Tappan, Paul W., *Crime, Justice and Correction.*

[4] See Venugopal Roy in a paper on 'Juvenile Delinquency—Role of the Police', read in a seminar organised by Central Bureau of Investigation, Govt. of India, Delhi, Nov. 1965, 2.

संरक्षकों को सौंपा गया, 13·3 प्रतिशत को परिवीक्षा पर रखा गया, 4·8 प्रतिशत को बारस्टल आदि सुधारवादी संस्थाओं में भेजा गया, 5·2 प्रतिशत को कारावास दिया गया और शेष 12·7 प्रतिशत केस न्यायालयों में विचाराधीन थे।[5] इससे सिद्ध होता है कि न्यायालयों द्वारा जो बाल-अपराधियों के लिए दण्ड की विधियाँ अपनायी जाती हैं उनमें दण्ड पर कम और सुधार पर अधिक बल दिया जाता है। बोध किये जाने वाले अपराधों (cognizable offences) में सबसे अधिक बाल-अपराध भारत में तमिलनाडु और महाराष्ट्र मे मिलते हैं (लगभग चार और पाँच हज़ार के बीच) और सबसे कम जम्मू-कश्मीर और केरल मे मिलते हैं (100 और 200 के बीच)।[6]

अपराध की प्रकृति के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि अधिकाधिक अपराध चोरी के मिलते हैं (योग का लगभग 3/5 हिस्सा) और उसके बाद झगडे-फसाद, हत्याएँ, राहजनी, धोखाधड़ी आदि के।[7] 1968 के आँकडों के अनुसार भारत के विभिन्न राज्यों की अदालतों में कुल औसतन 68000 बाल-अपराधियों (63000 लड़के और 5000 लड़कियों) को भेजा गया। इनमें से 4·8 प्रतिशत बालकों ने हत्याएँ, मारपीट जैसे व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध किये थे, 20·3 प्रतिशत ने चोरी, राहजनी, लूटमार आदि जैसे सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध किये थे तथा 8·9 प्रतिशत अपराध बाल-अधिनियम के विरुद्ध थे, 10·1 प्रतिशत रेलवे अधिनियम के विरुद्ध और 4·3 प्रतिशत मद्यनिषेध अधिनियम के विरुद्ध थे। शेष अपराधों मे 11·7 प्रतिशत जुए के अपराध के लिए और 39·9 प्रतिशत अन्य अपराधों के लिए गिरफ्तार किये गये थे।[8] इन आँकड़ो मे यह नही कहा जा सकता कि बाल-अपराध का मुख्य कारण निर्धनता है। अधिक मे अधिक निर्धनता को परिवार के विच्छिन्न सम्बन्धों से सम्बन्धित किया जा सकता है जिनका बच्चे के व्यवहार व व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

बाल-अपराध के लक्षण

भारत में बाल-अपराध के मुख्य लक्षण निम्न है—

(1) लड़कियो मे लड़कों की अपेक्षा अपराध कम मिलता है। सम्भवत: इसका कारण लडकियो पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। इसके अतिरिक्त लड़कियों के कार्यों का घर मे सीमित होना तथा लडकों मे अधिक शारीरिक शक्ति का होना (जो उनके अपराधों मे कुछ सहायक सिद्ध होती है) भी इस अन्तर के कारण बताये जा सकते है।

(2) बाल-अपराध किशोरावस्था में अधिक मिलता है। यदि हम बाल-अपराधियों को आयु के आधार पर विभाजित करके उनको 7–12, 12–14, 14–

[5] See *Social Defence*, Central Bureau of Correctional Services, Delhi, July 1967, 16.

[6] *Ibid*, 14.

[7] *Ibid*, 15.

[8] *Ibid.*, 17.

16 और 16–18 आयु-समूहो में रखें तो हमें 14–16 वाले आयु-समूह में अधिक अपराध मिलेगा। 1956 में बम्बई, पूना और अहमदाबाद में हन्सा सेठ द्वारा अध्ययन किये गये वाल-अपराधियों में में 40 5 प्रतिशत अपराधी 14–16 आयु-समूह के पाये गये जबकि 7–10 और 11–13 आयु-समुहों में केवल 16·5 प्रतिशत और 35 8 प्रतिशत ही मिले।[9] लखनऊ और कानपुर मे (1959) वर्मा द्वारा अध्ययन किये गये 200 वाल-अपराधियों में से 38·7 प्रतिशत बाल-अपराधियों को 14–16 आयु-समूह में पाया गया।[10] गोयल द्वारा उत्तर प्रदेश के पाँच कावल (KAVAL) नगरो में 500 बाल-अपराधियों मे से बहुत अधिक किशोरावस्था के पाये गये।[11] रटनशा (Ruttonsha) के बम्बई के अध्ययन में भी यही लक्षण पाया गया।[12] सम्भवतया इसका कारण इस आयु के बच्चों पर कम नियन्त्रण का होना है। फिर इस आयु के बच्चों को कुछ स्वतन्त्रता भी अधिक ही मिलती है।

(3) अपराध की प्रकृति का अपराधी की आयु से गहरा सम्बन्ध है। कुछ अपराधों मे शारीरिक शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है जिस कारण ऐसे अपराध अधिक आयु वाले बच्चो मे ज्यादा ही मिलते है।

(4) ग्रामीण क्षेत्रो में बाल-अपराध की समस्या इतनी भीषण नहीं जितनी नगरीय क्षेत्रों में है। फिर, बड़े शहरों (जैसे मद्रास, दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद, हैदराबाद, बेंगलोर, कलकत्ता, कानपुर आदि) में बाल-अपराध की सीमा छोटे शहरों की अपेक्षा कहीं अधिक है।

(5) बाल-अपराध मुख्यतः निम्न आर्थिक और सामाजिक वर्गों में अधिक मिलता है। हन्सा सेठ के अध्ययन मे 66·7 प्रतिशत अपराधी निर्धन परिवारों के सदस्य पाये गये।[13] वर्मा के अध्ययन में 81·6 प्रतिशत बाल-अपराधियों की पारिवारिक आय 100 रुपए माह से कम थी।[14] इसी प्रकार 41·6 प्रतिशत अपराधो मे बच्चो के पिता अशिक्षित पाये गये। रटनशा के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष मिलता है। अन्यथा यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक वातावरण बाल-अपराध मे मुख्य कारक है।

बाल-अपराध के कारणों के सिद्धान्त

अपराध के कारणों की सदरलैण्ड, मर्टन, क्लोवार्ड-ओहलिन, थामस, बोंगर,

[9] Hansa Seth, *Juvenile Delinquency in an Indian Setting*, Popular Prakashan, Bombay, 1961, 133.

[10] Verma, S C, quoted by Sushil Chandra, *Sociology of Deviation in India*, Allied Publishers, Bombay, 1967, 46.

[11] Goyal, *Social Defence*, Central Bureau of Correctional Services, Delhi, April 1968, Vol. 3, No 12, 18–22.

[12] Ruttonsha, G. N., *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Deccan College Series, Poona, 1947, 46.

[13] Hansa Seth, *op. cit.*, 243.

[14] Verma, S. C., *op. cit.*, 54.

क्लिफोर्ड शा आदि विद्वानों द्वारा दी गयी सैद्धान्तिक व्याख्या पहले ही दी जा चुकी है। ये सभी सिद्धान्त बाल-अपराध के कारण भी बताते हैं। यहाँ हम केवल कोहेन द्वारा दिये गये सामाजिक सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे।

कोहेन का सिद्धान्त (Cohen's theory of value orientation)— आलबर्ट कोहेन के अनुसार बच्चों और वयस्कों की अपने प्रति मन में धारणा बनाना इस बात पर आधारित है कि अन्य लोग उनका किस प्रकार मूल्यांकन करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में, जिनमें उनका मूल्यांकन किया जाता है और जिनमें से स्कूल एक प्रमुख परिस्थिति है, मध्य वर्ग के लोग छाये रहते हैं। इस कारण व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन भी मध्य वर्ग के स्तर व मूल्यों अथवा आदर्शों के आधार पर किया जाता है। परन्तु इस प्रमाण को एकमात्र मध्य वर्ग का स्तर व मूल्य अथवा आदर्श नहीं माना जा सकता क्योंकि वास्तव में ये समाज के ही व्याप्त, प्रधान व प्रबल आदर्श हैं। इस व्याप्त स्तर में सफाई व स्वच्छता, शुद्धता, व्यवहार-सम्बन्धी विनम्रता, विद्वत्परिपद् सम्बन्धी ज्ञान, धारा-प्रवाह से बोलने की शक्ति, ऊँची अभिलाषाएँ, वैयक्तिक उत्तरदायित्व आदि आते हैं। फिर समाज में सभी वर्गों के लोगों का इसी प्रबल स्तर के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है, जिस कारण विभिन्न वर्गों के सदस्यों को स्थिति-प्राप्ति के लिए एक-दूसरे का मुकाबला करना पड़ता है। परन्तु सभी वर्गों के लोग इस स्थिति-प्राप्ति के लिए अपने को अन्य लोगों के बराबर योग्य नहीं पाते क्योंकि अलग-अलग वर्गों में समाजीकरण की प्रक्रिया अलग-अलग पायी जाती है। इसी समाजीकरण की प्रक्रिया की भिन्नता के कारण निम्न वर्ग के लोग अपने को मध्य वर्ग का अपेक्षा कम योग्य पाते हैं। जब निम्न वर्ग के लोग अपने में ऊपर की ओर गतिशील होने की प्रवृत्ति के कारण मध्य वर्ग के लोगों के सांस्कृतिक आदि विशेषताओं को ग्रहण कर उनके बराबर की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते तो उनमें पराजय व नैराश्य की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस नैराश्य को रोकने का यद्यपि एक तरीका है अपने को इस स्थिति-सूचक समूह से अलग करना तथा स्थिति-प्राप्ति के लिए स्वय के नियम और सिद्धान्त बनाना परन्तु निम्न वर्ग के लोग मध्य वर्ग के मूल्यों का इतना आन्तरीकरण कर लेते है कि मध्यम वर्ग की विशेषताओं को ग्रहण करने की प्रतियोगिता में पीछे रहना नहीं चाहते और जब अच्छी स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते तो अपनी समरूपता स्थापित करने के लिए व्याप्त मूल्यों को अस्वीकार कर ऐसे मूल्यों और व्यवहार को अपनाते है जिन्हें समाज बुरा मानता है। उदाहरणार्थ, पुलिस वाले अधिकतर विकृत चित्त वाले (crooked) होते हैं, रुपया केवल खर्च करने के लिए होता है, कानून हमेशा साधारण लोगों के विरुद्ध होता है, नम्रता व शिष्टाचार केवल कन्याओं के लिए होता है, व्यक्ति को कठोर परिश्रम तभी करना चाहिए जब इससे उसे लाभ हो, इत्यादि। इन्हीं मूल्यों के कारण ही वे अपराध भी करते हैं। अपराधी मूल्यों एवं व्यवहार को अपनाने का प्रमुख कारण यह होता है कि वे अपने व अन्य लोगों के लिए व्याप्त मूल्यों के प्रति अपनी घृणा का प्रदर्शन कर सकें। इन नये मूल्यों को कोहेन ने बाल-अपराधी उप-संस्कृति

(delinquent sub-culture) माना है।[15]

इस प्रकार कोहेन के अनुसार निम्न वर्ग के सदस्यो की मध्य वर्ग के स्थिति-सम्बन्धी समस्याओ के प्रति प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न हुई समायोजन की समस्या ही अपराध का मुख्य कारण है।[16] टैपन[17], जान मार्टन[18], फिजपैट्रिक आदि ने कोहेन के सिद्धान्त की आलोचना की है। इन लोगों ने तीन मुख्य तर्क दिये हैं—

(1) इस सिद्धान्त की यह मान्यता कि मध्यम और निम्न वर्गों के मूल्य व अभिलाषाएँ अलग-अलग होती हैं एक गलत धारणा है।

(2) पराजय व नैराश्य के कारण यह आवश्यक नही है कि लोगों की प्रक्रिया इतनी नकारात्मक हो कि वे अपराधी-व्यवहार को अपनाएँ। उनकी क्षति-पूर्ति करने वाला व्यवहार समाज द्वारा मान्यता प्राप्त भी हो सकता है।

(3) कोहेन की यह मान्यता कि व्याप्त व प्रबल मूल्यों को अस्वीकार कर जो निम्न वर्ग के अपराधी नये मूल्यो को अपनाकर एक उप-संस्कृति समूह बनाते हैं बिना किसी आधार के हैं क्योंकि इस प्रकार की फिर अनेक उप-संस्कृतियाँ हो सकती हैं।

वाल्टर रेक्लेस ने भी 1961 में कोहेन के सिद्धान्त के विश्लेषण में यह पाया कि उसका सिद्धान्त कुछ अपराधो को समझता है परन्तु सभी को नही, अथवा उसका सिद्धान्त कुछ अंशो मे सही है। रेक्लेस का विचार है कि यद्यपि अपराधी-व्यवहार और स्थिति-सम्बन्धी निराशाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध है परंतु इतना गहरा नही जितना कोहेन ने अपने सिद्धान्त मे संकेत किया है।[19]

बाल-अपराध के कारण

साधारणतः बाल-अपराध के कारणों का तीन समूहो में विभाजन करके विश्लेषण किया जाता है—जैविकीय, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक; परन्तु हम इनका व्यक्तित्व-सम्बन्धी और पर्यावरण-सम्बन्धी कारणों के रूप मे उल्लेख करेंगे। व्यक्तित्व-सम्बन्धी कारकों मे शारीरिक अयोग्यता, पुराना रोग और शारीरिक बनावट जैसे जैविकीय कारक; और मन्द-बुद्धि, संवेगात्मक व्याकुलता, अनुकरण, भय आदि जैसे मानसिक कारक हम अपराध के कारणों वाले अध्याय मे बता चुके हैं। यहाँ केवल

---

[15] Cohen, Albert K., *Deviance and Control*, Foundation of Modern Sociology Series, Prentice Hall, New Jersey, 1966, 65-66.

[16] Cohen, Albert K., *Deliquent Boys—the Culture of the Gang*, The Free Press, Glencoe, 1155.

[17] Tappan, Paul W., *Crime, Justice and Correction*, 182.

[18] John Marton, *Delinquent Behaviour*, 65.

[19] 'Though there is a relation between delinquent behaviour and value orientation but the relationship is not of that magnitude assumed by Cohen in his theoretical statement.' Reckless, Walter, *Sociology and Social Research*, ', 1963.

पर्यावरण-सम्बन्धी कारणों का ही हम विश्लेषण करेंगे। इन कारणों को दो सतह पर देखा जा सकता है—(1) घर के अन्दर पर्यावरण, तथा (2) घर के बाहर पर्यावरण। घर के अन्दर वातावरण में छिन्न-भिन्न परिवार, अपराधी परिवार, दोषपूर्ण नियन्त्रण वाले परिवार, कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार और आर्थिक रूप से असुरक्षित परिवारों का हम विवरण करेंगे। घर के बाहर पर्यावरण में 'हम खराब सम्पर्क, पड़ोस और सिनेमा पर विचार करेंगे।

(1) **परिवार**—परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ व्यक्ति सामाजिक नियम सीखता है और विभिन्न लक्षणों का विकास करके अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यह विकास एक सामान्यत. संगठित परिवार मे ही अधिक सम्भव है। कार (Carr) ने सामान्य परिवार के ये लक्षण दिये है[20]—(1) संरचनात्मक सम्पूर्णता अर्थात् परिवार मे माता और पिता दोनों का होना। (आ) आर्थिक सुरक्षा अर्थात् आय में यथार्थ स्थिरता का होना जिससे रहन-सहन का सामान्य स्तर बना रहे। (इ) सांस्कृतिक सरूपता (cultural homogeneity) अर्थात् पति-पत्नी दोनो की भाषा व रीति-रिवाज का एक होना तथा विचारो का भी समान होना। यदि दोनों अलग-अलग सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों वाले व्यक्ति है तो उनकी सन्तान के व्यक्तित्व को सन्तुलित रूप से विकसित न होने की सम्भावना हो सकती है। (ई) नैतिक अनुसरण अर्थात् माता-पिता दोनों द्वारा समाज के नैतिक नियमों का पालन किया जाना। (उ) शारीरिक और मानसिक रूप से प्रकृत-अवस्था अर्थात् घर मे किसी मानसिक तथा शारीरिक अपूर्णता व हीनता का व्यक्ति न होना। (ऊ) कार्यात्मक पर्याप्तता अर्थात् पति-पत्नी मे व माता-पिता और सन्तान मे कोई संघर्ष न होना और उनका निर्विघ्नता से अपने-अपने कार्य करते रहना।

यद्यपि इन सभी लक्षणो वाले परिवार कम ही मिलते है परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि अन्य सभी परिवार अपराध ही उत्पन्न करते हैं। असामान्य परिवार व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति मे बाधाएँ उत्पन्न करते है जिससे वह निराश होकर सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता है। छः प्रकार के असामान्य परिवार अपराधी-व्यवहार को अधिक उत्पन्न करते हैं। ये है—(क) छिन्न-भिन्न परिवार, (ख) अपराधी परिवार, (ग) दोषपूर्ण नियन्त्रण वाले परिवार, (घ) कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार, (च) आर्थिक रूप से असुरक्षित परिवार, और (छ) भीड़-भाड़ वाले परिवार।

(क) **छिन्न-भिन्न परिवार**—यह वह परिवार है जिसमे मृत्यु, परित्याग, तलाक या कारावास के कारण माता अथवा पिता परिवार में नही होते तथा माता या पिता का एक से अधिक विवाह होने के कारण उसके दो या अधिक जीवन साथी होते हैं। पहली परिस्थिति के कारण बच्चे को स्नेह नही मिल पाता और दूसरी के कारण उसकी उपेक्षा होती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए क्योंकि माता का प्यार तथा

[20] Carr, Lowell J., *Delinquency Control*, Harper and Bros., New York, 1950, 166–67.

पिता का नियन्त्रण दोनों ही आवश्यक है इस कारण माता-पिता में से किसी एक का परिवार में न होना बच्चे के सन्तुलित और समाज में समायोजित व्यक्ति होने पर प्रभाव डालता है। यह गलत समायोजन ही उसके अपराधी-व्यवहार को प्रेरणा देता है। सदरलैण्ड के अनुसार अमरीका में 30 से 60 प्रतिशत तक बाल-अपराधी इन छिन्न-भिन्न परिवारों के सदस्य पाये जाते है।[21] 1948 में अमरीका में कैलीफोर्निया में किये गये चार साल के अध्ययन में भी यह पाया गया कि उस राज्य में 62 प्रतिशत बाल-अपराधी छिन्न-भिन्न परिवारो के सदस्य थे।[22] होले और ब्रानर ने भी 1924 मे अमरीका में शिकागो और बोस्टन मे किये गये 4000 अपराधियों के अध्ययन में 50 प्रतिशत अपराधियो को[23], शेलडन और ग्लूक ने 966 बाल-अपराधियो के अध्ययन मे 48 प्रतिशत अपराधियों को[24], हन्सा सेठ ने बम्बई, पूना और अहमदाबाद मे अध्ययन किये गये अपराधियो में से 47·4 प्रतिशत को, रटनशा ने बम्बई मे किये गये 225 अपराधियो में से 50 प्रतिशत को[25] ऐसे ही (छिन्न-भिन्न) परिवारो की पृष्ठभूमि वाला पाया। इन छिन्न-भिन्न परिवारो के सभी सदस्य अपराधी क्यों नही बनते इसका कारण देते हुए सदरलैण्ड ने कहा है कि अपराध में छिन्न-भिन्न परिवारो का महत्त्व अब इतना अधिक नही माना जाता जितना पहले माना जाता था।[26] अब परिवार के सदस्यो के आपसी सम्बन्ध तथा किस प्रकार वे सभी परिवार मे उत्पन्न हुई विभिन्न घटनाओं का सामना करते है अपराधी-व्यवहार मे अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

(ख) अपराधी परिवार—अपराधी परिवार वह है जिसमें एक या अधिक सदस्य, विशेषकर माता या पिता, अपराधी है। उनका अपराधी-व्यवहार बच्चों के विकास पर कुप्रभाव डालता है। अपराधी माता या पिता जान-बूझकर उन्हें अपराध सिखाते है अथवा बच्चे स्वयं अनुकरण द्वारा उनसे अपराध सीखते है। ग्लूक ने 1000 बाल-अपराधियों के अध्ययन मे पाया कि 80 प्रतिशत अपराधी ऐसे ही अपराधी परिवारों के सदस्य थे।[27] भारत मे सासी, कजर, नट आदि अपराधी जन-जातियों के परिवारो में भी ऐसे ही अपराधी पर्यावरण के कारण बच्चे अपराध सीखते है। सिरिल बर्ट का भी कहना है कि अपराधी परिवार अनपराधी परिवारों की अपेक्षा सात गुना अधिक अपराध करते हैं।[28]

---

[21] Sutherland, Edwin, *Principles of Criminology*, Times of India Press, Bombay, 1965, 175.

[22] Quoted by Caldwell, Robert G., *Criminology*, Ronald Press Co., N. York, 1956, 232.

[23] William, Healy and Bronner, A. F., *Delinquents and Criminals—their making and unmaking*, MacMillan Co, N. York, 1926, 121–22.

[24] Sheldon and Glueck, *One Thousand Juvenile Delinquents*, Harvard University Press, Cambridge, 1934, 75–77.

[25] Ruttonsha, *op cit*.

[26] Sutherland, *op. cit.*, 177.

[27] Sheldon and Glueck, *op. cit.*, 79–80.

[28] Cyril Burt, *op. cit*, 60–98.

(ग) **दोषपूर्ण नियन्त्रण वाले परिवार**—जिस परिवार मे बच्चों के ऊपर नियन्त्रण में बहुत कठोरता अथवा मृदुता होती है, ऐसा परिवार भी अपराधी उत्पन्न करता है। अधिक कठोरता के कारण बालक अपनी सभी इच्छाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा नहीं कर पाता जिस कारण उसमे नैराश्य पैदा होता है या फिर माता-पिता का विरोध करने लगता है। यह विरोध आगे चलकर समाज के प्रति विरोध में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार अधिक मृदुता के कारण बालक जो माँगता है वह उसे मिल जाता है जिससे उसे परिवार के बाहर समाज में अन्य लोगों से सामना करने की शिक्षा नहीं मिल पाती। इस शिक्षा के अभाव में वह अपनी इच्छित वस्तुओं व इच्छाओं को प्राप्त करने के लिए वैध और मान्यता प्राप्त तरीके प्रयोग न करके अवैध अथवा अपराधी तरीके ही अपनाता है। लखनऊ में रिफारमेट्री स्कूल में किये गये एक अध्ययन में 107 बाल-अपराधियों में से 57 (53·2 प्रतिशत) के परिवार में कठोरता पायी गयी। इन 57 में से 25 अपराधियों के पिता कठोर पाये गये, 12 में माता, 8 में माता व पिता दोनों, 4 में भाई, 5 में माता व भाई और 3 में पिता व भाई कठोर थे। किसी भी अपराधी की बहन कठोर स्वभाव वाली नहीं मिली। इसी प्रकार बाल-कारावास, बरेली मे अध्ययन किये गये 279 बाल-अपराधियों में से 129 (46·5 प्रतिशत) अपराधियों के परिवारो मे नियन्त्रण में कठोरता पायी गयी।[29] इनमें 88 अपराधियों के पिता कठोर थे, 18 में माता, 13 में माता व पिता और शेष 10 मे अन्य सदस्य कठोर थे।

(घ) **कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार**—यह वह परिवार है जिसके सदस्यों में आपसी संघर्ष अधिक मिलते है अथवा उनमे नैराश्य ज्यादा पाया जाता है। नैराश्य माता-पिता द्वारा दुतकारे जाने के कारण अथवा प्रतिद्वन्द्विता, संवेगात्मक असुरक्षा, कठोर प्रभुत्व, पक्षपात, ईर्ष्या आदि जैसी भावनाओं के कारण उत्पन्न होता है। यह नैराश्य सदस्यों के व्यक्तित्व को पंगु बना देता है। कार (Carr) के शब्दों में कार्यात्मक अपर्याप्त परिवार सांवेगिक रूप से अस्वस्थ परिवार होता है।[30] कार्ल रोजर, हीले और ब्रानर, बर्ट, गिलूक आदि द्वारा किये गये अध्ययनों से भी इस प्रकार के परिवारों का अपराध मे बहुत महत्त्व मिलता है।

(च) **आर्थिक रूप से असुरक्षित परिवार**—यह वह परिवार है जिसमें आय मे यथार्थ स्थिरता नहीं होती अथवा आय अपर्याप्त होती है जिससे सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता। निर्धनता और अपराध के सम्बन्ध में किये गये बोंगर, बर्ट, हीले और ब्रानर, हन्सा सेठ व रतनशा आदि के विभिन्न अध्ययनों का उल्लेख पहले ही किया गया है।

(2) **खराब सम्पर्क (खेल-समूह और गिरोह)**—बच्चे सभी जगह खेल-समूहों में भाग लेते है और यह आमने-सामने के घनिष्ठ सम्पर्क उन पर बहुत प्रभाव डालते

[29] Kr. Ram Singh, *Juvenile Delinquency in India.*
[30] Carr, *op. cit.*, 167.

है। यह उनकी बोलचाल, व्यावहारिक ढंग, उनके अपने और अन्य लोगों के प्रति विचार और धारणाओं, आदर्श आदि को निश्चित करते हैं। एक प्रकार से यह खेल-समूह परिवार से भी अधिक शिक्षा देने वाले समूह का कार्य करते है। दूसरी ओर गिरोहो की सदस्यता खेल-समूहों की अपेक्षा अधिक स्थिर होती है। इन गिरोहो मे निश्चित सगठन भी पाया जाता है। यह बच्चों और युवा लोगों की उन विभिन्न आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न होते है जिनको वे अन्य साधनों द्वारा पूरा नही कर पाते। यह गिरोह सदस्यो को उत्तेजना व सनसनी, साहस, प्रतिष्ठा, सुरक्षा आदि प्रदान करते हैं। परन्तु सभी खेल-समूह व गिरोह अपराध उत्पन्न नही करते और न ही सभी बालक उनके सदस्य बनते है। रेक्लेस के अनुसार व्याकुल, अधिक फुर्तीले व साहसी और यूथशीलता (gregarious nature) वाले बच्चे ही इनसे अधिक प्रभावित होते हैं।[31] इसी तरह जो गिरोह या खेल-समूह अच्छी तरह सगठित है वे समाज के लिए लाभदायक ही होते है, परन्तु जो असगठित, प्रमत्त व उपेक्षित होते है वे ही समाज से संघर्ष मे आने के कारण समाज-विरोधी कार्य करते है। सघर्ष-समूह होने के कारण ये गिरोह अपने नियम आदि स्वयं ही बनाते है जो सदस्यो के अपराधी कार्यो को भी नियन्त्रित करते हैं। बर्ट, क्लिफोर्ड शा, हीले आदि के अनुसार ऐसे गिरोह और खेल-समूह 'अपराधी क्षेत्रो' में अधिक पाये जाते हैं।[32]

(3) पड़ोस—गाँवो की अपेक्षा यद्यपि शहरों मे पड़ोस का एक नियन्त्रण वाले समूह के रूप में महत्त्व कम होता जा रहा है फिर भी व्यक्ति पर, विशेषकर बच्चों के विकास में, इसका अब भी अधिक महत्त्व है। बालक यही पर खेलता है और यहीं पर नयी-नयी बात भी सीखता है। काल्डवैल के अनुसार पडोस अपराधी व्यवहार को इस प्रकार उत्पन्न करता है कि वह व्यक्तित्व की मूल आवश्यकताओं में बाधाएँ डालता है, सांस्कृतिक सघर्ष पैदा करता है तथा समाज-विरोधी मूल्यों का पोषण करता है।[33] अधिक भीड़-भाड़ वाला पडोस, जहाँ मनोरंजन अपर्याप्त होता है, बच्चों की स्वाभाविक खेल-प्रवृत्ति में बाधा उत्पन्न करता है और कभी-कभी अपराधी गिरोह को भी रचना करता है। पड़ोस में सस्ते होटल, जुआ खेलने के अड्डे, वेश्यागृह, सिनेमा आदि के होने के कारण भी समाज-विरोधी कारक पैदा होते हैं।

(4) **सिनेमा और कामुक उपन्यास**—व्यक्ति के अवकाश सम्बन्धी कार्य भी उसके विचारो और व्यवहार पर प्रभाव डालते है। अच्छी तरह नियोजित और निरीक्षित मनोरंजन व्यक्तित्व के विकास में एक मुख्य तत्त्व है। अखबार, अच्छी पत्रिकाएँ और पुस्तक व्यक्ति के विचारो और दृष्टिकोण को विकसित करते है परन्तु कामुक उपन्यास, सिनेमा आदि उसमें अनैतिक तथा अवैध भावनाओं को उत्पन्न करते

---

[31] Walter Reckless, 'The Etiology of Delinquent and Criminal Behaviour', *Handbook of Practical Suggestions* ..., *op. cit.*, 30

[32] Cyril Burt, *op. cit.*, 125; Shaw and Mckay, *Social Factors in Juvenile Delinquency*, 191-99, Healy, *The Individual Delinquent*, Boston, 1915, 130.

[33] Caldwell, *op. cit.*, 240.

है। सिनेमा व्यक्तियों में अनेक उत्तेजनाएँ और कुविचार पैदा करते हैं जिनसे उनके अपराधी व्यवहार को प्रोत्साहन मिलता है। ब्लूमर ने अमरीका में अपराधियों के एक अध्ययन में यह पाया कि अध्ययन किये गये अपराधियों में से 10 प्रतिशत पुरुष और 25 प्रतिशत महिला अपराधियों ने सिनेमा के कुप्रभाव के कारण ही अपराध किया था। उसका कहना है कि चलचित्र खतरा मोल लेने के गुण को विकसित करते है, दिवा स्वप्न पैदा करते हैं, आसानी से रुपया कमाने की इच्छा को प्रोत्साहित करते हैं, कामुक इच्छाएँ भड़काते हैं तथा अपराधित्व की शिक्षा देते है।[34] न्यूकोम्ब का विचार है कि चलचित्र व्यक्तियों को जीवन का क्षणिक दर्शन प्रदान करते है व अपराध करने के तरीके सिखाते हैं क्योंकि बच्चे अभिनेताओं की भाषा व आचरण का अनुसरण करते है।[35] सदरलैण्ड ने भी चलचित्रों के कुप्रभाव पर बल दिया है। उसका कहना है कि बहुत से बालक सिनेमा देखने से चोरी व राहजनी सीखते हैं, गिरोह बनाते है तथा सिनेमाओं मे दिखाये गये अपराध करने के तरीकों को अपनाते है।[36] कुछ वर्ष पहले भारत में भी एक अपराधी ने सिनेमा देखने के बाद एक म्यूजियम में घुसने और एक लाख के मूल्य की वस्तुएँ चुराने मे वह तरीका अपनाया जो कुछ घण्टे पूर्व उसने पिक्चर मे देखा था। इसी प्रकार 'पिकपाकेट', 'आवारा' आदि पिक्चर देखने के बाद घर से भागे हुए युवकों द्वारा अपराध करने पर उनका पकड़ा जाना भी सिद्ध करता है कि सिनेमा का युवकों के मन पर कितना घनिष्ठ प्रभाव पड़ता है और किस तरह यह अपराधी मनोवृत्तियाँ उत्पन्न करते है।

परन्तु हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि चलचित्रों का कुप्रभाव कमजोर व अन्यायपूर्ण पृष्ठभूमि वाले बच्चो पर ही अधिक पड़ता है। न्यूकोम्ब ने भी कहा है कि चलचित्रों का प्रभाव व्यक्तियों की सामाजिक, धार्मिक व सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है।[37]

आवारागर्दी—आवारा बालक उस सात वर्ष से सोलह या अट्ठारह वर्ष की आयु तक के बालक को कहा जाता है जो माता-पिता की आज्ञा बिना घर से

---

[34] 'Through the display of crime techniques and criminal patterns of behaviour, by arousing desires for easy money and luxury and by suggesting questionable methods for their achievement, by inducing a spirit of bravado, toughness and adventurousness, by arousing intense sexual desires, by invoking day-dreaming and criminal roles, pictures may create attitudes and furnish techniques conducive to delinquent or criminal behaviour.' Blumer, Herbert and Hauser, Philip M., *Movies, Delinquency and Crime*, MacMillan Co., 1933, 198-99.

[35] 'Movies, provide people with temporary philosophies of life and with fashions in dress; they teach children techniques of love-making and certain criminal techniques. Children impersonate actors in their language and conduct.' Newcomb, Theodore M., *Social Psychology*, Dryden, New York, 1950, 91.

[36] Sutherland, *op. cit.*, 215.

[37] New Comb, *op. cit.*, 94.

अनुपस्थित रहता है तथा आवारागर्दी (vagrancy) करता फिरता है। इसमे व्यक्तित्व के विघटन सम्बन्धी लक्षण भी दिखाई देते है; उदाहरणार्थ, अशिष्टता, ढिठाई, असत्यता, यौन अनैतिकताओं मे फँसे रहना, जुआ खेलना, सिगरेट व शराब पीने की आदत, अनैतिक व्यक्तियों के साथ उठना-बैठना, अश्लील भाषा का प्रयोग करना, इत्यादि। इन आवारा बालकों को मुख्यतः दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है—एक वे जो फुटपाथ पर रहते हैं और दूसरे वे जो दिन को तो सड़को पर अकारण ही चक्कर लगाते फिरते है परन्तु रात्रि को अपने ही घर पर सोते है। कुछ अध्ययनों के आधार पर यह पाया गया है कि इनकी आवारागर्दी मे परिवार, पड़ोस व स्कूल मुख्य कारक है। लखनऊ और कानपुर में एक सर्वेक्षण में अध्ययन किये गये 300 बालकों (आवारा) मे से 30·3 प्रतिशत 13–14 वर्ष की आयु के पाये गये, 21·0 प्रतिशत 11–12 वर्ष के, और 20·7 प्रतिशत 15 वर्ष के; शेष 28·0 प्रतिशत या तो 11 वर्ष से कम थे अथवा 16 वर्ष से अधिक।[33] इस आधार पर कहा जा सकता है कि किशोर अवस्था मे बच्चों में आवारागर्दी अधिक मिलती है। इनके परिवारों के अध्ययन मे पाया गया कि 57·3 प्रतिशत बच्चे सामान्य परिवारों के सदस्य थे और 42·7 प्रतिशत विच्छिन्न परिवारों के, जिससे यह ज्ञात होता है कि सामान्य परिवारों में माता-पिता का नियन्त्रण अथवा माता-पिता के आपसी सम्बन्ध आवारागर्दी के प्रमुख कारक है। गिरफ्तार करने के उपरान्त आवारा बच्चों को या तो बाल-जेलों मे भेजा जाता है अथवा किसी मान्यता प्राप्त स्कूल व सुधारालय आदि में।

बिना आज्ञा स्कूल से अनुपस्थित होने वाले बच्चे—बाल ट्रूएन्ट (truant) वह 7 और 16 वर्ष के बीच की आयु का बालक है जो बिना किसी उचित, सभ्य व समर्थनीय कारण के स्कूल से अनुपस्थित रहता है। ये बालक हमेशा वे नहीं होते जो परीक्षा में अनुत्तीर्ण ही होते रहते हैं, परन्तु वे भी होते है जिनको शैक्षणिक दृष्टिकोण से अच्छा विद्यार्थी कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्कूल से भागने पर सभी बच्चे अन्य ट्रूएन्टस् के सम्पर्क में नही पाये जाते। कुछ तो अकेले ही घूमते-फिरते हैं और कुछ के मित्र सामान्य व अनपराधी होते हैं। अधिकतर बच्चों के लिए स्कूल से भागने का कारण अध्यापक का व्यवहार तथा स्कूल का वातावरण होता है। अध्यापक का निष्ठुर शासक व तीव्र स्वभाव का होना, उसके द्वारा अश्लील भाषा का प्रयोग करना, अच्छा न पढ़ाना आदि बच्चे को स्कूल से भागने पर विवश करता है।

कानपुर के 485 ट्रूएन्टस् के एक अध्ययन के आधार पर उनको तीन समूहों मे बाँटा गया है[34]—(1) सामयिक, (2) अभ्यस्त और (3) बार-बार भागने वाले बच्चे। बिना आज्ञा स्कूल से अनुपस्थित रहने वाले सामयिक बच्चे वे बताये गये हैं जो एक वर्ष के कार्यकाल के कुल कार्य-दिनों मे से 10 प्रतिशत से कम दिन तक स्कूल

[33] Srivastava, S S, quoted by Sushil Chandra, *Sociology of Deviation India*, Allied Publishers, Bombay, 1967, 4.

[34] Khanna, R. J, quoted by Sushil Chandra, *op. cit.*, 10–11.

से अनुपस्थित रहते है। यह बच्चे अधिकतर स्कूल के पर्यावरण व अध्यापकों के व्यवहार के कारण ही कक्षाओं से भागते है। साथ मे इनकी उल्लास व आमोद-प्रमोद तथा साहसिक कार्य करने की भी इच्छा रहती है जो स्कूल में पूर्ण नही हो पाती। ये बच्चे क्योंकि संकेत व प्रलोभन से शीघ्र प्रभावित होते हैं इस कारण इनका सही प्रबन्ध कर इनको सुधारना बहुत आसान है। अभ्यस्त ट्रूएन्टस वे बच्चे बताये गये हैं जो कुल कार्य-दिनो में से 10 और 30 प्रतिशत के बीच कक्षाओं से अनुपस्थित रहते हैं। यह बच्चे न केवल अश्लील भाषा का प्रयोग करते है अपितु सामान्य ट्रूएन्टस् पर भी बहुत प्रभाव डालते हैं। तीसरे प्रकार के बार-बार अनुपस्थित रहने वाले बच्चे वे बताये गये है जो 30 प्रतिशत से अधिक कार्य-दिनों के लिए कक्षाओं से अनुपस्थित रहते हैं। ये न केवल स्कूल से भागते है अपितु इन्हे घर से भी भागने की आदत होती है। इनको अध्यापकों के प्रति कोई आदर व श्रद्धा नही होती तथा दण्ड मिलने पर बदला लेने की इच्छा भी रखते हैं। ये उत्तेजित और आक्रमणकारी होते है तथा इनमें नेतृत्व के लक्षण भी पाये जाते है।

सधा द्वारा अध्ययन किये गये स्कूल से बिना आज्ञा अनुपस्थित रहने वाले 485 बच्चों मे से 35·1 प्रतिशत सामयिक, 40 प्रतिशत अभ्यस्त और 25 प्रतिशत बार-बार अनुपस्थित रहने वाले ट्रूएन्टस् पाये गये।[40] इन तीनों प्रकार के बच्चों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार थे—(1) अधिकतर ट्रूएन्टस् 10 और 13 वर्ष के बीच के अथवा कम आयु के थे। (2) अधिकाश 90 प्रतिशत बच्चे 150 रुपये प्रति माह से कम आय वाले परिवार अथवा निम्न आर्थिक समूहों के सदस्य थे। (3) अधिकतर बच्चों के माता-पिता के आपसी सम्बन्धों मे संघर्ष पाया गया। (4) लगभग आधे बच्चे कोई नौकरी या व्यवसाय करते हुए पाए गए।

इन लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि क्योंकि परिवार और स्कूल बच्चों के स्कूल से भागने में मुख्य कारक है, इसलिए उनके इस अपराध को नियन्त्रित करने के लिए हमें इन समूहों के वातावरण को ही नियन्त्रित करना होगा।

बाल-न्यायालय

बीसवीं शताब्दी मे अपराधियों के प्रति वैज्ञानिक उपचार सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आने से यह आवश्यक माना गया कि बाल-अपराधियों पर अभियोग चलाने (prosecution) के लिए अलग न्यायालय स्थापित किये जाने चाहिए। सबसे पहले 1915 में बम्बई जेल प्रशासन रिपोर्ट में इसकी आवश्यकता पर बल दिया गया परन्तु सबसे पहला बाल-न्यायालय (*Juvenile Court*) 1922 मे कलकत्ता मे खोला गया, उसके बाद 1927 में बम्बई मे तथा 1930 मे मद्रास मे। 1930 के उपरान्त धीरे-धीरे कुछ अन्य राज्यों में भी इस प्रकार के न्यायालय स्थापित किए गए। परन्तु अब भी सभी राज्यों मे बाल-न्यायालय नही मिलते। अधिकांशतः यह

[40] *Ibid.*

न्यायालय अलग मकानों में होते हैं परन्तु जहाँ अलग भवन नहीं होते वहाँ वयस्क अपराधियों के न्यायालय में ही एक अलग कमरे में लगाए जाते हैं। इनकी संरचना भी साधारण न्यायालय से भिन्न है। इनमें अधिकतर महिला मजिस्ट्रेट को नियुक्त किया जाता है यद्यपि ऐसे भी न्यायालय हैं जहाँ पुरुष मजिस्ट्रेट पाए जाते हैं जिनको बाल-मनोविज्ञान और बाल-कल्याण का विशेष ज्ञान होता है। इन अदालतों में किसी सरकारी अधिवक्ता को अपने अधिकारी वर्दी में आने नहीं दिया जाता तथा सभी सादे कपड़ों में ही रहते हैं। न्यायालय की कार्यवाही में भी गोपनीयता रखी जाती है। इस अदालत द्वारा दण्ड मिलने वाले बच्चे की स्थिति पर प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि पुनः अपराध करने पर उसके पहले दण्ड को ध्यान नहीं दिया जाता जैसाकि वयस्क अपराधियों में पाया जाता है। इस तरह बाल-न्यायालयों के मुख्य लक्षण इस प्रकार दिए जा सकते हैं—(1) कार्यवाही की अनौपचारिकता, जैसे घर जैसा वातावरण, जिरह न करके साधारण बातचीत द्वारा तथ्य एकत्रित करना आदि, (2) दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक न होना, और (3) सुधार पर बल देना।

यदि हम बाल-न्यायालय और वयस्क अपराधियों के न्यायालय की तुलना करें तो हमें दोनों में यह अन्तर मिलेगा :

(1) साधारण न्यायालय की कार्यवाही में गोपनीयता नहीं मिलती परन्तु बाल-न्यायालयों में मिलती है, अर्थात् जनता को मुकदमे की कार्यवाही सुनने और समाचार-पत्रों में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित करना निषेध है।

(2) साधारण न्यायालय में हर अपराध के लिए पूर्व निश्चित दण्ड दिया जाता है परन्तु बाल-न्यायालय में अलग-अलग अपराध के प्रकृति के आधार पर ही दण्ड निश्चित किया जाता है।

(3) वयस्क न्यायालयों में केवल उन्हीं को दण्डित किया जाता है जो कानून का उल्लंघन करते हैं परन्तु बाल-न्यायालयों में कानून के उल्लंघन के अतिरिक्त उपेक्षाच्युत व्यवहार के लिए भी दण्ड मिलता है।

(4) बाल-न्यायालयों में निर्णय का आधार परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट होती है जिसमें अपराधी के व्यक्तित्व व परिवार, स्कूल तथा पड़ोस आदि परिस्थितियों का विश्लेषण होता है परन्तु वयस्क अपराधी न्यायालय में ऐसी सामाजिक छानबीन पर महत्व नहीं दिया जाता।

(5) वयस्क न्यायालयों द्वारा वयस्क अपराधी के दण्ड को उसके दूसरे अपराधों में महत्त्व दिया जाता है परन्तु बाल-न्यायालय के दण्ड को बालक के द्वारा अपराध करने पर अन्य न्यायालय में उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने में महत्त्व नहीं दिया जाता।

बाल-न्यायालयों के इन्हीं लक्षणों के कारण यह कहा जाता है कि इनके तरीकों को वयस्क अपराधी न्यायालयों पर भी लागू करना चाहिए। लिडसे का कहना है कि बाल-न्यायालयों का मुख्य लाभ यह है कि ये पुरानी विधि-संहिता को । करके न केवल बाल अपराधियों के लिए अपितु वयस्क अपराधियों के लिए

भी एक नयी विधि संहिता स्थापित कर रहे हैं।[41] हाल (Hall) के अनुसार यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही बाल-न्यायालयों के तरीकों का विस्तार करके वयस्क अपराधी न्यायालयों में कुछ वयस्क अपराधियों के लिए भी ये उपयोग किए जायेंगे।[42]

जो मुख्य तरीके भारतीय बाल-न्यायालय अपराधियों को दण्ड देने में प्रयोग करते हैं वे हैं—जुर्माना करना, चेतावनी देकर तथा अच्छे व्यवहार का बाण्ड भरवाकर माता-पिता अथवा संरक्षक को सौंप देना, परिवीक्षा पर छोड़ देना, मान्यता प्राप्त स्कूल, परिवीक्षा-होस्टल आदि जैसे किसी सुधारवादी संस्था में भेजना, इत्यादि। बम्बई में रटनशा द्वारा अध्ययन किये गए विभिन्न बाल-न्यायालयों द्वारा तय किए गए 40119 अपराधियों के मुकदमों में से 4 प्रतिशत मुकदमे अध्ययन के समय बाल न्यायालयों में विचाराधीन थे तथा शेष 96 प्रतिशत अपराधियों के केस समाप्त किए गए थे। इन 96 प्रतिशत में से 12.5 प्रतिशत अपराधों में बच्चों को अनपराधी मानकर मुक्त कर दिया गया था और 87.5 प्रतिशत को अपराधी पाया गया था। इन 87.5 प्रतिशत (लगभग 33700) अपराधियों में से 37.6 प्रतिशत बाल-अपराधियों को जुर्माना किया गया, 12.5 प्रतिशत को चेतावनी देकर छोड़ दिया गया, 12.9 प्रतिशत को जेल भेजा गया, 10.1 प्रतिशत को परिवीक्षण पर रखा गया, 8.3 प्रतिशत को सुधारात्मक संस्थाओं में भेजा गया और शेष 18.6 प्रतिशत को कोई अन्य दण्ड दिया गया।[43] इन आकड़ों से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार बाल-न्यायालयों का मुख्य उद्देश्य दण्ड देने की अपेक्षा सुधार करना है। इन सुधारात्मक तरीकों के उपयोग के कारण कुछ व्यक्ति बाल-न्यायालयों को बहुत उपयोगी मानते हैं परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो इनको व्यर्थ समझते हैं। एक तरफ टैफ्ट[44] और लिंडसे[45] जैसे विद्वानों का कहना है कि अपराध को रोकने में जो कार्य साधारण न्यायालय 10 वर्षों में भी नही कर पाये हैं वह ही कार्य बाल न्यायालय एक वर्ष मे कर रहे है, दूसरी ओर बेकर और हीले जैसे विद्वानों की मान्यता है कि क्योंकि बाल न्यायालय को एक सामान्य व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखता है, प्रशासक घृणा से और न्यायाधीश शक्तिहीनता की दृष्टि से, इस कारण इन अदालतों को सुरक्षित रखना आवश्यक नही है। कुछ प्रगतिवादी बाल न्यायालयों के विरुद्ध इसलिए है क्योंकि सिद्धान्त मे तो ये अपराधियों के सुधार पर बल देते है परन्तु वास्तव में दण्ड पर अधिक बल है। कुछ रूढ़िवादी फिर बाल न्यायालयों के विरुद्ध इस कारण है कि यह बहुत महँगे है तथा ये अपराधियों को कठोर दण्ड न देकर समाज को उनसे सुरक्षा प्रदान नही करते और न ही सामाजिक छानबीन पर महत्व

---

[41] Lindsey, B. B., *The Blast*, Doubleday, N. York, 1910, 149.

[42] Hall Jerome, *Theft, Law and Society*, Indianapolis, 1952, 184.

[43] Ruttonsha, G. N., *op. cit*, 81.

[44] Taft, Donald R., *Criminology*, MacMillan Co., N. York, 1950.

[45] Lindsey, B., 'The Juvenile Court Movement from a Lawyer's point' in *Annals*.

देते है। लेकिन जैसाकि देखा गया है, ये सभी तर्क सही नही हैं। यदि हम यह मानते हैं कि बच्चों के व्यवहार और वयस्कों के व्यवहार मे अन्तर है तो उस व्यवहार को नियन्त्रित करने के तरीके भी अलग-अलग अपनाने होंगे। इस दृष्टि से बाल-न्यायालयों की उपयोगिता की उपेक्षा करना गलत होगा।

अवलोकन-गृह या सुधारालय (Remand Home)

जिन बच्चों के अपराध न्यायालय में लाये जाते है उनको मुकदमे समाप्त होने तक कहाँ रखा जाए यह समाज के लिए एक समस्या रहती है। जिन अपराधियों के परिवार हर प्रकार से संगठित व सामान्य पाए जाते हैं उनको तो उनके घरों में रखना हानिकारक नहीं होता परन्तु कुछ अपराधो मे क्योंकि बालक या तो बिना घरबार के होता है या परिवार का अपराध में मुख्य कार्य पाया जाता है या फिर किसी कारण अपराधी को अभियोग काल में परिवार और समाज से दूर रखना आवश्यक होता है इस कारण बच्चे को किसी अन्य सुरक्षित स्थान में रखना अनिवार्य समझा जाता है। फिर इस काल मे उसके व्यक्तित्व व व्यवहार का अवलोकन तथा परिवार व पड़ोस आदि के वातावरण का अध्ययन भी आवश्यक है। इस अवलोकन हेतु भारत मे कुछ सदन खोले गए है जिनको अवलोकन-गृह या सुधारालय (remand home) कहा जाता है। यह सुधार-गृह इस तरह बच्चों को बन्दी करने अथवा हिरासत के स्थान नही होते परन्तु उनके व्यवहार के निरीक्षण के स्थान होते हैं।

क्लिफोर्ड मैनशार्ड[46] ने अच्छे सुधार-गृहों की कुछ आवश्यकताएँ बताई है—जैसे, लिंग के आधार पर बच्चों का पृथक्करण, शैक्षिक प्रशिक्षण और मनोरंजन की सुविधाएँ, शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के अध्ययन की सुगमता, प्रभावकारी निरीक्षण, सीमित अनुशासन, बाल न्यायालयों का इन पर नियन्त्रण, इत्यादि। मैनशार्ड की मान्यता है कि सुधार-गृह में रखा जाना बच्चे का कानून से पहला संसर्ग होता है। इस कारण सुधार-गृह में सुधार के तरीके ही बच्चे की बाल न्यायालय के प्रति धारणा को निर्धारित करेंगे। यदि बालक बाल न्यायालय के प्रति सन्देहशील और अविश्वासपूर्ण है तो वह कभी भी मजिस्ट्रेट को अपने बारे मे सही और सम्पूर्ण सूचना नही देगा जिसके अभाव में बाल न्यायालय उसके सुधारने के यथार्थ तरीके को निर्धारित नहीं कर पायेगा। इसलिए आवश्यक है कि सुधार-गृह मे उल्लंघनीय व कठोर वातावरण नही होना चाहिए।

भारत मे कुछ राज्यो मे जो सुधार-गृह पाए जाते हैं उनकी व्यवस्था व कार्य-प्रणाली भी क्लिफोर्ड मैनशार्ड के सुझावों से मिलती है। 1970 के आँकडों के अनुसार बारह राज्यों और तीन केन्द्र-प्रशासित क्षेत्र मे सुधार-गृह स्थापित थे। इनमें से सबसे अधिक महाराष्ट्र मे (33), उसके उपरान्त गुजरात और मैसूर में (प्रत्येक में 19), और फिर तमिलनाडु में (11), केरल व उत्तर प्रदेश (प्रत्येक में

[46] Clifford Manshardt, *The Delinquent Child*, *op. cit.*, 93–94.

13), बिहार में (7) तथा आन्ध्र प्रदेश व दिल्ली (प्रत्येक में तीन) मे मिलते हैं। बंगाल में केवल दो ही सुधार-गृह है। इन कुल 124 सुधार-गृहों में से 69 सरकारी गृह है और 55 निजी हैं।[47] लड़को और लड़कियों के लिए पृथक् सुधार-गृह है। भारत के सुधार-गृहों मे जो मुख्य बात पायी जाती है वह यह है कि ये बाल अपराधियों के अतिरिक्त निराश्रय व अनाथ और उपेक्षित आदि बच्चो के लिए भी उपयोग किए जाते है। इन गृहो में रखे गए कुछ बालको मे से केवल 15 से 20 प्रतिशत के लगभग ही बाल अपराधी होते है जबकि शेष बच्चे अनाथ तथा उपेक्षित आदि होते है। *आयु की दृष्टि से सुधार-गृहों में रखे गए बच्चों का दो-तिहाई हिस्सा 7–14 आयु* समूह में पाया जाता है और एक-तिहाई बच्चे या तो 7 साल से कम या 14 और 18 साल के बीच के आयु के पाए जाते है। 1965 के आकड़ो के अनुसार भारत मे दिल्ली और नौ अन्य राज्यों के विभिन्न सुधार-गृहो मे पाये जाने वाले 26561 निवासियो मे से 8 प्रतिशत सात वर्ष से कम थे, 33 प्रतिशत 7 से 12 वर्ष के, 33 प्रतिशत 12 से 14 वर्ष के, 20 प्रतिशत 14 से 16 वर्ष के और 6 प्रतिशत 16 से 18 वर्ष के थे।[48] इस आधार पर पहले बताया गया भारत मे बाल अपराध का यह लक्षण कि किशोरावस्था में बाल अपराध सबसे अधिक पाया जाता है सिद्ध नही होता। सम्भवतः इसका कारण यह है कि सुधार-गृहों मे अपराधियों की अपेक्षा निराश्रय और उपेक्षित आदि बच्चों की संख्या अधिक है।

रहने की अवधि की दृष्टि से देखा गया है कि सुधार-गृहो में लगभग 50 प्रतिशत बच्चे 6 सप्ताह से कम रखे जाते है, 35 प्रतिशत के लगभग 6 सप्ताह और 6 महीने के बीच और शेष 15 प्रतिशत के करीब 6 माह से अधिक समय के लिए।[49] इसका कारण एक यह है कि तीन-चार माह में बच्चे के व्यवहार का अवलोकन करके उसके व्यक्तित्व का अध्ययन पूरा किया जाता है और साथ में परिवीक्षा अधिकारी भी बच्चे के परिवार, स्कूल आदि का अध्ययन पूरा कर अपनी रिपोर्ट तैयार कर लेता है। फिर, 5–6 महीने मे न्यायालय द्वारा भी केस समाप्त कर दिया जाता है।

गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और दिल्ली के सुधार-गृहो मे बच्चो के मानसिक अध्ययन के लिये मानसिक रोग चिकित्सक भी पाए जाते है। इसी प्रकार बिहार, केरल और तमिलनाडु के अलावा शेष सात राज्यों के सुधार-गृहों मे परिवीक्षा अधिकारी भी पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त डाक्टर और शिक्षक भी इन गृहो में आंशिक समय या पूरे समय के लिए नियुक्त किए जाते हैं। एक बच्चे पर औसतन 60 रुपये प्रति माह इन गृहों में व्यय किया जाता है जो एक साधारण जेल में रहने वाले एक वयस्क अपराधी पर किये जाने वाले व्यय से कहीं अधिक है। इससे ज्ञात होता है कि साधारण जेलो मे सुधार पर रखे जाने वाले वयस्क अपराधियों के विपरीत सुधार-

[47] See *Social Defence in India*, Aug. 1970, 21.
[48] *Ibid.*, 22.
[49] *Ibid*, 23.

गृहों में रखे जाने वाले बाल अपराधियों को खाली रखने के बजाय कोई कार्य करवाकर आरम्भ से ही उनके सुधारने के प्रयत्न किए जाते हैं।

बाल अपराधियों का सुधार और संस्थात्मक उपचार

बाल अपराधियों के सुधार के लिए कुछ सुधारवादी संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं, जैसे मान्यता प्राप्त स्कूल, बार्स्टल स्कूल, परिवीक्षण होस्टल इत्यादि। यद्यपि जेल भी अपराधियों को सुधारने की संस्थाएँ हैं परन्तु जेल और अन्य सुधारात्मक संस्थाओं में अन्तर है। कारावास में रखने के कारण बालक को एक धब्बा लग जाता है जो उसके लिए जेल से छूटने के बाद पुनर्वास में बाधाएँ उत्पन्न करता है। दूसरा, जेल में अपराधी की व्यक्तिगत देख-भाल सम्भव नहीं है पर बाल संस्था में यह सम्भव है। तीसरे, जेल में रहने से अपराधी का समाज के सम्पर्क बिल्कुल समाप्त हो जाता है परन्तु संस्था में रहने से उसका यह सम्बन्ध बना रहता है। इन्हीं सुधारात्मक संस्थाओं का अब हम विस्तारपूर्वक विश्लेषण करेंगे।

बार्स्टल स्कूल (Borstal School)—बार्स्टल स्कूल बाल अपराधियों के लिए नहीं अपितु किशोर-अपराधियों के लिए होते हैं, अथवा इनमें केवल उन्हीं अपराधियों को रखा जाता है जो 15 और 21 वर्ष के बीच में होते हैं। यह स्कूल राज्य में बार्स्टल स्कूल एक्ट के आधार पर खोले जाते हैं। 1970 के आँकड़ों के अनुसार भारत में इस समय नौ राज्यों में बार्स्टल स्कूल पाये जाते है।[50] ये राज्य हैं आन्ध्र प्रदेश (1926), केरल, मैसूर (1943), मद्रास (1926), महाराष्ट्र (1929), बंगाल (1938), बिहार, पंजाब (1926) और मध्य प्रदेश (1928)। इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश (1938) में बरेली का बाल-जेल भी इन्ही बार्स्टल स्कूल के आधार पर कार्य कर रहा है। यद्यपि ये राज्य के जेलों के इन्सपेक्टर जनरल के स्वाधीन कार्य करते हैं पर अधिक अधिकार एक कमेटी (Visiting Committee) को सौंपे जाते हैं जिनमें सत्र न्यायालय का न्यायाधीश, जिला मजिस्ट्रेट तथा जिले के शिक्षा अधिकारियों के अतिरिक्त चार गैर-सरकारी सदस्य भी होते हैं। यही कमेटी हर नये प्रवेश करने वाले अपराधी का साक्षात्कार कर यह निर्धारित करती है कि उसे किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाए अथवा कब उसे ऊँची श्रेणी मे पदोन्नत किया जाए या उसे कब छोड़ा जाए। स्कूल में किसी निवासी को दो वर्ष से कम समय के लिए नहीं रखा जाता और न पाँच वर्ष से अधिक समय के लिए। इस कारण बार्स्टल स्कूलों में केवल उन्हीं किशोर अपराधियों को भेजा जाता है जिनको तीन वर्ष से अधिक समय के लिए दण्ड मिलता है। जिन निवासियों को सुधार के अयोग्य समझा जाता है उन्हें पुनः जेल भेज दिया जाता है।

हर स्कूल गृहों (houses) में विभाजित किया जाता है और गृह का कार्य-वाहक एक गृह-प्रधान होता है। गृह के निवासियों का सामान्य व्यवहार, उनका

[50] See *Social Defence*, April 1971, Vol. 3, No. 12, 52.

प्रशिक्षण और उनके खाने आदि की व्यवस्था का सारा कार्य इन्ही गृह-प्रधानों की देख-रेख मे रहता है। हर गृह फिर समूहों में विभाजित होता है और हर समूह का कार्यवाहक एक मानीटर (monitor) होता है। यह मानीटर गृह-प्रधान द्वारा स्कूल के निवासियों में से ही चुना जाता है। स्कूल मे श्रेणी-प्रथा भी पायी जाती है। कुल तीन श्रेणियाँ होती हैं : (1) साधारण श्रेणी (2) स्टार श्रेणी और (3) विशेष श्रेणी। स्कूल में जाने पर हर अपराधी को पहले साधारण श्रेणी में रखा जाता है जहाँ कम से कम तीन महीने तक उसके व्यवहार, स्वभाव, मानसिक लक्षण तथा कार्य करने की क्षमता आदि का अवलोकन किया जाता है। इस श्रेणी मे रहने वाले बालक से केवल बागवानी आदि जैसा छोटा मोटा कार्य लिया जाता है। उसे व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा आदि नही मिलती। अच्छे व्यवहार के उपरान्त उसकी स्टार श्रेणी मे पदोन्नति कर दी जाती है जहाँ फिर उसकी विशेष स्टार श्रेणी मे पदोन्नति होती है। इस श्रेणी वालों के कपड़े भी अलग ही होते हैं तथा उनको शहर में स्वतन्त्रतापूर्वक जाने की सुविधा दी जाती है। स्कूल से रिहाई केवल उसी बालक को मिलती है जो विशेष स्टार श्रेणी तक पहुँच चुका होता है। इन तीन श्रेणियों के अलावा एक दण्डनीय श्रेणी भी पायी जाती है जहाँ उन बच्चों को रखा जाता है जिनको स्कूल के नियमों के उल्लंघन के कारण कोई दण्ड दिया जाता है। एक स्कूल में औसतन 100 से 650 बच्चों के रहने की व्यवस्था होती है। 1971 में सबसे कम अपराधियों की संख्या केरल के बार्स्टल स्कूल मे थी जहाँ दैनिक औसत केवल 83 ही था और सबसे अधिक पंजाब के बार्स्टल में जहाँ दैनिक औसत 478 था।[51] इन स्कूलों में पाए जाने वाले अपराधियों में से अधिक 18 से 21 वर्ष आयु के मिलते है, उसके बाद 16–18 वर्ष के आयु के और सबसे कम 15–16 वर्ष आयु के। 1965 मे में विभिन्न राज्यों के नौ बार्स्टल स्कूलों मे रखे गए 492 अपराधियो मे से 60 प्रतिशत 18–21 वर्ष के आयु-समूह के थे, 30 प्रतिशत 16–18 वर्ष के आयु समूह के, और 10 प्रतिशत 15–16 वर्ष के आयु-समूह के थे।[52] एक अपराधी पर औसतन 60 रुपये प्रति माह व्यय किया जाता है जो साधारण जेल मे रहने वाले अपराधी से लगभग डेढ़ गुना है। इन स्कूलों मे दो घण्टे की शिक्षा के अतिरिक्त 5–6 घण्टे के लिए कोई व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण भी दिया जाता है। अपराधी को वर्ष में 15 दिन की घर जाने की छुट्टी भी दी जाती है। इसके अतिरिक्त रिश्तेदारों आदि से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए उसको पत्र लिखने व महीने में एक बार माता-पिता अथवा रिश्तेदारों आदि को स्कूल के अन्दर मिलने की भी सुविधा रहती है। स्कूल से छूटने से कुछ महीने पूर्व अधीक्षक को मुक्त बन्दी सहायता समिति को सूचित करना पड़ता है जिससे वह अपराधी के पुनर्वास की पूरी व्यवस्था कर सके।

रिफारमेटरी और मान्यता-प्राप्त विशेष विद्यालय—इन स्कूलों मे 7 और 16

[51] *Ibid.*, 53.
[52] *Ibid.*, 54.

वर्ष के बीच के आयु के बच्चों को रखा जाता है। इनमें भी बच्चों के अनुशासन पर बल देने के अतिरिक्त शिक्षा व उपयोगी दस्तकारी तथा औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था मिलती है। ये स्कूल कुछ सरकारी और कुछ निजी पाए जाते हैं परन्तु निजी स्कूलों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है। पहले इन स्कूलों की स्थापना भारत सरकार द्वारा *1876* में नियमित और आयु सीमा बढ़ाने हेतु *1897* में संशोधित सुधारालय स्कूल अधिनियम (reformatory school act) के अन्तर्गत की जाती थी परन्तु 1920 के बाद विभिन्न राज्यों में बाल अधिनियम पास कर अपराधी बच्चों को इन रिफारमेटरी स्कूलों मे रखने की व्यवस्था की गयी है। मद्रास ने बाल अधिनियम 1921 में पास किया था जिसके बाद बंगाल (1922), बम्बई (1924 और फिर 1948), उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों तथा दिल्ली (1941) आदि केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों ने भी ऐसे विधेयक पास किये। राजस्थान में भी *1969* मे विधान सभा में इससे सम्बन्धित बिल रखा जा चुका है, जिसके *1971–72* के पूर्व पारित होने की आशा है।

परिवीक्षा होस्टल (Probation hostels)—जिन बाल अपराधियों को न्यायालय परिवीक्षण पर रिहा करते है और जिनके माता-पिता नही होते या जिनके लिए उनके परिवार का वातावरण रहने योग्य नही समझा जाता उनको इन परिवीक्षा होस्टल में रखा जाता है। इन होस्टलों में रहने वाले निवासियों को नौकरी अथवा व्यवसाय करने की तथा घूमने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। केवल रात के समय उनके लिए होस्टल मे रहना अनिवार्य होता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही कि उन पर कोई नियन्त्रण ही नही होता। उनके व्यवहार आदि के लिए होस्टल का कार्यवाहक ही हर तरह से उत्तरदायी होता है।

इस पूरे विश्लेषण के आधार पर अन्त में यह कहा जा सकता है कि बाल-अपराध मे परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि समूहों के महत्त्व को देखते हुए इसका सम्पूर्ण निवारण असम्भव सा ही लगता है। साथ में जो बाल अपराधियो के सुधार के लिए प्रयास किये जा रहे है वे भी अपर्याप्त है। अपराध उत्पन्न करने वाले पारिवारिक पर्यावरण को नियन्त्रित करने के लिए बाल पथ-प्रदर्शन क्लिनिक व परिवार परामर्श संस्थाओं की स्थापना, तथा माता-पिता द्वारा सन्तान को यौन-शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। बाल-क्लिनिक माता-पिता को बच्चों के पालन-पोषण आदि की सही शिक्षा प्रदान करेंगे जिससे उनके सन्तान के प्रति निर्दयता, उपेक्षा व दुर्व्यवहार को रोका जा सके तथा परिवार-परामर्श संस्थाएँ पति-पत्नि के गलतफहमी आदि को दूर कर उनके सम्बन्धों को नियन्त्रित करेंगे जिससे उनके संघर्षमय सम्बन्धो का बच्चो पर खराब प्रभाव रोका जा सके। स्कूल के वातावरण को प्रगुण व सर्वसाधक अध्यापकों के नियुक्ति पर बल देकर, मनोरंजन के सही साधन उपलब्ध कर व शिक्षा प्रणाली के दोष दूर कर, नियन्त्रित किया जा सकता है। पड़ोस में बच्चों का अपराधी गिरोहों से सम्पर्क रोकने के लिए मनोरंजन के साधन उपलब्ध करना आवश्यक है। इसके लिए बम्बई, पटना, हैदराबाद तथा मद्रास जैसे पुलिस द्वारा

प्रबन्धित बाल-क्लब सभी बड़े नगरों में स्थापित किये जा सकते है। इसी प्रकार जैसे बम्बई में बाल अपराधियों के प्रबन्ध के लिए विशेष बाल-सहायक-पुलिस यूनिट स्थापित किये गये हैं वैसे ही यूनिट सभी राज्यों के लिए आवश्यक है। विद्यमान न्यायिक प्रणाली के दोषो को भी सामाजिक जाँच पर अधिक महत्त्व देने तथा थोड़े समय के लिए कारावास के बजाय परिवीक्षण पर रखने पर बल देने आदि जैसे प्रयत्नों द्वारा तथा निःशुल्क कानूनी सहायता प्रदान करने से दूर किया जा सकता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण का नियन्त्रण, भावी बाल अपराधियों को ढूंढ निकालना तथा बार-बार अपराध करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करना ही बाल-अपराधी समस्या को नियन्त्रित करने मे सहायक हो सकते है।

4 भिक्षावृत्ति (BEGGARY)

भिक्षावृत्ति विचलित व्यवहार का एक रूप है परन्तु यह अपराध से भिन्न है। अपराध हानि पहुँचने वाले व्यक्तियों की सूचना के बगैर किया जाता है और यदि उनको ज्ञान भी होता है तो भी उनकी इच्छा के विरुद्ध एवं उनके विरोध करने पर भी किया जाता है। दूसरी ओर, भिक्षावृत्ति समाज के सदस्यों की मौन सहमति से ही सम्भव है। हर समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते जिसके कारण वे अन्य लोगों पर आश्रित रहते हैं। ऐसे कुछ बच्चे, बूढ़े, बीमार आदि पराधीन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ परिवार आदि जैसे संस्थात्मक ढाँचे द्वारा पूरी की जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी अधीन व निर्भर व्यक्ति हैं जिनके लिए समाज ने किसी संस्थात्मक व्यवस्था का प्रावधान नहीं किया है। इनमे से कुछ 'माँग' कर अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। इस 'माँगने' का एक रूप 'भिक्षा' है।

भिक्षावृत्ति मे तीन कार्य पाये जाते हैं—

(1) माँगने का कार्य—सहायता धन अथवा वस्तुओं के रूप में व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन व्यक्तियों से माँगी जाती है जिनको विधिवत् कानून अथवा व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

(2) देने का कार्य—सहायता धन अथवा वस्तुओं के रूप में बिना किसी तात्कालिक मौलिक लाभ की आशा के उन व्यक्तियों को दी जाती है, जो उसको पाने के लिए कानून अथवा व्यक्तिगत सम्बन्धों के कारण विवश नहीं कर सकते।

(3) लेने का कार्य—सहायता धन अथवा वस्तुओं के रूप में बिना वापस करने के विचार से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन व्यक्तियों से ली जाती है जिससे कानून व व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर विधिवत् बलपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते।

भिक्षावृत्ति मे इन माँगने, देने और लेने के तीनों कार्यों मे पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है।[1] परन्तु गोरे द्वारा किये गये अध्ययन के अतिरिक्त अन्य जितने भी भिक्षावृत्ति पर अध्ययन हुए हैं उनमें केवल 'माँगने के कार्य' पर ही बल दिया गया

[1] Gore, M. S., *The Beggar Problem in Metropolitan Delhi*, Delhi School of Social Work, University of Delhi, 1959, 74-75.

है, 'देने के कार्य' पर नहीं, जिस कारण विभिन्न विचारक भिक्षावृत्ति की समस्या को वैज्ञानिक दृष्टि से समझ नहीं पाये हैं। यहाँ हम माँगने और लेने के कार्यों के अलावा 'देने का कार्य' भी अध्ययन करेंगे।

देने वाले का कार्य

भिक्षावृत्ति की समस्या को व्यवहार की एक प्रक्रिया के रूप में भीख माँगने और देने वाले व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों व अन्तःक्रिया के आधार पर ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। भिक्षावृत्ति में 'देने का कार्य' एक संस्थागत व्यावहारिक प्रतिमान के रूप में एक मुख्य उद्देश्य की पूर्ति करता है। यह उद्देश्य है उन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी करना जो स्वयं उनको पूरा नहीं कर सकते। गोरे ने भी दान देने को एक सामाजिक कार्य बताया है।[2] इस दान देने की क्रिया को न केवल प्रथाओं और रूढ़ियों ने प्रोत्साहन दिया है, परन्तु धर्म ने भी इसे एक नैतिक कार्य माना है, तथा अपने पापों के प्रायश्चित का एक साधन बताया है।

भारत में दान देने का एक अतिरिक्त धार्मिक महत्त्व भी है। सहायता देना जाति-प्रथा की अर्थव्यवस्था का एक मुख्य अंग माना गया है। वर्ण-व्यवस्था द्वारा भी भिक्षा देने को एक प्रेरणा प्रदान की गयी है। प्राचीन काल में ब्राह्मण, धार्मिक भिक्षुक, अपने भ्राताओं के दिये हुए दान से अपना पोषण करते थे। यहाँ 'देने के कार्य' से अभिप्राय 'दक्षिणा' से नहीं है पर 'भिक्षा' से है। दक्षिणा ब्राह्मण को एक विशेष कार्य करने के लिए फीस अथवा शुल्क के रूप में दी जाती हैं, जबकि भिक्षा दान के रूप मे एक उपहार है। शास्त्रों में ब्राह्मण को भिक्षा द्वारा अपने पोषण की व्यवस्था करने की अनुमति इस कारण से दी गयी है जिससे वह आजीविका कमाने के सांसारिक कार्य से मुक्त होकर अपना पूरा समय धार्मिक व आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति में व्यतीत कर सकें। मनुस्मृति मे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य 'द्विजा' के लिए भी 'भिक्षाम' को अपने व गुरू के लिए आजीविका के साधन जुटाने के लिए दस मान्यता प्राप्त विधियों मे से एक बताया गया है। इस प्रकार हिन्दू समाज में दान देने को न केवल प्रोत्साहित किया गया है परन्तु उसको जीवन का एक आवश्यक अंग व लक्ष्य भी माना गया है।

यद्यपि दान देना एक गुण व नैतिक कार्य है परन्तु अविवेकी (indiscriminate) दान देना खराब व हानिकारक है। गीता में तीन प्रकार के दान बताये गये है[3]—(क) वह दान जो कर्तव्य की भावना पर आधारित है तथा जो किसी प्रतिफल की प्रत्याशा के बिना दिया जाता है। (ख) वह दान जो किसी लाभ की आशा पर आधारित है। (ग) वह दान जो लेने वालों को क्षति पहुँचाने के उद्देश्य से दिया जाता है। इनमें से पहले दान को 'सात्विक' बताया गया है। दान देने का यह सात्विक

[2] *Ibid*, 72.
[3] *Ibid*, 78.

लक्षण न केवल देने वाले के संकल्प व लक्ष्य पर निर्धारित है परन्तु लेने वाले व्यक्ति के आशय पर तथा देने के स्थान व समय पर भी। प्रश्न यह है कि व्यक्ति, स्थान और समय का उचित होना किस प्रकार मालूम किया जाये। शास्त्रों के अनुसार सबसे योग्य व्यक्ति जिसको दान दिया जाय वह ब्राह्मण है जो वेद और शास्त्रों का पण्डित हो; देने का सर्वोचित स्थान तीर्थ-स्थान है; और देने का उचित समय सूर्य-ग्रहण है।

यदि क्लिफोर्ड मैनशार्ड द्वारा भीख देने के छः कारणों के आधार पर दान देने की स्वीकृति तथा अनुमोदनीय कार्य को देखें तब ही वह दान सात्विक होगा जो धार्मिक उद्देश्य से दिया जाता है। मैनशार्ड ने भीख देने के छः कारण इस प्रकार बताये है[1]—

(1) **धार्मिक कारण**—धर्म द्वारा भिक्षा देने को एक पुण्य का कार्य बताया गया है। इस कारण कुछ लोग मोक्ष की प्राप्ति के लिए भीख देते है।

(2) **प्रथा की अभिमति व निर्देश के कारण**—कुछ स्थितियों मे भीख इस कारण दी जाती है क्योंकि उन अवसरों पर भीख देना एक प्रथा मानी गयी है।

(3) **व्यक्तिगत कारण**—कुछ लोग मानसिक प्रसन्नता पाने, व्यक्तिगत लाभ उठाने व भिखारी की दुआ पाकर अपनी इच्छा को पूरा करने जैसे व्यक्तिगत कारणों के कारण भिक्षा-दान करते है।

(4) **भय के कारण**—भिखारी के कोसने से क्षति पहुँचने का भय भी कुछ लोगों को भीख देने के लिए बाध्य करता है।

(5) **तात्क्षणिक करुणा व सहानुभूति के कारण**—किसी अन्धे, अंगहीन, कोढ़ी व विकृत व्यक्ति को देखकर एकदम दया आने के कारण उसको भीख दी जाती है।

(6) **अपनी अमीरी दिखाने के कारण**—कुछ धनी लोग केवल अपनी अमीरी दिखाने के कारण ही भीख देते हैं।

परन्तु दान देने के कार्य के उचित व सात्विक होने का यह अर्थनिर्णय वर्तमान समय के सामाजिक सन्दर्भ मे अनुरूप नही है। अब केवल 'दान देने का कार्य' नहीं परन्तु वह 'अविवेकी दान देने का कार्य' जो आलस्य को प्रोत्साहित करता है, व्याख्या के लिए अधिक अनुरूप माना जाता है। इस कारण भिक्षावृत्ति की समस्या का विश्लेषण दान देने के कार्य के अध्ययन बिना आजकल व्यर्थ व अनुपयोगी होगा।

यद्यपि दान देना हम-भावना व भ्रातृभाव को बढाता है परन्तु भिक्षावृत्ति सामाजिक अस्तित्व के आर्थिक आधार के लिए हानिकारक है। भिखारी देने वाले की सहानुभूति व संवेदना प्राप्त करता है पर आदर व मान नहीं। इस प्रकार यद्यपि देने का कार्य अथवा दान अब भी सदाचार व नैतिक कार्य है परन्तु अविवेकी दान को नियन्त्रित करके उसका संस्थात्मक निर्माण करना होगा।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार हम भिक्षावृत्ति में निम्न बातों का

---

[1] Clifford Manshardt, 'Psychology of alms-giving', quoted by John Barnabas in his article 'Legislation relating to beggary' in *Our Beggar Problem*, ed. Kumarappa, J. M., Padma Publication Ltd., Bombay, 1945, 163.

अध्ययन करते हैं—(1) दान माँगने, देने और लेने के कार्यों के आधार का अध्ययन। (2) समाज के उस परित्यक्त व निराश्रय समूह का अध्ययन जो मलिनता व नैराश्य का जीवन व्यतीत कर रहा है। (3) भिखारियो की सन्तान के व्यक्तित्व के विकास की समस्या का अध्ययन। (4) भिक्षावृत्ति के कारण समाज के लिए मानवीय साधन (human resources) की अनुपयोगिता की समस्या तथा समाज में विद्यमान साधन पर भार की समस्या का अध्ययन। (5) भिक्षावृत्ति के कारण अपराध आदि जैसी सामाजिक समस्याओ के उत्पन्न होने की समस्या का अध्ययन।

इन्हीं समस्याओं के अध्ययन हेतु *हम दान लेने और देने वाले व्यक्तियो* के पारस्परिक सम्बन्ध तथा इन व्यक्तियों और समाज के आपसी सम्बन्धो के अध्ययन की पृष्ठभूमि मे भिक्षावृत्ति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते है।

भिक्षावृत्ति की धारणा

कानूनी दृष्टि से भिक्षावृत्ति को किसी व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक तथा निर्जन स्थान में भीख माँगना बताया गया है। 1960 के केन्द्रीय बाल-अधिनियम मे भी इसी लक्षण पर बल दिया गया है।[5] कानून उस व्यक्ति को भिखारी मानता है—(क) जिसकी आजीविका का साधन भीख माँगना हो। (ख) जिसके निर्वाह के साधन का पता स्वच्छन्द रूप से न लगता हो। (ग) जो भीख माँगने के लिए घर-घर अथवा सार्वजनिक स्थानो पर घूमता-फिरता हो।

इस परिभाषा के आधार पर 1931 की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार भारत में लगभग 14 लाख भिखारी थे जबकि 1951 के आँकडो के अनुसार इनकी संख्या केवल 5 लाख थी। 1961 मे यह 861793 थी और 1971 मे यह घटकर 747397 हो गयी।[6] कुछ विद्वानो की यह मान्यता है कि पूरे भारत में इनकी संख्या 15 और 20 लाख के मध्य में है। कुछ क्षेत्रों और शहरों मे सर्वेक्षण करके वहाँ पाये जाने वाले भिखारियो की सही सख्या मालूम करने के भी प्रयत्न किये गये हैं। यह सर्वेक्षण न केवल उनकी संख्या परन्तु उनके सामाजिक लक्षण, भीख माँगने के कारण, तथा व्यावसायिक सस्थाओं आदि का भी वर्णन करते है। मुख्य सर्वेक्षण उत्तर प्रदेश, बम्बई, दिल्ली और हैदराबाद में हुए हैं। उत्तर प्रदेश मे *1960 में समाज-कल्याण विभाग ने KAVAL नगरो मे एक सर्वेक्षण करवाया था*

---

[5] 'Soliciting or receiving alms in a public place or entering on any private premises for purposes of soliciting or receiving alms, whether under the pretence of singing, dancing, fortune-telling, performing tricks or selling articles or otherwise exposing or exhibiting, with the object of obtaining or extorting alms, any sore, wound, injury, deformity or disease, whether of himself or of any other person or of an animal; allowing oneself to be used as an exhibit for the purpose of soliciting or receiving alms.'

[6] See *Social Defence*, Central Bureau of Correctional Services, New Delhi, Oct. 1965, Vol. 1, No. 2, 18 and *Hindustan Times*, 5 April, 1973.

जिससे ज्ञात हुआ कि इन पाँच शहरों में कुल 12272 भिखारी हैं जो इन शहरों की कुल जनसंख्या का केवल 0·4 प्रतिशत है।[7] दिल्ली में एम० एस० गोरे ने 1959 में भिखारियों का अध्ययन किया और यह पाया कि वहाँ कुल लगभग 2454 भिखारी हैं।[8] बम्बई में ऐसा सर्वेक्षण मूर्थी[9] द्वारा 1959 मे और हैदराबाद में आयंगर[10] द्वारा 1959 में किया गया था। इन्ही दिल्ली, बम्बई और लखनऊ के सर्वेक्षणों के आधार पर हम अब भिखारियों के कुछ मुख्य सामाजिक लक्षणों का विश्लेषण करेंगे।

सामाजिक लक्षण

(1) पूरे देश में महिला भिखारियों की अपेक्षा पुरुष भिखारियों की संख्या बहुत अधिक है। भारत में जब पुरुष और महिला भिखारियों का अनुपात 7·1 से 2·9 है,[11] गोरे द्वारा किये गये दिल्ली के अध्ययन में 600 में से 74 प्रतिशत पुरुष और 26 प्रतिशत महिला भिखारी पाये गये।[12] बम्बई में मूर्थी द्वारा किये गये सर्वेक्षण मे 80 प्रतिशत पुरुष और 20 प्रतिशत महिलाएँ पायी गयी।[13] लखनऊ में सुशील चन्द्रा के 400 भिखारियो के अध्ययन में 79·5 प्रतिशत पुरुष और 20·5 प्रतिशत महिलाएँ पायी गयीं।[14] पुरुष और महिला भिखारियों के इस अनुपात से न केवल भिखारियों की लिंगीय कार्य-सम्बन्धी संरचना ज्ञात होती है पर यह भी मालूम होता है कि औरतो की आर्थिक भूमिका (role) पुरुषों की अपेक्षा निष्क्रिय (passive) रहती है। इसके अतिरिक्त इस अनुपात के आधार पर हम तीन अन्य व्याख्याएँ (interpretations) भी दे सकते हैं—(क) भिखारियों मे भी अन्य व्यावसायिक समूहों की तरह पुरुष की व्यावसायिक स्थिति ही परिवार की आय का प्रमुख साधन है। (ख) परित्यक्त व निराश्रय महिलाओ को पुरुषों की तुलना मे उनके सम्बन्धियों और परिचितों द्वारा अथवा किसी सामाजिक संस्था से अधिक सहारा व संरक्षण मिल जाता है। (ग) सम्भवत: अधिकांश परित्यक्त स्त्रियाँ आजीविका कमाने के लिए वेश्यावृत्ति आदि जैसे धन्धे अपनाती हैं।

---

[7] *Report* of the Evaluation Committee on Social Welfare, Govt. of U. P., 1960.

[8] *Gore, M. S., op. cit.*

[9] Moorthy, M. V., *Beggar Problem in Greater Bombay*, Indian Conference of Social Work, 1959.

[10] Iyenger, S. Kesava, *Report on a Socio-economic and Health Survey of Street Beggars in Hyderabad Secunderabad City Area*, Indian Institute of Economics, Hyderabad, 1959.

[11] See Gore, M. S., *op. cit.*, 19.

[12] *Ibid.*

[13] Moorthy, M. V., *op. cit*, 15.

[14] Sushil Chandra, *Sociology of Deviation in India*, Allied Publishers, Bombay, 1967, 140.

(2) अधिकांश भिखारी जवान और अधेड़ अवस्था के होते हैं। कुल भिखारियों में से लगभग आधे 20 और 40 वर्ष के बीच की आयु के और लगभग तीन-चौथाई 15 और 55 वर्ष के बीच की आयु के पाये गये हैं। लखनऊ के सर्वेक्षण में भिखारियों की औसत आयु 36–37 वर्ष पायी गयी,[15] तथा यह दिल्ली और बम्बई सर्वेक्षणों में भी लगभग इतनी ही थी।[16] इसी प्रकार लिंग के आधार पर पुरुष और महिला भिखारियों की औसत आयु मे भी अधिक अन्तर नही मिलता। तीनों सर्वेक्षणों में पुरुष भिखारियों के 36–37 औसत आयु की तुलना में महिला भिखारियो की 35–44 औसत आयु पायी गयी। भिखारियों का आयु सम्बन्धी यह लक्षण एक मुख्य समाजशास्त्रीय आलेख्य प्रस्तुत करता है। 20–40 आयु-समूह में व्यक्ति मे न केवल काम करने की अधिक शक्ति व योग्यता होती है परन्तु इस आयु में युवा होने के कारण भिखारी एक अभिनेता का कार्य भी अच्छा कर सकता है, जो जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है, भिक्षा-प्रार्थना अथवा भीख माँगने की अपील मे महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त भिक्षावृत्ति विधिवत् उस शैशव काल अथवा बुढापे में अधिक मिलनी चाहिए जब व्यक्ति दूसरों पर अधिक आश्रित होता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में भिक्षावृत्ति जैसे साधन अपनाता है। परन्तु यौवन और अधेड़ अवस्था मे भिक्षावृत्ति का अधिक मिलना यह सिद्ध करता है कि पराधीनता अथवा शक्तिहीनता भीख माँगने के कारण नही हो सकते।

(प्रतिशत मे)

समूह	लखनऊ सर्वेक्षण		दिल्ली सर्वेक्षण		बम्बई सर्वेक्षण	
	कुल जनसख्या का समूह-संख्या प्रतिशत	भिखारी जनसख्या	कुल जनसख्या का समूह-संख्या प्रतिशत	भिखारी जनसख्या	कुल जनसख्या का समूह-संख्या प्रतिशत	भिखारी जनसंख्या
1. हिन्दू	58 66	70 7	73·3	84·5	76 04	83·68
2. मुसलमान	34 03	29 0	11 3	10 5	14 61	14·21
3. ईसाई	1 31	0 3	5 5	5 0	2 35	2·11

(3) यद्यपि अधिकांश भिखारी निम्न जातियों के हिन्दू मिलते हैं परन्तु मुसलमान, ईसाई आदि भिखारियों की संख्या भी उनकी अपनी कुल जनसंख्या की तुलना में कम नही है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह धारणा कि मुसलमानो और और ईसाई आदि में भिक्षावृत्ति इसलिए कम मिलती है क्योंकि उन धर्मों में इसकी मान्यता नही है गलत है। लखनऊ, दिल्ली और बम्बई के सर्वेक्षण भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं[17] जैसा कि उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है।

---

[15] *Ibid.*, 142.

[16] Gore, M. S., *op. cit.*, 27.

[17] Sushil Chandra, *op. cit.*, 144–45; Gore, M. S., *op. cit.*, 26, Moorthy, M. V., *op. cit.*, 18.

(4) अधिकांश भिखारी न केवल विवाहित हैं परन्तु उनके परिवार का आकार भी बड़ा है। हर दस भिखारियों में से पाँच विवाहित, तीन विधवा, विधुर, अथवा परित्यक्त और दो अविवाहित पाये गये। परिवार में औसतन 5–6 सदस्य मिलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भिखारियों का स्वयं का व्यक्तित्व तो विघटित होता ही है परन्तु विवाह और सन्तान द्वारा समाज के लिए और अधिक समस्याएँ व विघटित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति पैदा करते हैं। इस सन्दर्भ में क्या भिखारियों के लिए समाज मे सन्तानोत्पत्ति सम्बन्ध यूजिनेक (eugenic) प्रोग्राम सहायक हो सकता है अथवा नही यह एक मुख्य समाजशास्त्रीय प्रश्न है। इसके अतिरिक्त परित्यागित भिखारियों की संख्या भी यह बताती है कि बहुत भिखारी जीवन के विघटित वातावरण में रह रहे हैं।

(5) एक राज्य मे एक स्थान पर पाये जाने वाले भिखारी उसी क्षेत्र के निवासी कम और बाहर से आने वाले प्रवासी अधिक होते हैं। उदाहरणतया दिल्ली में गोरे द्वारा अध्ययन किये गये भिखारियों में से 41 प्रतिशत तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश के रहने वाले थे, 15 प्रतिशत दिल्ली के, 12 प्रतिशत पंजाब के, 8 प्रतिशत मध्य प्रदेश और विहार के, तथा शेष 24 प्रतिशत राजस्थान, बंगाल, गुजरात व अन्य राज्यो के थे।[18] भिखारियों की इस रचना का उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत प्रभाव पड़ता है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(6) सभी भिखारी पूरे समय के लिए भीख नही माँगते अपितु कुछ कभी-कभी भीख माँगने का कार्य करते है। जैसे कुछ भिखारी केवल मंगलवार अथवा शनिवार को ही भीख माँगते हैं और कुछ फिर केवल सूर्य-ग्रहण आदि जैसे अवसरों पर। इसी प्रकार सभी भिखारी अकेले ही भीख नही माँगते। कुछ आपस मे मिलकर व समूह बनाकर भीख माँगते हैं। परन्तु कभी-कभी भीख माँगने वाले और समूह बनाकर माँगने वाले भिखारियो की संख्या अधिक नही है। दिल्ली के सर्वेक्षण मे कुल अध्ययन किये गये भिखारियो मे से केवल 10 प्रतिशत कभी-कभी माँगने वाले भिखारी पाये गये 12 प्रतिशत वे भिखारी थे जो समूहो मे भीख माँगते थे।[19]

भिक्षा-अपील

भिखारियों के व्यक्तित्व के अध्ययन का एक मुख्य आधार उनके भीख माँगने के तरीके हैं। भीख माँगने मे भिखारी मानव-स्वभाव मे पायी जाने वाली भावनाओं तथा देने वाले के व्यक्तित्व के शीघ्रतः प्रभावित होने वाले लक्षणों की अपील करता है। कभी वह सीधे रूप मे व्यक्ति के दया, भाव और सहानुभूति की भावनाओ को अपील करता है, कभी धार्मिक चेतना को, कभी संरक्षण की इच्छा को, कभी अविलोम की प्रबल आकाक्षाओं को, तो कभी पैतृक स्नेह की प्रवृत्ति को। इसी तरह कभी वह

---

[18] Gore, M. S., *op. cit.*, 21–22.
[19] *Ibid.*, 30–31.

अपने लिए अथवा अपने क्षुधा-पीडित परिवार के सदस्यों के लिए रक्षा-प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है, तो कभी अपनी बीमारी, भाग्यहीनता, सम्बन्धी की मृत्यु अथवा निर्धनता व निराश्रयता के आधार पर दया चाहता है। दूसरे शब्दों में, भीख माँगने की प्रार्थना के तरीके, आध्यात्मिक विचारों, श्रेष्ठ व्यक्ति की हीन व्यक्ति के प्रति तिरस्कार-पूर्ण करुणा, पारलौकिक व भौतिक सुख की इच्छा तथा सन्तान के लिए स्नेह आदि जैसी विभिन्न मानवीय भावनाओं की अपील करते हैं। इस आधार पर हम कह सकते है कि भिखारियों की अपील में तीन मुख्य लक्षण मिलते है—(क) अपील ध्यान आकर्षित करती है। (ख) अपील आन्तरिक भावनाओं को जगाती है। (ग) अपील देने वाले के हृदय में भिखारी की आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करती है।

सुशील चन्द्रा ने भी अपने 400 भिखारियों के अध्ययन में भीख माँगने की अपील में निम्न तरीके पाये :[20] (अ) भिक्षादान से सम्बन्धी भावनाओं की अपील—14%; (आ) धर्म और ईश्वर के नाम पर अपील—24%; (इ) विरूपता, घाव व शारीरिक बाधा का प्रदर्शन—26%; (ई) असहायता व नैराश्य आदि जताकर दया प्राप्त करना—18%; और (उ) किसी अपील बिना भीख माँगना—18%।

सेन गुप्ता का भी कहना है कि भिखारी के भीख माँगने की अपील मे एक मनोवैज्ञानिक तरीका मिलता है। उसने भीख माँगने की प्रार्थना के दो मुख्य तरीके बताये है[21]—

(क) परिवर्तनशील विधि—भिखारी अपनी वाणी, भाषा, बोलने के ढग, गायन में सुर लगाने की क्रिया और मुँह बनाने के तरीके आदि को बदलता रहता है जिससे वह जो अपील द्वारा अर्थ प्रकट करना चाहता है वह कर सके। एक सफल भिखारी एक अच्छा अभिनेता होता है। जिस प्रकार एक अच्छा अभिनेता श्रोतागण के हर सदस्य को एक व्यक्तिगत सन्देश पहुँचाता दिखाई देता है, इसी तरह एक सफल भिखारी हर समीप से जाने वाले व्यक्ति को लक्ष्य करके व्यक्तिगत अपील करता मिलता है। अपनी भाग्यहीनता की कहानी को सिसक-सिसक कर, रोकर अधिक प्रभावशाली बनाता है। कण्ठ की ध्वनि के उतार-चढ़ाव से, बैठने के तरीके बदलने से तथा आँखें नचाने आदि से वह अलग-अलग प्रभाव उत्पन्न करता है।

(ख) परिस्थिति—भीख माँगने की अपील परिस्थिति के आधार पर भी बदलती रहती है। शिव के मन्दिर के बाहर शिव की आराधना करता है तो विष्णु के देवालय के बाहर वैष्णव बन जाता है। होटल के आगे अपने को अकाल से पीड़ित बताता है तो घर के आगे बीमारी से पीड़ित। धार्मिक अवसर पर धर्म और ईश्वर के नाम अपील करता है तो अन्य अवसरों पर मनोवैज्ञानिक और अन्य भावनाओं की अपील करता है।

[20] Sushil Chandra, *op. cit.*, 162.

[21] Gupta, N. N., 'Mental Traits of Beggars', *Our Beggar* .. ''
Kumarappa, J. M., *op cit.*, 29.

भिखारी व्यक्तित्व

उपर्युक्त विश्लेषण से हमे न केवल भिखारी के व्यक्तित्व (beggar personality) का आभास होता है परन्तु इस विवरण के आधार पर हम पांच प्रकार के भिखारी-व्यक्तित्व भी देख सकते हैं—

(1) **नैष्ठिक व धार्मिक टाइप**—इस प्रकार के भिखारी भिक्षा देने के धार्मिक कर्तव्य पर बल देते है। ये भिखारी यह प्रदर्शित करते है कि वे हमें कर्तव्य-पालन का अवसर देकर हमारे ऊपर उपकार करते हैं तथा हम उन्हें धन देकर कोई अहसान नहीं करते। उनके व्यक्तित्व मे एक अधीनता का लक्षण मिलता है जो सम्भवतः बचपन के दोषपूर्ण पालन-पोषण के कारण पैदा होता है। ऐसे व्यक्तित्व वाले भिखारी यदि भीख माँगना छोड़ देंगे तो सही देख-रेख के अभाव में शाश्वत (perpetual) निर्भरता के लक्षण के कारण चोरी जैसे अपराध करेंगे।

(2) **चतुर टाइप**—ये भिखारी दान देने के बदले में सासारिक लाभ व सुख देने का विश्वास दिलाते है। इन भिखारियों के व्यक्तित्व में चतुराई, बुद्धि, समझदारी निपुणता आदि जैसे लक्षण अधिक मिलते हैं।

(3) **करुणामय टाइप**—ये दया और करुणा जैसी आन्तरिक प्रेरणा को जगाकर हमारी सहानुभूति और रक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। ये विभिन्न प्रकार की भावनाओं व प्रवृत्तियो को उत्पन्न कर व्यक्तियों से दान लेते हैं।

(4) **क्रूर टाइप**—ये अपने को असहाय, भाग्यहीन व दयनीय प्रदर्शित कर भीख माँगते है। इस प्रकार के भिखारियो के व्यक्तित्व मे क्रूर व्यवहार द्वारा प्रसन्नता पैदा करने का लक्षण (masochism) मिलता है। यह वह लक्षण है जो व्यक्ति को शारीरिक पीड़ा व यातना सहन करने को आनन्ददायक बनाता है।

(5) **बाधित टाइप**—ये भिखारी वास्तव में अन्धापन, कोढ़ आदि बाधाओं के कारण कमाने के अयोग्य होने की वजह से भीख माँगते हैं। ऐसे लोगो की अपील मे कभी-कभी केवल भुनभुनाहट मिलती हे। इनके व्यक्तित्व का एक लक्षण यह भी होता है कि इनका मस्तिष्क हमेशा शैशव स्तर पर कार्य करता मिलता है जिस कारण उनकी अपील में बच्चो जैसी भाषा व तोतलापन (lisping) मिलता है।

डा० सुशील चन्द्रा ने भी भिखारियों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी लक्षणों का अध्ययन किया था। उसने पाया कि 69 प्रतिशत भिखारी यूथवासी (gregarious), 52·2 प्रतिशत फुर्तीले और 54·8 प्रतिशत साहसी है। इसके विपरीत उसने 61·8 प्रतिशत गम्भीर, 60·8 प्रतिशत विनम्र, 51·8 प्रतिशत अन्तर्मुखी (introvert), 67·8 प्रतिशत दयालु और 60 प्रतिशत स्वार्थी पाये।[22]

रहने के स्थान के आस-पास का स्वाध्याय

अधिकांश भिखारी गन्दी बस्तियों अथवा मन्दिर, मस्जिद, नदी-घाट आदि

[22] Sushil Chandra, *op. cit.*, 158.

जैसे सार्वजनिक स्थानों में रहते हैं। शहर की परिधि या खुली जगहों में रहने वाले भिखारियों की संख्या बहुत कम होती है। व्यक्ति के आस-पास के पर्यावरण उसके व्यक्तित्व और जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। जिन स्थानों में भिखारी रहते हैं वे उनके सामाजिक सम्बन्धों, मूल्यों और जीवन के लक्ष्यों को निर्धारित करते है। हर स्थान की अपनी ही उप-संस्कृति होती है। यही कारण है कि विघटित उप-संस्कृति वाले स्थान पर रहने वाला व्यक्ति जब एक बार भिक्षावृत्ति को अपनाता है तो उसका धीरे-धीरे विघटन होता जाता है। गन्दी बस्तियों में रहने वाले भिखारियों की संख्या लखनऊ और दिल्ली के सर्वेक्षणों मे क्रमशः 33 8 प्रतिशत और 43·1 प्रतिशत पायी गयी, जबकि सार्वजनिक स्थानों में रहने वालों की संख्या क्रमशः 40 प्रतिशत और 24·5 प्रतिशत थी। खुले स्थानो में रहने वालो की संख्या 6·2 प्रतिशत और 42·2 प्रतिशत थी, तथा शहर की परिधि मे रहने वालों की संख्या 20·0 प्रतिशत और 8·2 प्रतिशत थी।[23] भिखारियो की गन्दी झोपड़ियों व टीन के छायादार स्थानो को देखते हुए हम कह सकते है कि वे अवमानस (sub-human) परिस्थितियों में रहते हैं। सार्वजनिक स्थानों और खुली जगहों में रहने के कारण भिखारियो के उपयोग की वस्तुएँ अधम और तुच्छ ही होती हैं। ऐसे अवमानस जीवन का उनके व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ना निश्चित ही है।

आर्थिक स्थिति

भिखारियो के अवमानस स्तर से उनकी आय का भी आभास होता है। अधिकाश भिखारी एक रुपया प्रतिदिन से कम ही पाते हैं, यद्यपि ऐसे भी भिखारी मिले हैं जो मरने के उपरान्त हजारो और लाखों की सम्पत्ति अपने पीछे छोड़ गये है। भिखारी की आय वास्तव मे उसके व्यक्तित्व और मांगने के तरीके पर निर्भर करती है। शारीरिक रूप से बाधित भिखारी स्वस्थ (able-bodied) भिखारियो की तुलना में अधिक ही कमाते हैं। दिल्ली और लखनऊ के अध्ययन भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। एक स्वस्थ भिखारी की प्रतिदिन की आय लखनऊ में 0·61 रुपए तथा दिल्ली में 0·75 रुपए पायी गयी जबकि एक शारीरिक रूप से बाधित भिखारी की आय 1·14 तथा 0·85 रुपए पायी गयी।[24]

औसतन एक भिखारी की प्रतिदिन की आय एक रुपए से कुछ कम पायी गयी। इन सर्वेक्षणों से यह भी ज्ञात होता है कि एक औसत भिखारी, एक औसत कृषक श्रमिक की अपेक्षा अधिक ही कमाता है (1954 मे एक किसान की औसत दैनिक आय 1·09 रुपए थी)।[25]

नकदी के अतिरिक्त भिखारियों को अपक्व (raw) खाना, पका हुआ भोजन,

[23] *Ibid.*, 150; Gore, M. S., *op. cit.*, 109.
[24] Sushil Chandra, *op. cit.*, 157; Gore, M. S., *op. cit.*, 57.
[25] All India Agricultural Labour Enquiry Committee, 1954.

तथा कपड़े आदि भी भिक्षा में मिलते हैं परन्तु यह चीजें घरों में माँगने वालों को अधिक मिलती है और ऐसे भिखारियों की संख्या कम ही होती है। अधिकांश भिखारी सार्वजनिक स्थानों और बाजारों में ही माँगते फिरते हैं। गोरे के दिल्ली के सर्वेक्षण में पाया गया कि 56 प्रतिशत भिखारी बाजारों मे भीख माँगते है, 15·5 प्रतिशत मन्दिरों, रेलवे स्टेशनों और बस स्टापों आदि जैसे सार्वजनिक स्थानों में, तथा केवल 13 प्रतिशत घरों में।[26] फिर भी गोरे का विचार है कि लगभग आधे भिखारियों की खाने-सम्बन्धी आवश्यकताएँ लोगों द्वारा ही पूरी होती हैं।

फिर ऐसे भी भिखारी है जो समूह बनाकर भीख माँगते हैं यद्यपि अकेले भीख माँगने वालों की संख्या अधिक है। दिल्ली के सर्वेक्षण के अनुसार 77·6 प्रतिशत भिखारी व्यक्तिगत रूप से भीख माँग रहे थे और 12·2 प्रतिशत समूहों में।[27] समूहों मे माँगने वालों की आय व्यक्तिगत रूप से माँगने वालों की तुलना में अधिक ही होती है।

यहाँ मुख्य बात यह है कि यदि हम यह मानें कि भिखारी की औसत आय 75 पैसे और 1 रुपए के बीच है तब प्रतिदिन लाखों रुपए हमारे देश में दान के रूप में दिया जाता है। इस धन को अगर हम देश की अर्थव्यवस्था (resources) के सन्दर्भ मे देखें तो ज्ञात होगा कि किस प्रकार हमारी राष्ट्रीय आय का काफी अंश व्यर्थ हो रहा है। यदि इसी को एक संगठित रूप में व्यय किया जाये तो उससे न केवल भिक्षावृत्ति जैसी सामाजिक समस्याएँ ही हल होंगी परन्तु देश भी उन्नति करेगा। गोरे का भी कहना है कि इस धन को सही विनियोग नही माना जा सकता क्योंकि इसका समुदाय के उत्पादन-सम्बन्धी प्रयत्नों में कुछ भी अंशदान नही है।[28]

भिक्षावृत्ति के कारण

भिक्षावृत्ति को वैयक्तिक विघटन का एक रूप बताया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति अपने को सामाजिक पर्यावरण के समायोजन में असफल पाता है। परन्तु यदि हम समाज को सम्पूर्णता के दृष्टिकोण से देख तो भिक्षावृत्ति की समस्या की दो ओर की प्रकृति (bilateral nature) मिलेगी। एक ओर व्यक्ति का व्यक्तित्व है तो दूसरी ओर समाज की संरचना। दोनों की जटिल अन्त:क्रिया (intricate interaction) के कारण ही समाज में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जो शक्तियाँ सामाजिक विघटन उत्पन्न करती हैं वे ही वैयक्तिक विघटन के भी कारण होती हैं। इस कारण वैयक्तिक विघटन के विश्लेषण मे समाजशास्त्री व्यक्ति को कम महत्त्व देकर समाज व समूहों

---

[26] Gore, M. S., *op cit.*, 59.

[27] *Ibid.*

[28] 'This expenditure must be looked upon as a complete waste of national resources, because it does not add anything to the results of the productive efforts of the community. It cannot be regarded as an investment either.... Therefore there could not be a stronger case for organised charity.'

को अधिक महत्त्व देते हैं। वे वैयक्तिक विघटन के विभिन्न रूपों को सामूहिक प्रघटना (group phenomenon) के सन्दर्भ में ही देखते है और इसी सन्दर्भ मे वे सामाजिक पर्यावरण का भी अध्ययन करते है जिससे उनमे पायी जाने वाली उन सामाजिक शक्तियों को बता सकें जो सामाजिक और वैयक्तिक विघटन पैदा करती हैं। भिक्षावृत्ति को भी एक सामाजिक प्रघटना के रूप-मे अध्ययन करने में हमें सम्पूर्ण सांस्कृतिक रूपरेखाओं (cultural configuration) का अन्वेषण करना होगा अथवा विभिन्न सामाजिक समस्याओं की तरह भिक्षावृत्ति के कारणो के अध्ययन में भी हमें बहु-कारक सिद्धान्त (multiple-factor approach) अपनाना होगा। भिक्षावृत्ति के कारण अशतः सामाजिक तथा अंशतः आर्थिक, शारीरिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक व प्राकृतिक बताये जाते हैं। अधिकांशतः भीख के कारणों के विश्लेषण में यह कहा जाता है कि व्यक्ति गरीबी, विच्छिन्न परिवार, निराश्रयता, शारीरिक व मानसिक बाधा, बचपन मे समुचित मार्ग-दर्शन के अभाव, रोग आदि के कारण भीख माँगते हैं। परन्तु इस प्रकार का विश्लेषण सही नहीं है। दिये गये विभिन्न कारण आपस में अलग-अलग नही होते अथवा उनका पारस्परिक सम्बन्ध होता है। जो भिखारी नेत्रहीन है वह निराश्रय भी हो सकता है तथा जो निराश्रय है वह शारीरिक बाधा से भी पीड़ित हो सकता है। यदि यह भी माना जाये कि विभिन्न कारणो का अन्तर-सम्बन्ध नही है तथा यह कारक अलग-अलग कार्य करते है तब भी यह बताना असम्भव है कि इन कारकों में से कौनसा एक कारक भिक्षावृत्ति में प्रमुख व प्रधान है। वैज्ञानिक रूप से भिक्षावृत्ति के कारण मालूम करने के लिए यह तरीका अधिक उचित होगा कि कुछ लक्षणों का चयन किया जाये और फिर यह मालूम किया जावे कि इनमें से दी हुई जनसंख्या में कौन-कौन से लक्षण उपलब्ध हैं। उदाहरणतया यह मालूम किया जा सकता है कि कितने भिखारियों के परिवार विच्छिन्न परिवार थे, कितने शारीरिक रूप से बाधित थे, कितने किसी रोग से पीड़ित थे आदि। इस तरह श्रेणीबद्ध करने से यह पता लग सकता है कि विशेषतः कौन-कौन से कारक भिक्षा-वृत्ति में प्रमुख हैं। परन्तु इस विधि में भी एक दोष है। मान लीजिए हम यह पाते हैं कि अधिकांश भिखारी शारीरिक रूप मे बाधित हैं, तब यह कहना बिल्कुल अनुचित होगा कि शारीरिक बाधा ही भिक्षावृत्ति का मुख्य कारण है, क्योंकि सभी शारीरिक

विवरण किया गया है। गोरे ने अपने अध्ययन में भिक्षावृत्ति के निम्न कारण पाये[29]—

कारण	संख्या	प्रतिशत
बाधा के कारण धनोपार्जन की क्षमता खो बैठना	104	17·33
व्यापार में नुकसान परिवार के आजीविका कमाने वाले सदस्य की मृत्यु	92	15·34
अभिभावक द्वारा परित्याग	78	13 00
कुष्ठ रोग	70	11·66
धार्मिक आदेश	33	5·51
दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रलोभन	27	4 50
माता-पिता या अभिभावकों की मृत्यु	27	4 50
परिवार से हस्तान्तरित भिक्षावृत्ति	25	4·16
प्राकृतिक संकट	21	3·50
अपर्याप्त आय	17	2·83
अन्य उत्तर	68	11·33
अज्ञात कारण	38	6·34
योग	600	100 00

सुशील चन्द्रा ने भिक्षावृत्ति को अपनाने से पहले भिखारियों के व्यवसायों का अध्ययन किया था जिसमें उसने पाया कि 400 भिखारियों के व्यवसाय इस प्रकार थे[30]—भिक्षावृत्ति में पालन-पोषण—32·2%; खेती—18·8%; स्वतन्त्र व्यापार या व्यवसाय—13.2%; मजदूर व नौकर का कार्य—10 8%; इक्का तांगा व रिक्शा चलाना—10·8%; कोई व्यवसाय नहीं (विधवा, अनाथ आदि)—7·0%; भूतपूर्व सैनिक—4·0%; गायक और नर्तक—1·2%; तथा साधू और जोगी—2·0%।

इससे ज्ञात होता है कि हर तीसरे भिखारी का भिक्षावृत्ति मे ही पालन-पोषण हुआ था। इन व्यक्तियों को माता-पिता द्वारा ही भीख माँगने की शिक्षा मिलती है। सुशील चन्द्रा ने अपने अध्ययन मे यह पाया कि 35 प्रतिशत भिखारी किसी बाधा से पीड़ित थे (जैसे अन्धे, बहरे, गूंगे और मानसिक रूप से रोगी और शारीरिक रूप से दुर्बल व्यक्ति)।[31] मूर्थी ने 62 प्रतिशत को मानसिक रूप से बाधित पाया।[32] इनमे से अधिकाश भिखारियों की बाधाएँ पैतृकता द्वारा प्राप्त नहीं अपितु पर्यावरण द्वारा पर्याप्त थी। इन बाधाओं के कारण वे खेती आदि करने के अयोग्य हो जाते हैं और निर्धनता तथा दीन-अवस्था के कारण किसी संस्थात्मक देखभाल और पुनर्वास के साधनो के अभाव मे भिक्षावृत्ति को अपनाते हैं।

इन अध्ययनो के आधार पर अब यदि हम सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक,

---

[29] *Ibid.*, 46.
[30] Sushil Chandra, *op. cit* , 154.
[31] *Ibid.*, 159.
[32] Moorthy, M. V., *op. cit.*, 71.

शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा प्राकृतिक कारको को देखें जिनके संग्रह (configuration) से भिक्षावृत्ति की समस्या उत्पन्न होती है तो हम यह कह सकते है कि सामाजिक कारको मे परम्परागत व्यवसाय, विघटित परिवार, विधवापन या विधुरता, अभिभावक द्वारा परित्याग आदि प्रमुख है। इसी तरह शारीरिक कारणो मे बुढ़ापा और दुर्बलता; शारीरिक व मानसिक बाधा, असाध्य रोग, आकस्मिक दुर्घटना आदि जैसे कारक, मनोवैज्ञानिक कारणो मे नैराश्य व पराजय, आलस्य और कार्य करने की अनिच्छा, समाज से अलग रहने की इच्छा आदि जैसे कारक; आर्थिक कारणो में निर्धनता व दरिद्रता, बेरोजगारी, सामाजिक सुरक्षा का अभाव, कृषि-भूमि पर आर्थिक दबाव, व्यवसाय मे असफलता आदि जैसे कारक; धार्मिक कारणों में दान देने की धार्मिक स्वीकृति, लोगों की सर्वजनोपकारी धारणा, कर्म के सिद्धान्त मे विश्वास, दान देकर पापो का प्रायश्चित करने की मान्यता, करुणा की भावना आदि जैसे कारक; और प्राकृतिक प्रलयो मे अकाल, जल-प्रलय, भूकम्प, संक्रामक रोग जैसे कारक प्रमुख हैं। इन कारको के संग्रह से ही वे विचार, धारणाएँ, आदते व तात्कालिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है जो व्यक्ति को भिक्षावृत्ति की ओर अग्रसर करती है।

भिखारियों के प्रकार

भिखारियो का आयु, भीख माँगने के कारणों, भिक्षा माँगने की विधियो व शरीर की योग्यता आदि के भिन्न-भिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है। आयु के आधार पर उनका किशोर और वयस्क भिखारियों में वर्गीकरण इस कारण आवश्यक है क्योकि इस आधार पर उनके पुनर्वास के अलग-अलग तरीके निश्चित किये जा सकते हैं। दोनों को फिर उनकी शारीरिक योग्यता के आधार पर चार उप-समूहों मे विभाजित किया जा सकता है—शारीरिक रूप से बाधित, मानसिक रूप से दुर्बल, संक्रामक रोग से पीड़ित, व स्वस्थ भिखारी। स्वस्थ भिखारियो के फिर चार प्रकार दिये जा सकते हैं—धार्मिक भिक्षुक, भ्रमणकारी भिक्षुक, परम्परागत भिक्षुक और निर्व्यापार व आलसी भिक्षुक।

कामा ने बिना किसी विशेष कारक को आधार मानकर तथा सभी कारकों को इकट्ठा करके पन्द्रह प्रकार के भिखारी बताये हैं जिनमें कुछ प्रमुख हैं—शारीरिक रूप से बाधित भिखारी, मानसिक रूप से दुर्बल भिखारी, धार्मिक भिखारी, स्वस्थ भिखारी, रोग से पीड़ित भिखारी, सेवायुक्त भिखारी तथा सोलह वर्ष से कम का बाल-भिखारी आदि।[33]

जॉन टकर (Tucker) ने रहने के स्थान के आधार पर तीन प्रकार के भिखारी बताये हैं[34]—(1) स्थान परिवर्तित करके एक क्षेत्र छोड़कर दूसरे क्षेत्र में आकर रहने

[33] Cama, Katayun H., 'Types of Beggars', *Our Beggar Problem*, ed. Kumarappa, J. M., *op. cit.*, 2.

[34] Tucker, Irwin, St. John, *World Tomorrow*, 1923, quoted by Cama, *op. cit.*, 2.

कार्य करने वाले मजदूर । इनको टकर ने 'होवो' (hoboes) का नाम दिया है। (2) वे व्यक्ति जो भ्रमण करते रहते हैं और कोई कार्य नही करते । इनको उसने 'ट्रैम्प' (tramps) बताया है। (3) वे व्यक्ति जो रहने का स्थान तो नही बदलते परन्तु बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमते रहते है और कोई कार्य नही करते हैं। इनको उसने 'बम्स' (bums) बताया है।

एंडरसन ने फिर पांच प्रकार के भिखारी बताये हैं[35]—मौसमी मजदूर, प्रवासी सामयिक मजदूर, प्रवासी काम न करने वाले व्यक्ति, एक ही स्थान पर रहने व कभी-कभी काम करने वाले मजदूर तथा एक ही स्थान पर रहने काम न करने वाले व्यक्ति।

गोरे ने दिल्ली में 600 भिखारियों के अध्ययन में निम्न प्रकार का विभाजन (प्रतिशत मे) पाया[36]—

(1) **धार्मिक भिक्षुक**	
(क) स्वस्थ	16·5
(ख) शारीरिक रूप से बाधित	2·5
(2) **अधार्मिक स्वस्थ भिक्षुक**	44·5
(3) **अधार्मिक शारीरिक रूप से बाधित भिक्षुक**	
(क) मानसिक रूप से बाधित	1·0
(ख) शारीरिक रूप से बाधित	16·7
(ग) कुष्ठ रोग से पीड़ित	18·8
योग	100·0

भिक्षावृत्ति, पारिवारिक सम्बन्ध और सामाजिक पृथकत्व

किसी भी मानवी घटना में पारिवारिक सम्बन्धो का मूल्य कम आंकना अनुचित होगा। भिक्षावृत्ति में भी परिवार का महत्त्व अधिक है। यहाँ परिवार से अभिप्राय माता-पिता के परिवार तथा विवाह से उत्पन्न परिवार दोनों से है। परन्तु क्योंकि अधिकाश भिखारी जवान और अधेड़-अवस्था के तथा विवाहित मिलते हैं, इस कारण हम भिक्षावृत्ति की समस्या के विश्लेपण से विवाह से उत्पन्न परिवार पर अधिक बल देंगे। लखनऊ में सुशील चन्द्रा द्वारा किये गये अध्ययन मे 400 में से 33 प्रतिशत भिखारी अविवाहित पाये गये, 40·5 प्रतिशत विवाहित, 20·5 प्रतिशत विधवा-विधुर और 6·0 प्रतिशत जीवन-साथी से पृथक्।[37]

परिवार का औसत आकार यद्यपि 4·8 सदस्य पाया गया परन्तु 35·5 प्रतिशत परिवारो मे तीन से कम सदस्य थे, 41·8 प्रतिशत मे 4 और 6 के बीच,

[35] Anderson, quoted by Cama, *op. cit.*

[36] Gore, M. S. *op. cit.*, 28.

[37] Sushil Chandra, *op cit*, 145.

20·2 प्रतिशत में 7 और 10 के बीच और 2·5 प्रतिशत में 11 और उससे ऊपर ।[38] इसके अतिरिक्त सुशील चन्द्रा ने भिखारी परिवारों के निम्न लक्षण भी पाये—

(1) परिवार अधिकांशत: एकाकी है जिसमे पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्तान पायी जाती है। (2) परिवार के लगभग सभी सदस्य अपनी आजीविका भीख से प्राप्त करते है। (3) पति-पत्नी और उसकी सन्तान एक-दूसरे पर आश्रित नही होते क्योकि सभी सदस्य स्वयं कमाते है। इस आर्थिक स्वाधीनता के कारण परिवार के मुखिया का सदस्यों पर कोई नियन्त्रण नही होता ।[39]

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जो एक भिखारी परिवार के सगठन और कार्य करने का आलेख्य मिलता है वह एक पृथक् (disjointed) और विघटित परिवार का ही है जो अन्य रक्त सम्बन्धी आदि समूहो से सामाजिक दृष्टि से पृथक् (socially isolated) है और एक समभाव इकाई (homogeneous unit) की तरह कार्य नही करता है। इस सामाजिक पृथक्करण के कारण भिखारी अपने को एकाकी (isolated) अनुभव करता है जिसका उसके सामाजिक नियमो को अपनाने तथा व्यक्तित्व के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जिसके कारण कुछ व्यक्ति विचल व्यवहार को भी अपनाते है। गोरे ने 600 भिखारियों के अध्ययन मे पाया कि 31 प्रतिशत भिखारी ऐसे हैं जो बिल्कुल पृथक् है तथा जिनका परिवार आदि से कोई सम्पर्क नही है, 17 प्रतिशत ऐसे हैं जो सामाजिक सम्बन्धो के प्रति लापरवाह है तथा जिनके बहुत कम लोगों से सम्बन्ध हैं (perfunctory relations) और 22 प्रतिशत ऐसे है जिनके यद्यपि व्यक्तिगत मित्र आदि हैं परन्तु परिवार के सदस्यो और अन्य रक्त सम्बन्धियों से सम्बन्ध नही हैं ।[40]

सुशील चन्द्रा ने भिखारियों के उनके माता-पिता, पति-पत्नी, सन्तान और भाई-बहन से सम्बन्धों के अध्ययन मे पाया कि अधिकाश भिखारियो के इन व्यक्तियो से सम्बन्ध है ही नही। सविस्तार वर्णन इस प्रकार था[41]—

(प्रतिशत मे)

सम्बन्ध	सामंजस्य सम्बन्ध	असामजस्य सम्बन्ध	सम्बन्धो का अभाव	योग
(1) माता-पिता से सम्बन्ध	28	18	54	100
(2) पति-पत्नी से सम्बन्ध	26	24	50	100
(3) सन्तान मे सम्बन्ध	18	52	30	100
(4) भाई-बहन से सम्बन्ध	27	29	44	100

[38] *Ibid*, 146.
[39] *Ibid.*
[40] Gore, M. S., *op. cit.*, 98.
[41] Sushil Chandra, *op. cit.*, 148.

मूर्थी ने भी अपने अध्ययन मे यह पाया कि बम्बई में अधिकांश भिखारियों के अपने माता-पिता से सम्पर्क नही है तथा आवश्यकता पड़ने पर भिखारी को अपने रक्त-सम्बन्धियों से कोई सहायता नही मिलती है; यहाँ तक कि 80 प्रतिशत भिखारियो ने यह कहा कि वे न तो रक्त-सम्बन्धियों से किसी सहायता की आशा करते है और न स्वयं उनको कोई सहायता देना चाहते हैं।[42]

सामाजिक सम्बन्धो के अभाव मे बहुत से भिखारी भावनात्मक निर्धनता अनुभव करते हैं और सामाजिक दृष्टि से अज्ञात जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सामाजिक पृथकत्व भिखारी को भिक्षुक समाज के नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नही करता।

प्रश्न यह है कि व्यक्ति परिवार से सम्बन्ध खत्म होने के बाद भिक्षावृत्ति को अपनाता है तथा इन सम्बन्धों के समाप्ति के पहले ही वह भीख माँगने का कार्य कर रहा होता है। तथ्य यह है कि कुछ व्यक्ति भिक्षावृत्ति को व्यवसाय अपनाने के कारण परिवार से सम्बन्ध तोड देते है तो कुछ परिवार से सम्बन्ध खत्म होने के कारण ही भिक्षावृत्ति को अपनाते है।

गोरे के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लगभग एक-तिहाई (31 प्रतिशत) भिखारियों ने परिवार से सम्बन्ध टूटने के बाद ही भिक्षावृत्ति को अपनाया।[43] परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि परिवार से पृथक् होने के कारण ही व्यक्ति भिक्षावृत्ति को अपनाते है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि परिवार से पृथक्करण भिक्षावृत्ति को अपनाने का एक मुख्य कारण है। भिखारियो के परिवार से सम्बन्ध टूटने के कारक प्राकृतिक विपत्ति, दीर्घकालीन बेरोजगारी, पर्याप्त कोढ रोग, व्यापार में नुकसान, अभिभावक की मृत्यु, पति-पत्नी द्वारा परित्याग आदि हो सकते हैं।

गोरे ने परिवार से पृथक् होने के कारण और पृथक् होने के उपरान्त भिक्षावृत्ति को अपनाने के निम्न तथ्य दिये हैं[44]—

(प्रतिशत मे)

कारण	संख्या	परिवार से पृथकत्व	भिक्षावृत्ति को अपनाने से पहले अलग होना	भिक्षावृत्ति को अपनाने के बाद अलग होना
(1) प्राकृतिक विपत्ति	21	40	5	25
(2) दीर्घकालीन बेरोजगारी	17	42	24	12
(3) पर्याप्त कुष्ठ रोग	70	50	29	17
(4) अभिभावक की मृत्यु	27	66	11	14
(5) व्यापार में नुकसान	92	73	40	26
(6) पति/पत्नी द्वारा परित्याग	78	86	50	32

[42] Moorthy, M. V., *op. cit*, 53.
[43] Gore, M. S., *op. cit.*, 99.
[44] *Ibid.*, 102–03.

परिवार से पृथक्करण का कारण कुछ भी हो यह निश्चित है कि रक्त-सम्बन्धियों से सम्बन्ध न होना तथा सामाजिक पृथकत्व भिखारियों के सामाजिक जीवन का एक मुख्य लक्षण है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि भिखारियों का यह पृथक्करण अपने रक्त-सम्बन्धियों से ही पाया जाता है। जहाँ तक भिखारियों के आपसी सम्बन्धों का प्रश्न है उनमें हम भावना व सामुदायिक भावना (community sentiment) अधिक मिलती है। जो भिखारी गन्दी बस्तियों मे रहते हैं अथवा समूह बनाकर भीख माँगते हैं उनमे आपसी हम-भावना ज्यादा पायी जाती है। उनके अपने ही नियम व मूल्य होते हैं जो उनको न केवल जन-समाज से पृथक् करते हैं परन्तु उनके अपने सीमित समुदाय में एक स्वार्थता, समैक्य व एकता उत्पन्न करते हैं। अधिकतर यह भी देखा गया है कि जो भिखारी एक ही शारीरिक बाधिता से पीड़ित होते है वे एक ही साथ रहना भी पसन्द करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक भिक्षुकों का भी अपना ही एक सामाजिक मण्डल (social circle) होता है। इनकी आपस में हम भावना ही इनके व्यावसायिक संगठनो (professional organisations) के सदस्यों को एक सूत्र मे बांधने का कार्य करती है।

व्यावसायिक संगठन

भिखारी भ्रातृभाव (beggar brotherhood) की भावना के कारण भिखारियों मे कुछ व्यावसायिक संस्थायें मिलती है जो न केवल भिखारियो का शोषण व अनुचित उपयोग करती है परन्तु निर्दोष व्यक्तियो को भी भिक्षावृत्ति व्यवसाय अपनाने के लिए फँसाने का कार्य करती है। भिखारी संस्थाओं के मुख्य उद्देश्य सामूहिक प्रयास द्वारा भीख मांगना, व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भीख माँग कर प्राप्त धन को सामान्य निधि में जमा करना, अथवा सामान्य गुरु व देवता का संयुक्त रूप से पूजन करना आदि होते है। इसके अतिरिक्त यह संस्थायें देश के एक विशेष भाग व राज्य के रहने वाले भिखारियो मे भ्रातृभाव के सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रयास करती हैं जिससे सदस्य सरकार की कानूनी शक्तियो के विरुद्ध एक सामूहिक व संयुक्त दबाव जुटा सकें। संस्था के सदस्यों की व्यक्तिगत कठिनाइयों को सुलझाने तथा भिक्षावृत्ति के व्यवसाय से शत्रुभाव वाले व्यक्तियों को हटाना भी इन संस्थाओं के मुख्य कार्य होते हैं। यह संस्थाये कुछ अव्यवस्थित और सामयिक व अविधिवत् होती है जो जल्दी टूट भी जाती हैं और कुछ समय पश्चात् पुनः बन भी जाती हैं और कुछ शक्तिशाली, व्यवस्थित, प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक होती हैं जो आसानी से टूटती नही है। अधिकाश ये शक्तिशाली भिखारी संस्थायें बम्बई, दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता आदि बड़े शहरो में मिलती है। अव्यवस्थित संस्थाये मेलों और त्यौहारों आदि के अवसरों पर शहरों मे मिलती हैं जिसमें भिखारी व्यवस्थित समूह बनाकर शहरों मे प्रवेश करते हैं। कुछ संस्थायें तो चोरी, राहजनी, अपहरण आदि जैसे अपराध भी करती हैं। इन संस्थाओ के अपने ही नियम व मूल्य होते हैं। नये रंगरूटो को अपने जाल में फंसाकर उनको भीख मांगने आदि के तरीके सिखा

कर उनको पेशेवर भिखारी बनने की शिक्षा दी जाती है। रंगरूट भरती करने का कार्य पेशेवर भिखारियो द्वारा स्वयं बच्चों का अपहरण करके अथवा अन्य पेशेवर अपराधियो द्वारा मोल करके किया जाता है। नये रंगरूट बच्चों का भीख माँगने मे समाजीकरण उनके शरीर के अंग काटकर व आकृति बिगाड़ कर अथवा गाने आदि सिखा कर किया जाता है। सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए कठोर अनुशासन के तरीके व दण्ड के नियम बनाये जाते है। किसी समारोह अथवा सफलता को उत्सव के रूप में मनाने के लिए शराब आदि के जश्न किये जाते है। यद्यपि एक ही भिखारी सस्था के सदस्य एक ही स्थान पर रहते हैं परन्तु ऐसी भी संस्थायें हैं जिनके सदस्य सुरक्षा की दृष्टि से अलग-अलग रहते है और निश्चित् स्थान व समय पर एकत्रित होकर दैनिक कार्य करते है। संस्था का मुखिया एक जवान व अधेड़ आयु का स्वस्थ और सशक्त व्यक्ति ही होता है। यह मुखिया ही लूट आदि के माल को बाँटने व नियम भंग करने वाले सदस्यो को दण्ड देने का कार्य करता है। इसकी सहायता के लिए एक छोटा सा उप-समूह बनाया जाता है जो सदस्यो के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए मुखिया के 'आँख व कान' का कार्य करता है। मुखिया और उसके सलाहकार संस्था के लिए 'मस्तिष्क' और 'मांसल' (muscles) का कार्य करते है। सस्था के सम्पर्क व्यापारियों आदि जैसे व्यक्तियों से भी होते हैं जिससे सदस्य उनके द्वारा चोरी से प्राप्त माल बेच सकें। पुलिस आदि जैसे अधिकारियों से भी इस कारण सस्था रिश्वत आदि देकर सम्पर्क स्थापित रखती है जिससे सदस्यो को आवश्यकता पडने पर बचाव व सुरक्षा प्रदान की जा सके। कुछ संस्थायें निश्चित क्षेत्रों मे ही कार्य करती है यद्यपि समय-समय पर इस क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयास भी करती रहती हैं। उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त भिखारियों की व्यवसायिक सस्थाओं के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—अधिकारो का केन्द्रीकरण, श्रम-विभाजन, सहयोग पर आधारित प्रयास और सावधानी से बनायी गयी योजनायें।

इन लक्षणो के आधार पर भिखारियों की पेशेवर सस्थाओं और अपराधियो के व्यवस्थित गिरोह मे अधिक अन्तर नही मिलता। दोनों गुप्त रूप से कार्य करते हैं, दोनो की सरचना पदसोपान (hierarchical) आधार पर होती है, दोनो मे नियन्त्रण का एकाधिपत्य पाया जाता है तथा दोनों शक्ति और हिंसा का प्रयोग करते है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि भिखारियो की संस्थाओ का प्रत्यक्ष व्यवसाय भीख माँगना है जो उनको अपनी सुरक्षा के लिए एक अच्छा साधन उपलब्ध करता है जबकि सभी अपराधी पेशेवर गिरोहों को ऐसा बचाव सदा प्राप्त नहीं होता।

भिक्षावृत्ति सम्बन्धी कानून

भिक्षावृत्ति के उन्मूलन के लिए समय-समय पर कानून पास किये गये हैं। इस कानूनों का तीन स्तरों पर विश्लेषण किया जा सकता है—केन्द्रीय स्तर पर, राज्य स्तर पर, तथा स्थानीय स्तर पर।

केन्द्रीय स्तर पर कानून—क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (Criminal Procedure Code) में आवारागर्दी की रोकथाम की व्यवस्था है परन्तु आवारा शब्द यहाँ दुश्चरित्र व्यक्तियों (bad characters) के ऊपर लागू होता है, भिखारियों पर नही। इस कारण यह कानून भिक्षा के रोकथाम के लिए विशेष सहायक नही है। इसी प्रकार यूरोपियन आवारा व्यक्तियो के लिए 1874 में एक यूरोपियन वैग्रेनसी एक्ट (European Vagrancy Act) पास किया गया था। यहाँ 'आवारा' शब्द भीख मागने वाले यूरोपियन पर लागू होता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि केन्द्रीय स्तर पर भिक्षावृत्ति से सम्बन्धित सर्वप्रथम कानून 1874 में पास हुआ, यद्यपि यह केवल समाज के एक वर्ग पर ही लागू होता था। 1898 में कुष्ठ पीड़ित व्यक्तियों के लिए एक एक्ट (Lepers Act) पास किया गया। इस कानून मे सार्वजनिक स्थानों में भीख माँगने तथा घाव, विरूपता, पीड़ा अथवा रोग का प्रदर्शन कर भीख प्राप्ति करने वाले कुष्ठ पीडित व्यक्तियों को पकड़ने की व्यवस्था है। 1941 में भारतीय रेलवे अधिनियम भी पास किया गया जिसके अनुसार रेलवे की सीमा व गाड़ी में भीख माँगना निषेध ठहराया गया। 1959 में भारतीय दण्ड सहिता (संशोधन) अधिनियम पास किया गया जिमके अनुसार भिक्षावृत्ति के लिए बच्चों को भगाने और उनका अंग-भंग करने वाले व्यक्तियों और दलों को दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है।

राज्य स्तर पर—राज्य स्तर पर भिक्षावृत्ति निवारण कानून महाराष्ट्र (1945), आंध्र (1945), बिहार (1952), गुजरात (1959), मद्रास (1945), मैसूर (1944), बंगाल (1943), केरल आदि में बनाये गये है। उत्तर प्रदेश, जम्मू-काश्मीर, राजस्थान मे ऐसे कानून बनाने पर विचार किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त कुछ केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों में भी भिक्षावृत्ति कानून बनाये गये हैं, उदाहरणतः दिल्ली (1960) तथा पाडेचेरी में ऐसे कानून मिलते हैं।

इन राज्य कानूनों के आधार पर किसी सार्वजनिक स्थान मे जनता को दान देने के लिए किसी बहाने उकसाना या दान प्राप्त करने के लिए किसी निजी मकान मे प्रवेश करना अपराध घोषित किया गया है, जिसके लिए 50 से 100 रुपयों तक जुर्माना तथा एक माह से तीन वर्षों तक कारावास का दण्ड दिया जा सकता है। वयस्क भिखारियों के पुनर्वास के लिए इन कानूनों मे कार्य करने योग्य भिखारियों को कुछ वर्षों तक कार्य गृहों (work houses) में रखने की भी व्यवस्था की गयी है। बाल भिखारियों को मान्यता प्राप्त स्कूलों मे रखने की भी व्यवस्था है।

स्थानीय स्तर पर—स्थानीय स्तर पर भोपाल (1947), कलकत्ता (1866) मद्रास (1833), उत्तर प्रदेश नगरपालिका अधिनियम (1916), पंजाब नगरपालिका अधिनियम (1911), अजमेर और मारवाड़ नगरपालिका अधिनियम (1923) आदि मिलते हैं। इनमें भी राज्य कानूनों की तरह जुर्माना करने तथा जेल व विशेष गृहों में भेजने की व्यवस्था है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पिछले 30 वर्षों

मे भिक्षावृत्ति सम्बन्धी कानूनों में जो एक मुख्य परिवर्तन दिखायी देता है वह यह है कि पहले जब भिक्षावृत्ति को जनोपद्रव (Public nuisance) के लिए एक कानून और व्यवस्था की समस्या समझा जाता था तथा जन-स्वास्थ्य के लिए एक विभीपिका (menace) के रूप मे देखा जाता था जिस कारण क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, पुलिस कानूनो, कुष्ट पीडित व्यक्तियो के लिए कानून और नगरपालिका कानूनों के अन्तर्गत उनकी रोकथाम की व्यवस्था की गयी थी, अब भिक्षावृत्ति को एक अलग अपराध मानकर उसके लिए अलग कानून बनाये जा रहे हैं। कानूनो के नाम ही (जैसे 1945 का मद्रास भिक्षावृत्ति के रोकथाम के लिए अधिनियम, 1952 का विहार भिक्षावृत्ति अधिनियम आदि) बताते हैं कि भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए पृथक प्रयास किये जा रहे हैं। दूसरा जो हमे कानूनों में परिवर्तन दिखाई देता है वह यह है कि भिक्षुको के प्रति दृष्टिकोण उनको दण्ड देने के बजाय सुधारने के प्रयत्न अपनाने पर बल देता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही कि दण्ड का सिद्धान्त बिल्कुल समाप्त हो रहा है। भिखारियों को दण्ड देकर उनको अन्य व्यक्तियों के लिए उदाहरण के रूप मे रखना अब भी स्वीकार किया जा रहा है। कुछ भिखारियो को तो दण्ड पहले की अपेक्षा और कठोर दिया जाता है। तीसरा परिवर्तन कानूनो मे यह मिलता है कि अब न केवल भिखारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था मिलती है परन्तु व्यक्तियो को भीख माँगने के लिए उकसाने वालों को भी।

सुधार व पुनर्वास

भिखारियो के पुनर्वास तथा भिक्षावृत्ति के निवारण के लिए कुछ राज्यों मे विशेष योजनायें आरम्भ की गयी है। कही पर भिखारियो को सरकारी तथा गैर-सरकारी कल्याण सेवाओं के सरक्षण में सौप दिया गया है तो कही पर उनके सुरक्षा व प्रशिक्षण के लिए भिक्षुक गृह स्थापित किये गये हैं। बम्बई जैसे राज्यो मे महिला भिखारियो के लिए अलग महिला भिक्षुक सदन भी स्थापित किये गये है। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मैसूर आदि राज्यों में उनके देखभाल के लिए अगवानी केन्द्र (reception centres) भी खोले गये हैं। शारीरिक व मानसिक बाधा से पीड़ित भिखारियों के चिकित्सा के लिए सदन तथा स्वस्थ भिखारियो के लिए कार्य-शिविर बनाये गये हैं। इन शिविरो में उन्हे शिल्प प्रशिक्षण देकर उपयोगी धन्धों में लगाने के प्रयत्न किये जाते है। बम्बई में अगवानी केन्द्रो के साथ प्रशिक्षित पुलिस दस्ते भी सम्बद्ध किये गये है जो शहर में घूमकर सार्वजनिक स्थानो से भिखारियो को पकडकर केन्द्रो मे लाते हैं।

भिक्षुक गृह—महाराष्ट्र, मैसूर, तमिलनाडु, राजस्थान आदि राज्यों में जो भिक्षुक गृह स्थापित किये गये हैं उनका उद्देश्य है कि भिखारियों को जेल न भेजकर इन गृहों में रखने से उनको एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मिले। साथ में यह भी माना जाता है कि भिक्षावृत्ति अन्य अपराधो से भिन्न है जिस कारण इसके रोकथाम के लिए तथा भिखारियों के सुधार के लिए भी विशेष प्रयास किये जाने चाहिएँ जो

केवल विशेष रूप से स्थापित भिक्षुक गृहों में ही सम्भव हो सकते हैं। फिर जेल के विपरीत भिक्षुक गृहों में व्यक्ति को निश्चित समय के लिए नहीं रखा जाता। जब भी यह देखा जाता है कि भिखारी को आवश्यक शिक्षा व प्रशिक्षण मिल चुका है उसे गृह से छोड़ दिया जाता है। परन्तु राव जैसे कुछ व्यक्तियों[15] ने भिक्षुक गृहों के अलग स्थापना के सिद्धान्त की आलोचना की है। उनका एक तर्क है कि यह जनसाधारण के लिए आर्थिक बोझ है क्योंकि जो रहन-सहन का स्तर गृहों के निवासियों के लिए मिलता है वह जनता पर एक कर है और कानून को मानने वाले व्यक्तियों के निम्न स्तर से कहीं ऊँचा है। दूसरा, यदि भिक्षावृत्ति को विशेष अपराध मानकर अलग संस्थाओं की स्थापना का समर्थन करेंगे तो हर अपराध विशेष अपराध है जिस कारण हर अपराध के लिए अलग सुधारात्मक संस्था होनी चाहिए जो सम्भव नहीं है। तीसरा, भिखारियों को जेल में रखें अथवा भिक्षुक गृहों में, उनके लिए दोनों स्थान अनिवार्य नजरबन्दी के स्थान है। चौथा, यह मान्यता कि जेल दण्ड देने के लिए बनाये गये हैं और भिक्षुक गृह सुधारात्मक संस्थाएँ हैं केवल सैद्धान्तिक रूप में सही है, वास्तविक रूप में नहीं। आलोचना के तर्क कैसे भी हों परन्तु यह वास्तविकता है कि जेलों की अपेक्षा यह भिक्षुक गृह भिखारियों के सुधार के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

गोरे अध्ययन टीम के सुझाव

1959 में योजना कमीशन के अनुसंधान प्रोग्राम कमेटी द्वारा निर्धारित एक प्रोग्राम के अन्तर्गत गोरे अध्ययन टीम ने दिल्ली में 600 भिखारियों का अध्ययन कर भिखारियों के संस्थात्मक देख-भाल, प्रशिक्षण व पुनर्वास के लिए कुछ सुझाव दिये थे जो इस प्रकार थे[16] :

(1) कुष्ठ रोग से पीड़ित, शारीरिक रूप में बाधित, मानसिक रूप से दुर्बल, बूढ़े तथा स्वस्थ किशोर व वयस्क भिखारियों के लिए अलग-अलग सुधारात्मक संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिएँ।

(2) इन संस्थाओं में रहने वाले अधिकांश भिखारी सामान्य व्यवसाय करने के योग्य नहीं होंगे, इस कारण ऐसे भिखारियों के लिए संस्था द्वारा स्थायी आधार पर व्यवस्था करनी होगी। जो भिखारी कोई कला सीखने का कार्य कर सकते हैं उनके लिए सुधारात्मक प्रयत्नों के अतिरिक्त प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी उपलब्ध करनी होंगी। शेष भिखारियों से खाना बनाने, चपरासी का कार्य करने, रोगियों की देख-भाल करने आदि का कार्य लेकर व्यय को कम किया जा सकता है।

(3) एक अगवानी केन्द्र (receiving centre) खोला जाये जहाँ गिरफ्तार

---

[15] Rao, P. Kodanda and Smt. Rao, Mary C., 'Beggary and its Elimination' in *Social Welfare in India*, Planning Commission, Govt. of India, Delhi, 1955, 307.

[16] Gore, M. S., *op. cit.*, 217-19.

किये गये भिखारियों को रखा जा सके जिससे उनकी मानसिक और चिकित्सा सम्बन्धी अध्ययन की व्यवस्था की जा सके।

समस्या का समाधान

भिक्षावृत्ति समाप्त करने के प्रयास कानूनों को उपयुक्त तरीके से लागू करने, सामाजिक सुरक्षा व सामाजिक सहायता सम्बन्धी योजनाओं को आरम्भ करने, व्यक्तियों के दान देने के धार्मिक व व्यक्तिगत विचारों में परिवर्तन करने आदि के अतिरिक्त भिखारियों के स्वयं के इन धारणाओं पर अधिक निर्भर करते हैं कि वे भिक्षावृत्ति को छोडने के लिए इच्छुक हैं अथवा नही, तथा अपने सन्तान के भिक्षावृत्ति अपनाने के प्रति उनके क्या विचार हैं। इसलिए सामाजिक, आर्थिक आदि प्रयत्नों (measures) के विश्लेषण से पूर्व हम भिखारियों के विचार समझने का प्रयास करेंगे। गोरे ने अपने अध्ययन में इन विचारों को मालूम करने का प्रयत्न किया था। अध्ययन किये गये 600 भिखारियों में से 11 प्रतिशत भिखारियों के भिक्षावृत्ति के प्रति विचारों की स्थिति इस कारण मालूम न हो सकी क्योंकि इन्होंने प्रश्नों के उत्तर ही नही दिये। शेष 89 प्रतिशत (532 भिखारियों) ने निम्न विचार बताये[47]—

भिखावृत्ति पसन्द नहीं परन्तु अन्य कोई विकल्प व उपाय नहीं है	=37% ;
भीख माँगना पसन्द है	=20% ;
भीख माँगना आदत बन गयी है	=12% ;
माँगने व न माँगने के प्रति उदासीनता व लापरवाही	=20%।

भिखावृत्ति को छोडने की इच्छा व अनिच्छा के प्रति विचार इस प्रकार पाये गये हैं[48]—भिक्षावृत्ति को छोड़ने के लिए इच्छुक=8·5%; छोड़ने की सशर्त (conditional) इच्छा (जैसे अन्य भिखारी भिक्षावृत्ति छोड दें अथवा कोई कार्य उपलब्ध हो)=23·0%; यदि किसी भिक्षुक-गृह अथवा संस्था आदि में रखा गया तो नहीं छोडेंगे=10·5%; बुढापे और शारीरिक व मानसिक बाधा के कारण छोड़ने मे असमर्थ=17·0%; छोडने की कोई इच्छा नही (इस मान्यता के आधार पर कि धार्मिक भिक्षुको को माँगना ही चाहिए तथा इस धारणा के कारण कि माँगना कमाने का आसान तरीका है आदि)=27·0 %; कोई उत्तर नहीं=14·0 %।

यह पूछे जाने पर कि उनके अपने सन्तान के भीख माँगने के प्रति क्या विचार है, गोरे ने पाया कि 402 भिखारियों की कोई सन्तान नही थी और 57 ने कोई उत्तर नही दिया; शेष 141 ने निम्न उत्तर दिये :[49]

सन्तान द्वारा भीख माँगने के पक्ष में अथवा लापरवाह	=21·3% ;
सन्तान द्वारा भीख माँगने के विपक्ष मे	=60·0% ;
कुछ निश्चित नही किया	=18·7% ;

[47] *Ibid.*, 86.
[48] *Ibid.*, 88-89.
[49] *Ibid.*

भिक्षावृत्ति को छोड़ने की इच्छा व अनिच्छा का भिखारियों के व्यक्तित्व (type) से निम्न सम्बन्ध पाया गया[50] :

इच्छा/अनिच्छा	धार्मिक भिक्षुक	स्वस्थ भिखारी	शारीरिक व मानसिक रूप में बाधित भिखारी
असमर्थ	1 (–%)	27 (10%)	70 (31%)
अनिच्छुक	75 (75%)	52 (20%)	39 (16%)
इच्छुक	22 (22%)	131 (49%)	101 (41%)
कोई उत्तर नहीं	3 (3%)	57 (21%)	22 (9%)

इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि लगभग आधे भिखारियों से भिक्षावृत्ति बिना किसी कठिनाई से छुड़वायी जा सकती है और शेष आधे से छुड़वाने के लिए सुरक्षा आदि जैसे उपाय उपलब्ध करने होंगे। इस सन्दर्भ में भिक्षावृत्ति के समाधान के लिए कुछ कमेटियों ने भी सुझाव दिये है जिनमे से कुछ का विश्लेषण आवश्यक है।

1959 में उत्तर प्रदेश राज्य के समाज-कल्याण विभाग ने समाज-कल्याण पर एक मूल्यांकन कमेटी (Evaluation Committee) नियुक्त की थी जिसने 1961 में अपने सुझाव दिये थे। भिक्षावृत्ति को रोकने से सम्बन्धित कुछ मुख्य सुझाव इस प्रकार थे[51]—

(1) स्थानीय नगरपालिकाओं को आवश्यक कानून बनाने चाहिए।

(2) राज्य सरकार को स्थानीय नगरपालिकाओं को उदार रूप से अनुदान देना चाहिए।

(3) 1898 के कुछ पीड़ित व्यक्तियों के लिए एक्ट और विभिन्न बाल अधिनियमों को कार्य साधन रीति से (effectively) लागू करना चाहिए।

(4) भिक्षुक गृहो के निवासियों की व्यापक शिक्षा और व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए विशिष्ट अध्ययन के कोर्स बनाने चाहिए।

(5) अनुगामी प्रोग्राम आरम्भ करने चाहिए।

(6) जनमत पैदा करने के लिए गहन प्रचार शुरू करना चाहिए।

1959 में गोरे अध्ययन टीम ने नये कानून बनाकर भिखारी को तीन वर्ष तक सुधारात्मक संस्था मे रखने की व्यवस्था करने तथा दान देने को अपराध घोषित करने के सुझाव दिये थे।

अप्रैल 1965 में योजना कमीशन ने श्रीमती चन्द्रशेखर (सामाजिक सुरक्षा -उपमन्त्री) की अध्यक्षता में भिक्षावृत्ति, आवारागर्दी, और बाल-अपराध की समस्याओं के अध्ययन के लिए 12 सदस्यों का एक अध्ययन समूह नियुक्त किया।

[50] *Ibid.*, 90.

[51] Sushil Chandra, *op. cit.*, 171.

के निवारण के लिए इस समूह ने निम्न सुझाव दिये[52]—

(1) सभी भिखारियों के सुधार के लिए एक ही जैसा दण्डनीय तरीका अपनाना चाहिए जिसमें पुलिस द्वारा गिरफ्तारी, मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत करना, और फिर जेल आदि संस्था में बन्दी रखना अनुचित और हानिकारक है। इसके बजाय दो उद्देश्यों वाला प्रोग्राम (double-track system) शुरू करना चाहिए जो सुधारात्मक सिद्धान्त और सामाजिक सहायता के सिद्धान्त का मिश्रण हो जिससे भिन्न-भिन्न तरह के भिखारियों के लिए अलग-अलग नीति का प्रयोग किया जा सके। दूसरे शब्दों में दण्ड देने वाले सिद्धान्त को बिल्कुल समाप्त करना गलत होगा। जो व्यक्ति अपनी इच्छा से अथवा पेशे के रूप में या कभी-कभी भीख माँगते हैं उनके लिए दण्ड उनका भीख माँगने से रोकने का कार्य करेगा।

(2) सामाजिक सहायता की योजना में सहायता केवल आवश्यकता पर आधारित होनी चाहिए, भिक्षावृत्ति जैसे प्रकट कार्य पर नहीं। दूसरे शब्दों में जब तक व्यक्ति भीख माँगने जैसा अपराध न करे तब तक सहायता को रोके रखना बुद्धि-हीन कार्य होगा। फिर, भीख माँगने के अपराध करने के बाद केवल शारीरिक अवस्था व आयु के आधार पर अपराधियों में भेद करना भी अनुचित होगा। सामाजिक सहायता की योजना भेदभाव अथवा उपविभागीकरण (compartmentalisation) के बिना सभी के लिए समान रूप से होनी चाहिए।

(3) सामाजिक सहायता की योजना को अर्थव्यवस्था का स्थायी लक्षण बनाने के लिए उसके उद्देश्य, वित्त-व्यवस्था और शासन नीतियों से सम्बन्धित विधि सम्बन्धी प्रावधान (statutory provisions) तरीके अपनाने चाहिए। आरम्भ में तो सामाजिक सहायता की योजना कुछ चुने हुए क्षेत्रों में पूर्वगामी योजना के रूप में शुरू की जा सकती है परन्तु चौथी योजना के काल में ही योजना को राष्ट्रीय सहायता के रूप में विस्तार करने के लिए आवश्यक कानून पास करना होगा।

(4) भिखारियों के एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवास (migration) को रोकने के लिए इच्छुक भिखारियों को उनके अपने ही राज्य में (जहाँ उनका जन्म हुआ था) वापिस भेजने की व्यवस्था आवश्यक है यद्यपि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से अनिवार्य स्वदेश वापिस भेजने (compulsory repatriation) की योजना अनुचित होगी क्योंकि बड़े शहर, तीर्थयात्रा के स्थान अथवा पहाड़ी शहर अधिक भिखारियों को आकर्षित करते हैं इस कारण ऐसी जगहों में भिक्षावृत्ति को रोकने का उत्तर-दायित्व केन्द्रीय सरकार को लेना चाहिए।

वित्त व्यवस्था के बारे में अध्ययन समूह ने यह सुझाव दिया कि व्यय का 60 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार को खर्च करना चाहिए। योजना क्षेत्र (project area) स्तर पर मैसूर राज्य में पायी जाने वाली स्थानीय चुँगी की योजना भी अपनायी जा

---

[52] *Social Defence*, Central Bureau of Correctional Services, Delhi, Oct. 1965, 18-22.

सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य सलाहकार बोर्ड भी चन्दा इकट्ठा कर सकता है।

शासकीय व्यवस्था के लिए अध्ययन समूह ने प्रोग्राम को लागू करने का उत्तरदायित्व राज्य सरकार का बताया। राज्य सरकार समाज-कल्याण विभाग के द्वारा इस प्रोग्राम को आरम्भ कर सकती है। सामाजिक सहायता की योग्यता के लिए एक राज्य सलाहकार समिति भी नियुक्त करनी चाहिए। प्रोग्राम को स्थानीय योजनाओं के रूप में आरम्भ करना चाहिए। लगभग पाँच लाख जनसंख्या के लिए एक स्थानीय योजना होगी। हर स्थानीय योजना के लिए एक स्थानीय अधिकारी तथा एक समन्वय कमेटी होगी जिसमें सरकारी और गैर-सरकारी समूहों के प्रतिनिधि होगे। समाज-कल्याण विभाग का संचालक इस कमेटी का अध्यक्ष होगा। हर स्थानीय स्तर पर एक सतर्कता एकक (vigilance unit) होगा। हर क्षेत्र में 20000 व्यक्तियों के लिए 25 रुपये प्रति माह दिये जायेंगे। केन्द्रीय स्तर पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड होगा।

उपर्युक्त विवरण से जो भिक्षावृत्ति समस्या का आभास होता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि विचलित व्यवहार के इस रूप को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। सामाजिक पृथकत्व के कारण अथवा जीवन मे प्रति-द्वन्द्विता का सामना करने की असमर्थता के कारण भिखारी सामाजिक नियमो से विचलित होते हैं और यह विचलन फिर आत्मसम्मान के खत्म हो जाने के कारण सन्तान तक हस्तान्तरित होता है। यह तो निश्चित है कि वर्तमान संस्थात्मक सुविधाएँ उनकी देख-भाल और पुनर्वास के लिये बहुत कम हैं तथा सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी प्रयास भी अपर्याप्त है। इन सुविधाओं और प्रयासो के अतिरिक्त जो अन्य प्रयास हमें अपनाने चाहिए वह यह कि भिखारियों के व्यक्तिगत आधार पर सुधारने के प्रयत्नों के अतिरिक्त उनके पेशेवर संस्थाओ को भी समाप्त करना आवश्यक है जो न केवल भिखारियों का शोषण करते है परन्तु कठोर तरीके अपनाकर व अपहरण करके सरल व्यक्तियों को भी भिक्षावृत्ति अपनाने के लिये बाध्य व उत्तेजित करते हैं। नये प्रोग्राम शुरू करके उनके आधार पर स्वस्थ भिखारियो से जबर्दस्ती श्रम कार्य कराया जा सकता है। बाल भिखारियो के लिए भी विशेष उपचार की आवश्यकता है। यदि उनकी समुचित ढंग से देख-भाल की जाए तो उनसे भिक्षावृत्ति छुड़ाने और उन्हें सम्मानपूर्वक जीवन बिताने का ढंग सिखाना आसान होगा। इस प्रकार भिक्षा-वृत्ति को समाप्त करने के लिए जो हमारी सामाजिक व्यवस्था में मनुष्यों द्वारा बनायी हुई दरारें मिलती हैं वे समाज के सम्भावित साधनों, शक्तियो व पदार्थों को उपलब्ध करके भरी जा सकती हैं जिससे समस्या का समाधान हो सके।

5 बेकारी
(UNEMPLOYMENT)

व्यक्ति को समाज में बहुत से कार्य (roles) करने पड़ते हैं जिनमें से पुरुष के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य धनोपार्जन का कार्य है। इस कार्य करने से न केवल उसे अपने समय और शक्ति को व्यस्त करने के लिए एक क्रिया मिलती है परन्तु इससे उसे सामाजिक स्थिति भी प्राप्त होती है। जो व्यक्ति काम करने के योग्य व इच्छा होते हुए भी कार्य प्राप्त नही कर पाता वह एक ओर स्थिति व प्रतिष्ठा पाने से वंचित हो जाता है, दूसरी ओर आर्थिक समस्या के अलावा कुछ भावनात्मक व सामाजिक समस्याओं का भी सामना करता है, जो उसके व्यक्तित्व के विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालती हैं तथा उसके असमायोजित व्यक्तित्व की उत्पत्ति के कारण परिवार व समाज को भी प्रभावित करती हैं। इसी प्रभाव हेतु बेरोजगारी को समाजशास्त्रीय अध्ययन में महत्त्व दिया गया है।

भारत में बेरोजगारी की समस्या केवल औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न नहीं हुई परन्तु अट्ठारहवी व उन्नीसवी शताब्दियों से पूर्व ही बहुत से व्यक्ति आजीविका कमाने में अपने को असमर्थ पाते थे। अन्तर केवल इतना है कि पहले यह बेकारी कृषि क्षेत्र मे अधिक थी, अब शिक्षा व उद्योग के क्षेत्रों मे अधिक मिलती है।

बेकारी का अर्थ

किसी व्यक्ति को 'बेरोजगार' माना जाये ? क्या ऐसे व्यक्तियों को जो स्नातक होते हुए भी बस-कन्डक्टर या क्लर्क आदि जैसे कार्य करते है अथवा क्या ऐसे प्रवीण श्रमिकों को जो अदक्ष व अप्रवीण मजदूरों का कार्य करते है। ये सब व्यक्ति 'बेरोजगार' नही परन्तु 'अर्द्ध-बेकार' (under-employed) कहे जा सकते हैं। बेरोजगार व्यक्ति वह है जो काम करने के समर्थ होते हुए भी किसी भी प्रकार का आजीविका का समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त साधन ढूंढ नही पाता। इस प्रकार बेरोजगारी की धारणा के तीन मुख्य तत्त्व हैं: (1) व्यक्ति कार्य करने के योग्य हो, (2) व्यक्ति में कार्य करने की इच्छा हो, (3) व्यक्ति कार्य ढूंढने का कोई प्रयत्न कर रहा हो। इस आधार पर बेरोजगारी को एक वह स्थिति बताया जा सकता है जिसमें बहुत से कार्य करने के योग्य व्यक्ति कार्य करने के इच्छुक होते हुए भी प्रचलित वेतन-दरों पर कार्य प्राप्त न कर पाने के कारण काफी समय तक आजीविका का साधन प्राप्त न कर पाते।

फेयरचाइल्ड ने बेरोजगारी की इस प्रकार परिभाषा दी है : 'सामान्य दशाओं तथा सामान्य वेतन दर पर व्यक्ति को बलपूर्वक और अनैच्छिक रूप से वेतन के काम से अलग कर देने की स्थिति।'[1] नाबा गोपाल दास ने बेरोजगारी को अनैच्छिक निष्क्रियता की स्थिति (condition of involuntary idleness) बताया है।[2] डिमेलो ने बेरोजगार व्यक्ति उसे माना है जो अपनी इच्छा होते हुए भी वेतन का काम प्राप्त नहीं कर सकता।[3]

इन परिभाषाओं के आधार पर अभी तक ऐसे क्षीण व रोगी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक असमर्थता के कारण काम करने के अयोग्य थे बेकारों की श्रेणी मे नही रखा जाता था। परन्तु क्योंकि अब इन अपाहिज व्यक्तियों के लिए भी कार्य करने के तरीके ढूंढ निकाले गये है, इस कारण यदि इनकी बाधाएँ दूर की जा सकती है और ये कार्य करने के इच्छुक है पर कार्य ढूँढ नही पाते तो इन्हे भी बेरोजगार माना जाएगा। इसी प्रकार पहले भिखारियो को भी बेरोजगारो की श्रेणी में नही रखा जाता था परन्तु अब उन भिक्षुको को भी बेरोजगार मानना होगा जो काम करना चाहते है, परन्तु उन्हें काम मिल नही पाता। दूसरे शब्दों मे, आज के युग मे बेरोजगारी की पुरानी परिभाषा मे परिवर्तन करना आवश्यक है।

किसी समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति उसको माना जायेगा जिसमें बल-पूर्वक व अनैच्छिक निष्क्रियता (enforced idleness) की अवधि कम से कम होती है। पूर्ण रोजगारी के चार प्रमुख तत्त्व हैं : (1) व्यक्ति को रोजगार ढूंढ़ने के लिये बहुत कम समय लगता है। (2) उसे नौकरी प्राप्त करने का पूरा विश्वास होता है। (3) समाज मे खाली नौकरियाँ सदा बेरोजगार व्यक्तियो से अधिक हों। (4) नौकरी उचित वेतन दर पर प्राप्त हो जिससे व्यक्ति उसे यथार्थ रूप से स्वीकार कर सकें।

बेकारी का विस्तार

भारत में बेरोजगारी की मात्रा मालूम करने मे बहुत-सी सांख्यिकीय बाधाएँ मिलती हैं जिस कारण सही आँकड़े उपलब्ध नही हो पाते। अभी तक रोजगार के दफ्तरों (employment exchanges) में बेकार व्यक्तियो की रजिस्ट्री को आधार मानकर ही देश में बेरोजगार व्यक्तियो की संख्या को आँका जाता है। पर यह सभी जानते हैं कि प्रत्येक बेकार व्यक्ति अपने को रजिस्टर नही करवाता। फिर 'बेरोजगार व्यक्ति' की परिभाषा भी सही आंकडों को आँकने मे बाध्य है। योजना कमीशन ने

[1] 'Forced and voluntary separation from remunerative work of a member of the normal working force during normal working time at normal wages and under normal conditions.'—Fairchild.

[2] Das, Naba Gopal, *Employment, Unemployment* and *Full Employment in India*.

[3] 'An individual not being in a state of remunerative occupation despite his desire to be so.' D'Mello, *Seminar*, No. 120, Aug 1969, 24.

अपने सैम्पल सर्वेक्षणो में व्यक्तियों के सप्ताह में एक रोज भी कार्यतत्पर रहने को आधार मानकर सेवायुक्त और बेरोजगार व्यक्तियों का वर्गीकरण किया है। अन्तर-राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I.L.O.) ने फिर सप्ताह मे 15 घण्टे काम करने वालों को सेवायुक्त व्यक्ति माना है। परन्तु इस प्रकार की बेरोजगार व्यक्तियों की परिभाषा विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में उपयुक्त हो सकती है जहाँ बेरोजगार व्यक्तियों को राज्य द्वारा कुछ आर्थिक सहायता दी जाती है, परन्तु भारत जैसे अर्द्धविकसित देश में नहीं। यहाँ सरल परिभाषा मे बेरोजगार व्यक्ति उसे माना जायेगा जो इच्छा होते हुए भी वेतन का कार्य प्राप्त नही कर पाता।

सरकारी आँकड़ों के अनुसार भारत में इस समय एक करोड़ के लगभग व्यक्ति बेरोजगार हैं।[4] दूसरे शब्दों में कुल जनसंख्या का लगभग दो प्रतिशत भाग बेरोजगार हैं। परन्तु कुछ लोगों का विचार है कि यह आँकडे सही नहीं हैं और देश में इस समय 1·7 और 2·1 करोड के बीच व्यक्ति बेरोजगार हैं।[5] 1970 में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या में जब 18·8 प्रतिशत वृद्धि हुई, 1971 में यह 25·3 प्रतिशत और 1972 मे 35·2 प्रतिशत वृद्धि हुई।[6] अब यह भी आशा की जाती है कि यद्यपि चौथी पचवर्षीय योजना ने 185 से 190 लाख व्यक्तियो के लिए नयी नौकरियाँ उपलब्ध की हैं, फिर भी 60–70 लाख व्यक्तियो की संख्या पहले से बेरोजगार पाए जाने वाले व्यक्तियो की संख्या मे बढ गयी है अथवा अवशेष (backlog) को लेकर 1974 तक हमारे देश मे लगभग 2·8 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार होंगे।[7] योजना कमीशन के एक सदस्य के अनुसार भी यदि 1968–69 में बेरोजगार व्यक्तियो के अवशेष को 1·3 करोड़ आँका जाए तब 1979 के अन्त में इनकी संख्या 6 करोड़ हो जायेगी।[8] पिछली चार पंचवर्षीय योजनाओं में विनियोग व रोजगार के अनुपात (investment-employment ratio) में भी अवनति मिलती है। पहली और दूसरी योजनाओ मे जब 10·191 करोड़ रु० के विनियोग से 1·9 करोड़ नौकरियाँ उपलब्ध की गयी थी (70 लाख कृषि क्षेत्र में और 120 लाख अकृषि क्षेत्र मे) तीसरी योजना मे 10·400 करोड के विनियोग से केवल 145 लाख नौकरियाँ ही उपलब्ध की जा सकी (40 लाख कृषि क्षेत्र मे और 105 लाख अकृषि में)।[9] यह सब आँकड़े बताते हैं कि भारत मे बेरोजगारी की समस्या कितनी गम्भीर है तथा प्रयत्नों के उपरान्त भी हम कितनी नयी नौकरियाँ उपलब्ध करके बेरोजगारी के निवारण मे सफल हो रहे हैं।

---

[4] Directorate General of Employment and Training, *Employment Review*, 1961, and Ministry of Labour, Employment and Rehabilitation, 1967.

[5] D'Mello, Rudolf Gyan in his article 'The Dispossessed' in *Seminar*, No. 120, August 1969, 25.

[6] *Hindustan Times*, 9 April, 1973.

[7] *Ibid*

[8] *Ibid.*, 26.

[9] *Ibid.*

बेरोजगार जनसंख्या की रचना

सर्वाधिकार बेरोजगार व्यक्ति 20 से 24 वर्ष के आयु-समूह में मिलते है। इन्हें मुख्यतः अनुभव के अभाव के कारण कोई नौकरी नहीं मिल पाती। इस आयु-समूह के बाद अधिक बेरोजगार व्यक्ति 25 से 40 वर्ष के आयु-समूह में न मिलकर 40 और 50 के आयु-समूह में मिलते है। इनमें फिर बेरोजगारी का कारण उनकी कार्य करने की शक्तिहीनता तथा उनकी असमायोजन की स्थिति है। व्यवसाय की दृष्टि से फिर अधिक बेरोजगारी- क्लर्क की नौकरियो, माल बेचने वालो (sales-staff), कृपको, कारखानो के श्रमिको, अप्रवीण मजदूरो और वर्तमान समय मे इन्जीनियरो मे मिलती है। इनमें बेरोजगारी का मुख्य कारण यन्त्रीकरण है जिसने श्रमिकों की आवश्यकता पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। इन्जीनियरों के अतिरिक्त अन्य व्यावसायिक व्यक्तियो में बेरोजगारी इस कारण कम मिलती है क्योंकि उनकी संख्या कम होती है और माँग अधिक। आय की दृष्टि से फिर आधे से अधिक बेरोजगार 500 रुपए महीने से कम आय-समूह वाले परिवारो के सदस्य मिलते है, एक तिहाई 500 और 800 रुपए मासिक आय-समूह वाले परिवारो के और शेष 800 रुपए से अधिक आय वाले परिवारो के। अतः यह कहा जा सकता है कि निम्न आर्थिक व व्यावसायिक समूहो में बेकारी अधिक मिलती है जिसका मुख्य कारण है इन समूहों के सदस्यों की शिक्षा-सम्बन्धी पृष्ठभूमि, व्यावसायिक व तकनीकी प्रशिक्षण का अभाव तथा श्रम की गतिहीनता इत्यादि।

बेकारी के प्रकार

बेकारी को पूर्ण तथा अर्द्ध, स्थायी तथा अस्थायी, व मौसमी तथा चक्रीय बताया गया है। अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति में यद्यपि व्यक्ति काम करते हुए मिलते है परन्तु सही रूप से उनके श्रम व योग्यता का उपयोग नही किया जाता है। उदाहरण के लिए इन्जीनियरों द्वारा क्लर्क का कार्य करना, अधिक शिक्षित व्यक्तियों द्वारा टाइपिस्ट का कार्य करना आदि। इसी प्रकार इस समय हमारे देश मे जो 68 प्रतिशत कृपक भूमि पर खेती कर रहे हैं, उनमें अधिकांश जबरदस्ती कृषि उद्योग में लगे हुए हैं तथा ये अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति मे हैं। अन्य व्यवसायों व सेवाओं मे भी इसी प्रकार की अर्द्ध-बेरोजगारी मिलती है। चक्रीय (cyclical) बेरोजगारी फिर व्यापार के उतार-चढ़ाव के कारण उत्पन्न होती है। व्यापार में लाभ होने के परिणामस्वरूप पूँजीपति अधिक धन व्यापार मे लगाते हैं जिसमे श्रम की माँग व रोजगार बढ़ता है। परन्तु व्यापार में निरन्तर हानि होने के कारण पूँजीपति अधिक धन लगाने से डरते है जिससे श्रम की माँग कम होती है और बेरोजगारी फैलती है। इसी प्रकार अधिक उत्पादन (over-production) के कारण वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट आती है जिससे उत्पादन कम करना पड़ता है तथा श्रमिकों को चुनना पड़ता है जो फिर बेरोजगारी को बढ़ाती है। मौसमी (seasonal) बेरोजगारी उद्योग

प्रकृति के कारण पैदा होती है। उदाहरण के लिए चीनी व वर्फ के कारखाने वर्ष में केवल कुछ महीने ही उत्पादन का कार्य करते हैं तथा शेष समय बन्द रहते हैं। इनके बन्द होने से तथा उद्योग की प्रकृति के कारण ही मजदूरों को बेरोजगार रहना पड़ता है। भारत में मुख्य रूप से गाँवों में कृषि-सम्बन्धी बेकारी और शहरों में औद्योगिक और शिक्षितों की बेरोजगारी पायी जाती है। इन तीनों का हम अलग-अलग-विश्लेषण करेंगे।

गाँवों में कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी (Rural unemployment)—गाँवों में कृषि-बेरोजगारी कृषि की प्रकृति के कारण ही उत्पन्न होती है। खेतिहर को वर्ष में चार महीने खाली व बेरोजगार रहना पड़ता है। वैसे प्रत्येक कृषि-सम्बन्धित क्षेत्र में पूर्ण बेकारी व निष्क्रियता की अवधि फसल और कटाई आदि की प्रकृति और प्रकार पर निर्भर करती है। मोटे तौर पर एक औसत भारतीय कृषक 4 से 6 महीने तक बेरोजगार रहता है, केवल उन स्थानों के अतिरिक्त जहाँ वह तर (wet) फसल बोता है अथवा जहाँ वह एक वर्ष में एक ही भूमि से दो से अधिक फसल उत्पन्न करता है। वैसे अलग-अलग विचारकों के कृषि-सम्बन्धी बेरोजगारी की अवधि के प्रति अलग-अलग विचार हैं। पी० जे० थामस व सी० के० रामाकृष्णन का विचार है कि एक औसत भारतीय खेतिहर पाँच महीने तक बेरोजगार रहता है जिसमें से कम से कम तीन महीने तो वह अविरल रूप में बेकार रहता है।[10] बंगाल में भूमि-आयकर कमीशन का विचार है कि बंगाल में एक औसत कृषक 6 महीने तक बेरोजगार रहता है और उन क्षेत्रों में तो वह वर्ष में 3–4 महीने से अधिक कार्ययुक्त नहीं रहता, जहाँ धान के अलावा और कोई फसल पैदा नहीं की जाती।[11] कीटिंज के अनुसार बम्बई में किसान 180 से 190 दिन तक कार्य करता है।[12] कैलवर्ट के अनुसार पंजाब में एक किसान 150 दिन से अधिक कार्य नहीं करता।[13] डा० मुकर्जी के अनुसार उत्तर भारत में एक किसान 200 दिन से अधिक व्यस्त नहीं रहता है।[14] डा० स्लेटर के अनुसार दक्षिण भारत में कृषिकार केवल 5½ महीने व्यस्त रहते हैं।[15] जैक के अनुसार जूट पैदा करने वाले वर्ष में 9 महीने और चावल बोने वाले 7½ महीने बेरोजगार रहते हैं।[16] इस मौसमी बेरोजगारी के अतिरिक्त फिर बहुत से कृषकों के पास पर्याप्त व उपजाऊ भूमि नहीं होती जिस कारण अधिकांश किसान बेकार व अर्द्ध-बेकार रहते हैं। इसके अलावा कृषि में नये यान्त्रिक तरीकों के प्रयोग के कारण भी बहुत से कृषिकार बेकार हो गये हैं।

गाँवों में लगभग 45 लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष बढ रहे हैं। क्योंकि इन सभी के

---

[10] Thomas P. J., and Ram Krishnan C.K., *South Indian Village : A Survey.*
[11] *Report* of Bengal Land Revenue Commission, 91.
[12] Keatinge, *Rural Economy of Bombay Deccan.*
[13] Calvert, *Board of Economic Enquiry,* Punjab Publication, No. I and II.
[14] Mukerjee, R. K., *Rural Economy of India.*
[15] Slater, G. S., *Some South Indian Villages.*
[16] Jack, *Economic Life of a Bengal District,* 38-39.

लिए गाँव काम उपलब्ध नही कर पाते इस कारण इन लोगों को भी खेती पर ही निर्भर होना पड़ता है । परन्तु क्योंकि भूमि की मात्रा स्थिर रहती है इसलिए खेती इतने व्यक्तियों को काम नही दे सकती जिससे अधिकांश व्यक्ति बेरोजगार व अर्द्ध-बेरोजगार रहते हैं । गाँवों में कुल जनसंख्या में से केवल 29·4 प्रतिशत व्यक्ति आत्म-निर्भर (self-supporting) हैं, 59 प्रतिशत न कमाने वाले आश्रित (non-earning dependents) और 11·6 प्रतिशत कमाने वाले आश्रित (earning dependents) हैं। दूसरे शब्दों मे 29·4 प्रतिशत लोग न केवल अपने लिए परन्तु शेष 70 6 प्रतिशत के लिए भी धनोपार्जन का कार्य करते है । अब इनमे से जब काफी लोग बेरोजगार हो जायें तो उसका कितने लोगों पर प्रभाव पडेगा यह आसानी से सोचा जा सकता है ।

नगरीय बेरोजगारी (Urban unemployment)—शहरों मे पायी जाने वाली औद्योगिक और शैक्षणिक बेरोजगारी का हम अलग-अलग वर्णन करेंगे ।

(1) औद्योगिक बेरोजगारी—यह बेरोजगारी किसी उद्योग के ह्रास, विदेशी प्रतिस्पर्द्धा, अनियोजित औद्योगीकरण, उद्योग-धन्धों के अनियोजित भौगोलिक वितरण, दोषपूर्ण औद्योगिक नीतियों तथा पुरानी मशीनों के स्थान पर नयी मशीनों के प्रयोग अथवा अभिनवीकरण (rationalisation) से उत्पन्न होती है । प्रतिस्पर्द्धा के कारण एक उद्योग में बनी वस्तुओ की मांग बाजार मे कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप कारखानो से मजदूरों को निकालना आवश्यक हो जाता है जो बेरोजगारी को विकसित करता है । फिर यन्त्रीकरण के बढने से जैसे-जैसे मनुष्यों का स्थान यन्त्र लेते जाते हैं वैसे ही बेकारी बढती जाती है । इसके अतिरिक्त मिल-मालिकों के श्रम-शोषण की नीतियों व मजदूरो की अनुचित माँगों के कारण भी आये दिन हड़तालें व तालेबन्दी की घटनाएँ मिलती हैं, जिससे यान्त्रिक बेकारी को बढ़ावा मिलता है । परन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि क्योंकि औद्योगीकरण से छोटे उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, इस कारण इसे बढ़ावा ही न दिया जाये तथा इसकी गति ही मन्द कर दी जाये । यह सही है कि कुटीर व लघु उद्योग-धन्धों के विकास से अधिक लोगों को रोजगार प्रदान किया जा सकता है, परन्तु भारी उद्योगों की स्थापना भी न केवल बेरोजगारी दूर करने के लिए परन्तु देश के आर्थिक विकास के लिए भी आवश्यक है । हमे केवल क्षेत्रीय असन्तुलन को ही समाप्त करना है तथा दोषपूर्ण औद्योगिक नीतियों को बदलना है जिससे औद्योगिक विकास सन्तुलित रूप से हो सके व उत्पादन क्षमता बढ़ सके । यह परिवर्तन ही बेकारी को भी कम करेगा ।

(2) शिक्षितों की बेकारी—शिक्षित बेरोजगार व्यक्ति कौन है ? हमारे देश में जहां 70 प्रतिशत जनसंख्या अशिक्षित हो, हर वह व्यक्ति जो लिख पढ़ सकता है अपने को शिक्षित समझता है । परन्तु शिक्षितों में बेकारी की समस्या की दृष्टि से शिक्षित बेरोजगार केवल उन्हें ही माना जाता है जो कम से कम मैट्रिक पास हों । इस प्रकार शिक्षितो में बेरोजगारी मुख्यतः दो प्रकार की पायी जाती है—(1) इनमें वे व्यक्ति नहीं आते जिन्हें प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा भी प्राप्त है [illegible] बेरोजगार है । (2) इसमें वे स्नातक और [illegible] भी स्नातक हो [illegible]

आदि का कार्य करते हैं, क्योंकि इनको बेरोजगार नहीं परन्तु गलत स्थान पर काम करने वाला व्यक्ति कहा जा सकता है।

शिक्षितों में बेकारी की समस्या नयी आयी है। उदाहरण के लिए बंगाल में यह समस्या 1924 में ही उत्पन्न हो गयी थी और 1935 तक शनैः शनैः यह इतनी गम्भीर होती गयी कि सपरू कमेटी ने इसे पूरे देश में फैली हुई समस्या माना। पिछले तीस वर्षों मे इस समस्या ने एक उग्र रूप धारण किया है। इस युग मे क्योंकि उस व्यक्ति को प्रतिष्ठित व आदरणीय नहीं माना जाता जो ऊँची जाति का सदस्य है अथवा परिश्रमी और ईमानदार व निष्कपट है परन्तु उसे अधिक मान व सत्कार दिया जाता है जो ऊँची शिक्षा प्राप्त है, इस कारण बहुत से व्यक्ति ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह शिक्षा का फैलाव इस बात से स्पष्ट है कि शिक्षा के माध्यमिक और स्नातक स्तरों पर शैक्षणिक संस्थाओं मे भरती में बहुत ज्यादा वृद्धि मिलती है। 1965–66 में 1950–51 की तुलना में माध्यमिक, स्नातक और तकनीकी स्तरों पर विद्यार्थियों में वृद्धि की दर 328·9, 266·7 और 745·7 प्रतिशत मिलता है। इसी प्रकार तीन पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में इन्जीनियरी शिक्षा की सुविधाएँ डिग्री स्तर पर छ: गुना व डिप्लोमा स्तर पर आठ गुना बढ़ गयी है तथा चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा मे चार गुना और कृषि-सम्बन्धी शिक्षा में आठ गुना बढ़ी है।[17]

एक ओर शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ गयी है परन्तु दूसरी ओर उपलब्ध नौकरियाँ इतनी नहीं बढ़ी। फिर आज की शिक्षा नौकरी प्राप्ति मे भी सहायक नहीं है। इस पर प्रवरण और नियुक्तियों में इतना पक्षपात चलता है कि एक- ईमानदार शिक्षित व्यक्ति के लिए नौकरी ढूंढ़ना आसान नहीं है। अब शिक्षित व्यक्तियों में ऐसी मान्यताएँ अधिक प्रचलित है कि चयन समितियाँ (selection committees) के अधिकांश सदस्य भ्रष्ट व घूसखोर हैं, नियुक्तियों में जातीयता व प्रान्तीयता अधिक पायी जाती है तथा अच्छी नौकरियाँ केवल उनके लिए ही उपलब्ध है जिनके मिनिस्टरों, ऊँचे पदाधिकारियों तथा सत्तारूढ़ो व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त शिक्षित व्यक्तियों के लिए मार्केट मे एक प्रकार का नया 'समायोजन' पाया जाता है। उदाहरण के लिए, आज से तीस चालीस वर्ष पूर्व उस व्यक्ति को प्राथमिक स्तर के मास्टर के लिए पूर्ण योग्य माना जाता था जो माध्यमिक शिक्षा प्राप्त होता था परन्तु अब उसके लिए भी कम से कम योग्यता मैट्रिक है यद्यपि अधिमान्य दावा स्नातकों का ही होता है। इस प्रकार की स्थिति और योग्यता के समायोजन प्रक्रिया से शिक्षित व्यक्तियों के लिए समय-समय पर मार्केट का लक्षण बदलता रहता है जिससे शिक्षितों में बेरोजगारी की समस्या हर वर्ष उग्र रूप धारण कर रही है। जून 1968 में देश के विभिन्न रोजगार के दफ्तरों में 9·1 लाख व्यक्ति

[17] Ramamoorthy and Prakash Rao in a paper on 'Terminalisation Approach to pre-University Education in India' read at a Seminar organised ', National Council of Educational Research and Training, New Delhi, 7.

नौकरी प्राप्ति के लिए रजिस्टर थे जिनकी संख्या बढ़ कर 1972 में 33 लाख हो गयी तथा वृद्धि प्रतिशत 1972 तक 43 था। 1972 मे कुल बेरोजगार शिक्षितो में से 53·3 प्रतिशत मैट्रिक और 18 प्रतिशत स्नातक व स्नातकोत्तर थे।[18] यह भी कहा जाता है कि 1972–73 मे देश मे लगभग 7·4 प्रतिशत शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार थे।

1963 में आठ लाख शिक्षित बेकारो मे से एक लाख को, तथा 1972 में 33 लाख में से 1·5 लाख को नौकरियाँ उपलब्ध की जा सकी। शिक्षित व्यक्तियो मे बेरोजगारी किस प्रकार बढ़ रही है इसका एक ताजा उदाहरण देखने को मिला जब एक तेल के इन्जिन के निर्माण करने वाली कम्पनी के विज्ञप्ति मे 25 प्रबन्धक शिक्षार्थियों के स्थानों के लिए 11000 प्रार्थनापत्र मिले। पिछले दो-तीन वर्षो मे फिर इन्जीनियरों मे बेरोजगारी की एक नयी समस्या मिलती है जिससे बहुत से दीक्षात भाषणो में 'हमे नौकरी चाहिए भाषण नहीं' जैसे नारे सुनने मे आते हैं। शिक्षा कमीशन का तो यह विचार है कि यदि माध्यमिक और ऊँची शिक्षा के विस्तार का वर्तमान झुकाव रहा तो 1986 तक लगभग 60 लाख मैट्रिक पास युवक और 20 लाख स्नातक बेरोजगार रहेगे।

बेकारी के कारक

प्रश्न है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न ही क्यो होती है जिसमें व्यक्ति को काफी समय तक अनिच्छा से निष्क्रिय रहना पडता है तथा बेरोजगारी के कारण क्या हैं? कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे पूँजी के अभाव, अधिक उत्पादन तथा विनियोजन की कमी आदि के आधार पर समझाया है। क्लैसिकल सम्प्रदाय (classical school) के प्रतिपादक एडम स्मिथ ने बेकारी को 'मजदूरी कोप सिद्धान्त' (wage fund theory) के आधार पर समझाया है। इसके अनुसार श्रमिको को दी जाने वाली मजदूरी पहले ही से निश्चित होती है। उत्पादकों के पास पूँजी न होने के कारण वे कम मजदूरों को काम पर लगाते हैं जिससे पूँजी का अभाव बेकारी का प्रमुख कारण बन जाता है। नियो-क्लैसिकल सम्प्रदाय (Neo-classical school) के प्रतिपादको ने बेरोजगारी को 'अधिक उत्पादन' (over-production) का परिणाम माना है। अधिक उत्पादन के कारण वस्तुओं की कीमतें गिर जाती है, तथा श्रमिक कम किए जाते हैं जिससे बेकारी में वृद्धि होती है। कीन्स (Keynes) ने फिर बेकारी को बचत और विनियोग के सिद्धान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार व्यक्ति अधिक बचत करने हेतु उद्योग मे पूँजी कम लगाते हैं जिससे उत्पादन में कमी व कम व्यक्तियो को रोजगार के अवसर प्राप्त होते है। दूसरे शब्दो मे सम्पूर्ण आय का उद्योग व व्यापार मे विनियोजन न करने के कारण बेकारी अधिक बढ़ती है। कुछ अर्थशास्त्री फिर बेकारी को माँग और पूर्ति के बीच असन्तुलन (imbalance) के कारण बताते हैं।

[18] *Seminar*, Aug. 1969, 10 and *Hindustan Times*, 9 April, 1973.

उनके अनुसार कृषि, उद्योग व शैक्षणिक क्षेत्रों में माँग की कमी व सम्भरण की वृद्धि के कारण ही बेकारी बढती है। माँग की कमी के तीन कारक प्रमुख हैं: (क) पिछले सालों में आर्थिक विकास की गति बहुत मन्द रही हो। (ख) व्यापार मे मन्द गति के कारण नयी विनियोजित योजनाएँ स्थगित की गयी हो। (ग) औद्योगिक क्षेत्र से कृषि क्षेत्र मे परिवर्तन (shift) के कारण माँग मे कमी हो गयी हो।

लाइनेल एडी का विचार है कि बेरोजगारी का मुख्य कारण आर्थिक संरचना का विघटन तथा उद्योग मे स्थानान्तरण है।[19] इल्यट और मेरिल का भी कहना है कि अस्थिर रोजगार के प्रमुख कारक तकनीकी परिवर्तन और व्यापारिक परिस्थितियों की चक्रीय प्रकृति है।[20] परन्तु इन सब आर्थिक विचारों को इस कारण अधिक मान्यता प्रदान नही की जा सकती क्योंकि अब यह समझा जाने लगा है कि बेरोजगारी केवल आर्थिक परिस्थितियों का ही परिणाम नही अपितु सामाजिक तथा व्यक्तिगत कारको से प्रभावित होती है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से बेकारी को हम नौकरी की प्रतिष्ठा, भौगोलिक गतिहीनता, जनसख्या मे वृद्धि, कुटीर उद्योग-धन्धों के नाश होने तथा शिक्षा के दोषपूर्ण होने के आधार पर समझा सकते है।

(1) नौकरी की प्रतिष्ठा (Job-Status)—कुछ नौकरियों के प्रति ऊँची प्रतिष्ठा की झूठी धारणा भी बेकारी को बढाने मे योग देती है। उदाहरण के लिए आई० ए० एस० व पी० ए० एस० की नौकरियाँ हमारे युवको से बहुत अधिक सम्मानित व आदरित होती हैं। इसी प्रकार बहुत से व्यक्ति अब भी सरकारी नौकरी को सर्वोच्च पद मानते है। फिर वंश का सम्मान इतनी बडी चीज माना जाता है कि व्यक्ति कोई छोटा कार्य करने अथवा शारीरिक श्रम करने के स्थान पर बेरोजगार रहना अधिक पसन्द करते हैं। दो वर्ष पूर्व चार बड़े शहरों में कालेज के विद्यार्थियों के एक जनमत के सर्वेक्षण मे 52 प्रतिशत विद्यार्थियों ने कालेज प्राध्यापक अथवा सरकारी पदाधिकारी बनने की अभिलाषा बतायी।[21] ऊँची अभिलाषायें व आकांक्षायें अच्छी हैं परन्तु अभिलाषाओ से चिपके रहना, यहाँ तक कि उनको बदल कर कोई अन्य आजीविका का साधन ढूंढ़ने को अपनी बेइज्जती समझना, एक हास्यास्पद गुण ही है।

(2) भौगोलिक गतिहीनता (Geographical Immobility)—भौगोलिक गतिशीलता के अभाव के कारण भी एक स्थान व क्षेत्र में अतिरिक्त श्रम (surplus labour) मिलता है जबकि दूसरे क्षेत्र में वैसे ही श्रमिको की कमी रहती है। यह अन्य स्थानों मे श्रम मार्केट अवसरों के प्रति सूचना के अभाव के कारण तथा भाषा की बाधा के कारण होता है। भाषा के आधार पर राज्यो का पुनर्गठन भी इस गति-

---

[19] Edie, Lionel. D., *Economics: Principles and Problems*, Thomas Y. Crowell Co, New York, 1926, 422.

[20] Elliott, M. A. and Merrill, F. E. *Social Disorganisation*, Harper and Bros., New York, 1950 (3rd edition), 606

[21] Public Opinion Surveys, *Career Aspiration: The Conflict with Realities*, Vol XIV, No. 1, Oct. 1968, 14-15.

हीनता का एक कारक है। फिर भारतीय श्रमिक अपने गाँव व घर को भी छोड़ना नही चाहते। इन्ही सब कारकों की वजह से काम के कम अवसर व उद्योगों के अभाव मे एक स्थान पर अधिक बेकारी मिलती है, तो दूसरे में अधिक मजदूरी देने पर भी श्रमिक उपलब्ध नहीं होते।

(3) **जनसंख्या में वृद्धि** (Rapid Growth of Population)—हमारे देश में जनसंख्या इतनी तेजी से बढ रही है कि जितने भी विभिन्न योजनाओ द्वारा आर्थिक विकास के प्रयत्न किए जा रहे हैं सब विफल हो रहे हैं। जब 1961 मे मनीपुर, नागालैंड व सिक्किम की जनसख्या को मिलाकर भारत की कुल जनसख्या 43·8 करोड़ थी, 1973 में यह लगभग 55 करोड़ मानी गयी है। दूसरे शब्दों में जब 1901 से 1931 तक जनसंख्या लगभग 4 करोड़ बढ़ी, 1931 से 1961 तक यह 16 करोड बढी तथा 1961 से 1973 तक 11 करोड़। सम्पूर्ण विश्व मे जनसंख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का दूसरा स्थान है। इसी बढ़ती हुई जनसख्या के कारण पिछली चार पचवर्षीय योजनाओं में बेकारी का अवशेष (back-log) बराबर बढ़ता जा रहा है।

(4) **कुटीर व लघु उद्योग-धन्धों का नाश** (Breakdown of Cottage Industries)—पिछले 40–50 वर्षों में औद्योगीकरण के विकास से कुटीर व लघु उद्योग-धन्धो का नाश होता जा रहा है। इन उद्योगों में अधिकाश निम्न आर्थिक व सामाजिक समूहों के सदस्य कार्य कर रहे थे। पहले और दूसरे महायुद्धों के उपरान्त बहुत से मध्य वर्ग के व्यक्तियों ने भी इन उद्योगो को अपनाया था। परन्तु यन्त्रीकरण व ब्रिटिश[21] तथा भारतीय सरकार की दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों के कारण इन उद्योगों का ह्रास हुआ है जिनके फलस्वरूप इनमें लगे लाखों व्यक्ति बेरोजगार व अर्द्ध-बेरोजगार हो गए है।

(5) **शिक्षा प्रणाली का दोषपूर्ण होना** (Defective Educational System)—शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को अनुशासनशील बनाने व उसके चरित्र निर्माण के अतिरिक्त उसे एक प्रवीण कार्य करने के लिए संवारना भी है। परन्तु जैसाकि पहले बताया जा चुका है हमारी शिक्षा प्रणाली इतनी दोषपूर्ण व असन्तुलित है कि वह युवकों को नौकरी की प्राप्ति मे कोई सहायता नहीं करती। शिक्षा मे किसी स्तर पर न व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण पर बल दिया जाता है और न किसी विशिष्टीकरण पर जिसके कारण शिक्षा-समाप्ति के बहुत समय उपरान्त भी युवको को बेरोजगार रहना पड़ता है। आधुनिकीकरण व नए रोजगार के अवसरों के आवश्यकता की दृष्टि से वर्तमान पाठ्यक्रम में परिवर्तन आवश्यक है परन्तु हमारे पाठ्यक्रम अब भी पुराने तरीको पर निर्धारित है। उदाहरण के लिए शहरो में सचिव जैसे (secretarial) नौकरियों के उपलब्ध होते हुए भी माध्यमिक व स्नातक स्तरों

[21] Singh Mohinder, *'The Depressed Class : The Economic and Conditions*, Hind Kitabs, Bombay, 1947.

पर वाणिज्य सम्बन्धी ऐच्छिक विषयों पर कोई बल नहीं दिया जाता। आवश्यक विशिष्टीकरण अब भी पुराने स्थापित औपचारिक स्कूल व्यवस्था के बाहर दिया जाता है। इसी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली का बेकारी पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

बेरोजगारी के परिणाम

कुछ व्यक्तियों ने बेकारी के हानिकारक परिणाम स्वीकार करते हुए इसके लाभ भी बताए हैं। ये लाभ हैं—(क) बेरोजगारी से वे शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं जो समाज में निष्पक्षता, न्यायपरता, सत्यता व समानता के अनुकूल व पक्ष में सामाजिक परिवर्तन लाती हैं। (ख) इससे शिक्षा की पुरानी व्यवस्था व कृषि और औद्योगीकरण की पुरानी प्रक्रिया में आवश्यक परिवर्तन आते हैं। (ग) बेरोजगारी व्यक्ति के अदृश्यमान (hidden potentialities) को जगाती है जो उसे अपनी आकांक्षाओं की प्राप्ति में प्रेरणा देता है। परन्तु लाभ की तुलना में बेकारी के हानिकारक परिणाम व्यक्तित्व के विकास तथा सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से अधिक गम्भीर होते हैं। मुख्य रूप से यह विरोधी परिणाम चार प्रकार के बताए जा सकते हैं: आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा राजनीतिक।

आर्थिक परिणाम—बेरोजगारी के प्रतिकूल आर्थिक परिणाम इस प्रकार हैं—

(क) आय में हानि—बेरोजगारी के कारण फैक्ट्री के मुनाफे, श्रमिक वेतन व देश के राष्ट्रीय आय में घाटा होता है। मजदूरों के हड़ताल तथा कारखानों के मालिकों द्वारा तालाबन्दी से उत्पादन की कमी के कारण जो आर्थिक हानि होती है, उसे अधिक घण्टे कार्य करके पूरा किया जा सकता है परन्तु जो श्रमिकों के बेकारी के कारण आर्थिक घाटा होता है वह किसी भी समय में पूरा नहीं किया जा सकता।

(ख) निम्न जीवन स्तर—बेकार व्यक्ति का यद्यपि राष्ट्रीय आय में योगदान शून्य रहता है परन्तु वह अपने निर्वाह के लिए उत्पादन का कुछ अंश अवश्य उपभोग करता है। शिक्षित बेकार व्यक्ति का अशिक्षित बेकार व्यक्ति की अपेक्षा इंगित जीविका का स्तर ऊँचा रहता है जिससे वह उत्पादन का उपभोग भी अधिक करता है। इस कारण जितने अधिक अशिक्षित व शिक्षित लोग बेकार होंगे उतना ही उत्पादन का मार्गान्तरण (diversion) उत्पादन करने वाले व्यक्तियों से उपभोग करने वाले व्यक्तियों तक अधिक होगा। इसका प्रभाव न केवल वस्तुएँ उपभोग करने वाले परन्तु उससे अधिक उत्पादन करने वाले लोगों के जीवन स्तर पर होता है।

(ग) उत्पादन में बाधा—रोजगार के बढ़ते हुए अवसर उत्पादन व उत्पत्ति को प्रेरणा देते हैं परन्तु बढ़ती हुई बेकारी इसमें बाधाएँ उत्पन्न करती है। कम उत्पादन का फिर देश की प्रगति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

(घ) व्यय हानि—बेकारी के कारण आर्थिक क्षति तब अधिक बढ़ जाती है जब बेकार व्यक्ति शिक्षित व्यक्ति होते हैं। व्यक्ति को आवश्यक प्रशिक्षण व शिक्षा देने पर कुछ व्यय होता है; परन्तु जब व्यक्ति शिक्षा प्राप्ति के बाद भी बेकार रहता

है तो उस पर किया गया यह व्यय बेकार हो जाता है। 1961–62 में विश्वविद्यालय और व्यावसायिक स्तर पर एक विद्यार्थी को शिक्षा देने का व्यय एक माध्यमिक स्तर पर शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी की तुलना में दस गुना अधिक था।[22] बेरोजगार रहने के कारण यह सब व्यय बेकार हो जाने पर देश को आर्थिक हानि ही होती है।

मनोवैज्ञानिक परिणाम—बेकारी के कारण व्यक्ति मे निराशा, हीन-भावना व आत्म-विश्वास की कमी उत्पन्न होती है तथा मानसिक संघर्ष के कारण कभी-कभी बेकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विघटन की समस्या भी उत्पन्न होती है। बचपन मे व्यक्ति को उसके विद्या-सम्बन्धी खेल-कूद आदि योग्यताओं व गुणों के कारण पुरस्कार दिया जाता है परन्तु आगे चलकर उसे ज्ञात होता है कि पुरस्कार परिश्रम व व्यक्तिगत योग्यता से सम्बन्धित नही है अपितु परिवार की सामाजिक स्थिति, जाति और राजनीतिक सिफारिश पर निर्धारित है। इन सब सहायता करने वालों के अभाव के कारण जब व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति व सामाजिक आकांक्षाओं का दमन करना पडता है तो उसमें आक्रमण व संघर्ष (combativeness) के लक्षण विकसित हो जाते हैं जो उसके व्यक्तित्व को ही बदल देते है। ऐसा व्यक्ति बेरोजगारी को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के अवसर से वंचित किए जाने का कारण समझता है। बहुत समय तक बेरोजगार रहने से उसकी युयुत्सा, निराशा व असुरक्षा एक छोटे बारूद के गोले के रूप में विकसित होती है जो थोड़ी चिंगारी मिलने पर कभी भी फट सकता है। लेस्कोहीर का भी कहना है कि बेरोजगारी व्यक्ति के स्वास्थ्य के स्तर को गिराती है, उसके मानसिक संघर्षों मे वृद्धि उत्पन्न करती है, लालसा व अभिलाषा को कमजोर बनाती है, लगातार चेष्टा व प्रयास करने की शक्ति का नाश करती है, साहस, धृष्टता, आत्म-सम्मान व उत्तरदायित्व की भावना को जड़ से उखाड़ती है, तथा अपनी असफलता का दोष दूसरो पर डालने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है।[23]

(1) व्यक्तित्व का विघटन—उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि बेकारी से जो व्यक्तित्व के विघटन की समस्या उत्पन्न होती है वह एक गम्भीर समस्या है। विघटित व्यक्तित्व से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें आन्तरिक एकीकरण तथा धारणाओं और व्यावहारिक प्रतिमानों में समन्वय के अभाव के कारण व्यक्ति समाज में वास्तविक क्षमता से कार्य नही कर सकता। कार्य साधन रीति से कार्य न कर सकने के कारण उसका व्यवहार सामाजिक नियमों के अनुरूप नही होता। इलियट और मेरिल ने वैयक्तिक विघटन के दृष्टिकोण से बेरोजगार व्यक्तियों को चार समूहों मे बांटा है[24]—

---

[22] [illegible]
No. 8/. [illegible]
tional [illegible]
Manpower Crisis in Seminar, Aug 1969, 14

[23] Don. D. Lescheir, *The Labour Market*, 1919, 107.

[24] Elliott and Merrill, *op. cit.*, 613–14.

(क) वे युवक जिनको कभी रोजगार मिला ही नहीं है—इन युवकों के शिक्षित होते हुए व उनमे कार्य करने की योग्यता पाये जाने पर भी जब उनको नौकरी नही मिलती तो वे निराश हो जाते हैं तथा उनमें हृदयहीनता व कुण्ठित बुद्धि पैदा हो जाती है। अपने निर्माण करने की शक्ति को मार्ग न मिलने के कारण वे खिन्नचित्त (depressed) रहते हैं। फिर ऐसे अनुशासित व अडियल व्यक्ति कभी-कभी राहजनी, चोरी, डकैती आदि जैसे अपराध करते हैं क्योंकि इनको विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में केवल यह ही आजीविका कमाने का असामाजिक साधन दिखाई देता है। धनोपार्जन मे इन असामाजिक तरीकों को प्रयोग करने वालों में से कुछ व्यक्ति तो वे होते है जिन्होंने बचपन में कोई अपराध किया हुआ होता है और कुछ विद्रोही युवक फिर यह सोच करके ऐसी असामाजिक विधियों को अपनाते है कि उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण ही उनके रोजगार मिलने में बाधा है क्योंकि यदि उनको ऊँची शिक्षा न मिली होती तो सम्भवतः उन्हे किसी छोटे कार्य को अपनाने मे आसानी होती तथा वे बेरोजगार न होते। जिनको फिर शिक्षा और प्रशिक्षण नही मिला हुआ होता वे सोचते हैं कि इन्ही के अभाव के कारण उन्हें रोजगार नही मिल पाता। वे अपने परिवार व समाज को अपने अशिक्षित रहने का उत्तरदायी मान कर व उनके प्रति प्रतिशोध की भावना भर कर आजीविका के असामाजिक तरीके अपनाते है।

(ख) वे आजीविका कमाने वाले जो अपनी नौकरियाँ खो चुके हैं—जो व्यक्ति कुछ समय नौकरी करने के उपरान्त बेरोजगार हो जाते हैं उनकी दुर्दशा भी दुर्भाग्यपूर्ण है। जब वे वेतन कमा रहे थे उन्होने रहने का एक स्तर स्थापित कर लिया था। अब जब बेरोजगारी के कारण वे अपने को उस स्तर का बनाए रखने में असमर्थ पाते है तथा उन्हें दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है तो उसका उनके स्वास्थ्य पर तथा तिरस्कार व दर्पदमन के कारण दिमाग पर प्रभाव पडता है। कभी-कभी तो यह व्यक्ति भी बच्चों के पालन-पोषण की समस्या का सामना न कर सकने के कारण अवैध व्यवसाय अपनाते हैं।

(ग) बुढ़ापे के कारण बेरोजगार—भारत मे अधिक आयु वाले व्यक्तियों के लिए सुरक्षा की योजनाएँ केवल कारखानों मे तथा सरकारी व अर्द्ध-सरकारी दफ्तरो में काम करने वालों व कुछ बडे अलोक-व्यापार संस्थाओ मे श्रमिको के लिए मिलती हैं। जब सुरक्षा के अभाव मे अधिक आयु वाले व्यक्ति कोई कार्य करना चाहते हैं और उन्हे आयु के प्रतिबन्धो तथा शारीरिक शक्ति के ह्रास और स्वास्थ्य के गिर जाने के कारण कोई कार्य मिल नही पाता तो उनमें एक पराजय की भावना पैदा हो जाती है। भावात्मक अपसमायोजन के कारण इनमे से कुछ आत्महत्या भी करते हैं। सम्भवतः ऊँचे आयु-समूहों में आत्महत्या की अधिक मात्रा मिलने का एक यह भी कारण हो सकता है।

(घ) अर्द्ध-बेरोजगार—योग्यता होते हुए भी जब व्यक्ति को प्रचलित वेतन नही मिल पाता तो यह सोच कर कि उसके श्रम का उपयोग पूरा नही हो पा रहा है उसका नैतिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। अपर्याप्त आय के कारण व्यक्ति अपनी

आकांक्षाओं को प्राप्त नहीं कर पाता, ऊँचा जीवन स्तर रख नहीं सकता, बच्चों को इच्छा के अनुसार शिक्षा नहीं दे पाता जिससे ऐसी स्थिति में वह अपने को विवश पाता है व मानसिक सन्ताप का सामना करता है।

(2) **बेरोजगारी व पराधीनता**—बेरोजगार व्यक्तियों की अपने माता-पिता के ऊपर निर्भरता और किसी आयु के बाद माता-पिता द्वारा सन्तान का भार सहन करने की अनिच्छा (reluctance) बच्चों के लिए व्यक्तित्व सम्बन्धी व्याकुलता (disorders) उत्पन्न करती है। सम्बन्धियों, मित्रों आदि पर पराधीनता और उनकी विमुखता व अनिच्छा बेरोजगार व्यक्ति के लिए न केवल आर्थिक परन्तु सामाजिक समस्याएँ भी पैदा करती है। पाश्चात्य समाज मे तो ऐसे आश्रितो को सहायता देने का कार्य सरकार ने अपने हाथ में लिया है परन्तु भारत मे कोई विशेष सामाजिक सहायता की योजनाएँ नही पायी जाती। माता-पिता भी अब बच्चों को शिक्षा देना ही अपना कर्त्तव्य समझते है। शिक्षा के उपरान्त वे यह आशा करते है कि बच्चा शीघ्र कोई आजीविका का साधन ढूंढ़ कर उनको उसके उत्तरदायित्व से मुक्ति दिलाएगा। परन्तु जब बहुत समय तक बच्चा बेरोजगार रहता है और माता-पिता को सहायता देने के बजाय उनसे सहायता माँगता रहता है तब माता-पिता निराश हो जाते हैं, यहां तक कि वे बच्चे को छोटी-छोटी बात पर झिड़कते रहते हैं। यह झिड़कना और दोष निकालना बच्चे के लिए फिर मानसिक व सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करता है। पराधीनता की समस्या न केवल आश्रित युवको के लिए परन्तु उन आश्रित बेरोजगार वृद्ध व्यक्तियो के लिए भी होती है जो अधिक आयु के होते हुए भी कार्य तो करना चाहते हैं पर उन्हें कार्य मिल नही पाता। ऐसे वृद्ध व्यक्तियो में पराजय जैसी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती है। गिलिन ने भी कहा है कि पराधीनता व निर्भरता से पराजय की भावना उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति को अनिच्छुक व विमुख सम्बन्धियों के साथ रहना पड़ता है तो उनको आत्म-ग्लानि होती है तथा उन्हे भार का विचार खलने लगता है। प्रतिष्ठा की हानि, सुरक्षा की इच्छा तथा पुराने सम्बन्धों से पृथकत्व यदि उनको विघटित नही करता पर उनमें संवेगात्मक अपसमायोजन अवश्य उत्पन्न करता है।[25] राब ने भी कहा है कि वृद्ध व्यक्तियों की नौकरी प्राप्त करने की असमर्थता उनके लिए पराधीनता की स्थिति व विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न करती है।[26]

---

[25] John. L. Gillin, *Social Pathology*, 1932, 348–50.

[26] 'The inability of the older people to secure employment creates a typical condition of dependency and other than economic problem for them. For them, the role of bread-winner had been their *most meaningful role* in society, providing not only their chief claim to social status but also the activity that occupied most of their time and energies. Now having become 'unemployed', they tend to feel useless, unimportant, discarded, isolated and lonely. As this feeling is deepened, it results in loss of self-esteem and demoralisation.' Raab, Earl and Selznick, G. J., *Major Social Problems*, Row Peterson and Co., New York, 1959, 504–05.

जब समाज में बहुत से व्यक्ति बेरोजगारी के कारण अपनी आकांक्षाओं को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधनों से प्राप्त नहीं कर पाते तो इससे समाज में ऐनामा (anomie) की स्थिति उत्पन्न होती है। मर्टन तथा क्लोवार्ड और ओहलिन ने इसी ऐनामी और 'अपराध और अवसरवादिता' को लेकर विचलित व्यवहार को समझाया है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि पराधीनता के कारण बेरोजगार व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से तीन प्रकार की समस्याएँ पायी जाती है—(क) पराधीनता व्यक्ति को हिंसक और विनाशकारी बनाती है। (ख) यह अपराध, मदिरापान आदि जैसी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। (ग) यह निराशा व निरुत्साह पैदा करती है।

(3) **बेकारी और पृथक्भाव**—ऊपर हम देख चुके है कि किस प्रकार बेरोजगारी के कारण व्यक्तियों में निराशा, हृदयहीनता, अनुशासनहीनता, अड़ियलपन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा वे आर्थिक, मनोवैज्ञानिक व सामाजिक समस्याओं का सामना करते है। इससे व्यक्ति अपने को परित्यक्त (isolated) तथा जाने पहचाने व्यक्तियों में स्वयं को अपरिचित व अजनबी अनुभव करता है। उसे न केवल अपने से पृथक् होने परन्तु अपने मित्रो, सम्बन्धियों और यहाँ तक कि अपने जीवन से भी विलगाव (alienation) का आभास होता है।

(क) **स्वयं से पृथकता**—बेरोजगार व्यक्ति एक भावनात्मक कठिनाई में होता है और इस संवेगात्मक संकट वाले व्यक्ति अपने को विच्छिन्न (estranged) समझते हैं। वे स्वयं के महत्त्व तथा योग्यता को पहचान नही पाते जिस कारण अपनी बात को कही निष्ठापूर्वक नहीं कह सकते। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे अन्य लोगों पर आश्रित रहते हैं जिससे उनमें आत्मविश्वास व आत्मनिर्भरता की भावना भी समाप्त होने लगती है। इसकी समाप्ति से फिर उनका आत्मसम्मान शनैः शनैः खत्म होने लगता है। वे अपना अधिक समय दूसरों को प्रसन्न करने मे व्यय करते हैं जिससे स्वयं के ध्येय और आदर्शों, उद्देश्यों और लक्ष्यों को भूल जाते है। इसी के कारण वे परित्यक्त (isolated) भी अनुभव करते हैं। नौकरी ढूंढने की आशा से वे अन्य लोगों को प्रसन्न करने के लिए अपने प्रयास दुगुने करते हैं और फिर भी जब उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो उनमे और अधिक नैराश्य पैदा होता है और अपने को और अधिक निर्जन आभास करते हैं जिससे फिर उनके लिए अपसमायोजित व्यक्तित्व की समस्या उत्पन्न होती है।

(ख) **मित्रों से पृथकता**—बेरोजगार व्यक्ति न केवल अपने से पृथक् होते हैं परन्तु अपने मित्रों आदि से भी एकलित हो जाते हैं जिस कारण वे समान लोगों के समूहों (peer group) में भाग लेकर व समुदाय में योगदान मे प्राप्त अनुभव के लाभ से वंचित रहते है जो फिर उनके व्यक्तित्व पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। हमारे वर्तमान समाज का एक प्रमुख लक्षण यह है कि सामाजिक सम्बन्धों को स्वयं साध्य मानकर नहीं अपितु उनको साध्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में विकसित किया जाता है। इसलिए लोग बेरोजगार व्यक्तियों से सामाजिक सम्पर्क रखने के बहुत

उत्सुक नही होते क्योंकि वे उनकी किसी भी आवश्यकता को विशेषकर उनकी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने मे सहायता नही दे सकते। बेरोजगार व्यक्ति फिर किनारा किये जाने व विलगाव (alienation) के कारण समान लोगों के समूहो व नातेदारों आदि मे कोई रचनात्मक व लाभदायक कार्य नही कर पाते जिससे उनमें हीनता की भावना पैदा होती है।

(4) **बेरोजगार और सामाजिक विघटन**—बेकारी के कारण समाज के विघटन का भी डर रहता है। सामाजिक विघटन से हमारा अभिप्राय है समाज की वह स्थिति जिसमें (क) सामाजिक नियन्त्रण के सामान्य साधन नष्ट हो गये हो, (ख) विभिन्न संस्थाओं में पर्याप्त समन्वय न हो, और (ग) लोगो के विचारों मे मतैक्य का अभाव हो। इस स्थिति के कारण आत्महत्या, अनैतिकता, अपराध आदि को प्रोत्साहन मिलता है। दास[27] का भी कहना है कि बेरोजगारी से आचार-भ्रष्टता व नैतिक-पतन उत्पन्न होता है जिससे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होने से उसका योग प्रभाव (cumulative effect) बढ़ता जाता है क्योंकि समाज मे पायी जाने वाली इस स्थिति के प्रति जिसके लिए व्यक्ति स्वय उत्तरदायी नही होते, एक व्यक्तिगत क्षति व अपकार की भावना रहती है। यह भावना सुव्यवस्थित प्रगति की जड़ को ही प्रभावित करती है।

बेरोजगारी और पारिवारिक विघटन—बेरोजगार व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समाज पर प्रभाव के अतिरिक्त उसके परिवार पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है। रोजगार के अभाव में परिवार कुछ समय के लिए अपनी बचत पर आश्रित रहता है और जब वह भी समाप्त हो जाती है तो उसे कर्जा लेना पडता है, गहने और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ बेचनी पड़ती है तथा कभी-कभी मकान का किराया आदि न देने के कारण मकान खाली करने की धमकियाँ भी सहन करनी पड़ती हैं। उपवास के कारण फिर पत्नी व बच्चों को काम ढूंढ़ने का प्रयत्न करना पडता है। पत्नी को शिक्षा व प्रशिक्षण के अभाव मे केवल बर्तन माजने जैसे ही छोटे-मोटे कार्य मिल सकते हैं जो परिवार की आवश्यक आय के लिए अपर्याप्त ही होते हैं। यदि पत्नी शिक्षित है और उसे नौकरी मिल जाती है तो उसे फिर घर के अन्दर और बाहर विविध कार्य करने पड़ते हैं जो कभी-कभी उसे चिड़चिड़ा व धैर्यहीन बनाते हैं तथा समायोजन में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार जब बच्चे छोटी आयु मे ही कार्य करना आरम्भ करते हैं तो औपचारिक शिक्षा का न मिलना उनके व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करता है। इस प्रकार बेरोजगारी से परिवार के संगठन पर भी विरोधी प्रभाव पड़ता है। इलियट और मेरिल[28] ने भी कहा है कि बेरोजगारी मे परिवार को मानसिक

---

tive ir[illegible]
the or[illegible]
strong[illegible]
selves are not responsible.'—Das, N. G.

[28] 'The physical deprivations, mental anguish and moral cost [illegible] gratuitously upon families is a concomitant phase of unemploy[illegible]

व्यथा, नैतिक पतन और तनाव आदि का सामना करना पड़ता है। पत्नी के लिए नये कर्तव्य, पिता के लिए सामान्य कार्यों का अभाव तथा बच्चों का छोटी आयु में ही कारखानों में कार्य करना परिवार के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। परन्तु बेकारी के कारण परिवारों का विघटन उनके अभियोजनशीलता (adaptability) की शक्ति पर ही निर्भर करता है।

राजनीतिक परिणाम—बेरोजगारी के परिणाम राजनीतिक क्षेत्र में भी भयंकर सिद्ध हो रहे हैं। यदि हम केरल और बंगाल के उदाहरण लेकर बेरोजगारी की बढ़ती हुई मात्रा और राज्यों में साम्यवाद के सिद्धान्त को मानने वाली वामपंथीय (leftoriented) सरकारें बनने में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करें तो गलत नहीं होगा। हमारी यह उपकल्पना और भी मजबूत हो सकती है यदि हम उड़ीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश में बेरोजगारा से सम्बन्धित विश्वास-योग्य आँकड़े प्राप्त करने का प्रयास करें। इन तीनों राज्यों में बेरोजगारी की मात्रा अधिक मिलती है। परन्तु तमिलनाडु और पंजाब में यह उपकल्पना सिद्ध नहीं होती। इन राज्यों में बेरोजगारी के निम्न प्रतिशत होते हुए भी प्रादेशिक दलों ने राजनीतिक शक्ति को प्राप्त किया है। फिर भी बेरोजगारी और साम्यवादी विचारों वाली सरकारों के बनने का सम्बन्ध स्पष्ट ही है। लोगों द्वारा शासित दल के लिए समर्थन इस कारण कम होता गया क्योंकि उनमें यह धारणा बढ़ती गयी कि हमारी अर्थव्यवस्था की असफलता कृषि-क्षेत्र में आकस्मिक कमी के कारण नहीं अपितु कांग्रेस के आर्थिक योजना बनाने की अक्षमता के कारण हुई है। अर्थव्यवस्था की असफलता से कार्य करने वाले व्यक्ति तो प्रतिकूल रूप से प्रभावित होते ही हैं परन्तु बेरोजगार व्यक्ति अधिक प्रभावित होते हैं। साथ में बेरोजगार व्यक्ति कांग्रेस में जातीयता व प्रान्तीयता की धारणाएँ भी अधिक पाते हैं जिससे उनका दल के समाजवादी प्रोग्राम में विश्वास समाप्त होता जा रहा है। अकेला पराजय व निराशा अनुभव करने वाला बेरोजगार व्यक्ति वोट देने वाले तीन प्रकार के व्यक्तियों को प्रभावित करता है—(क) अपने परिवार व निकट मित्रों को, (ख) पड़ोस और घर के आस-पास के समूहों को, तथा (ग) गाँवों से बाहर रहने वाले रक्त-सम्बन्धियों को। इस प्रकार परिवार, जाति और गाँवों में बेरोजगार व्यक्तियों की बढ़ती हुई संख्या सन्देहवाद (scepticism) की धारणा को उभारती है व उनको विद्रोह के लिए भड़काती है तथा राजनीतिक दलों और वोट देने वाले व्यक्तियों के बीच दरार को बढ़ाती है। (1967 के चुनावों तथा बाद के उप-चुनावों में युवकों में ऐसा सन्देहवादी विरोध बहुत से राज्यों में देखने को मिला था)। व्यक्तियों के यह नारे कि 'हमें दल नहीं चाहिए, राजनीतिज्ञ नहीं चाहिए, हमें नौकरी

stresses and strains of worry, the new obligations for wife and mother, the restlessness and lack of usual activity on the part of the father, the early induction of children into industry may all react unfavourably on the family as a whole. However, families that disintegrate when confronted by the exigencies of unemployment vary inversely with their integration and adaptability.'—Elliott and Merrill, *Social Disorganisation, op cit.*, 165.

चाहिए, खाना चाहिए' बढ़ते जाते है। चुनावों में विदेशी नीतियाँ, रक्षा, समाजवाद आदि बातचीत व वाद-विवाद के विषय न होकर नौकरियों की कमी, मुद्रा-वृद्धिकरण (inflation), खाद्य समस्या आदि विषय मुख्य रहते है। इस तरह बेरोजगारों, विशेषकर शिक्षित बेरोजगारों, की निराशाओं की प्रतिछाया राजनीति मे दिखायी देती हैं। उनका क्रोध व सन्देहवाद उनसे होते हुए शनैः शनैः अर्द्ध-शिक्षित और अन्त में अशिक्षित बेरोजगारों तक फैलता है। इस फैले हुए क्रोध का राजनीतिक ढाँचे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। कुछ शिक्षित बेरोजगार फिर दल के कार्यकर्त्ता बनकर उसको आजीविका का साधन बनाते हैं। राजनातिक दलों के यह सीमान्त (mirginal) कार्यकर्त्ता दल के विश्वासो व विचारधाराओं के प्रचार करने व उसके लक्ष्यों की प्राप्ति में नहीं अपितु अपनी नौकरी के लिए अधिक चिन्तित रहते है। जब दल मे ऐसे व्यावसायिक कार्यकर्ताओ की सख्या बढ़ जाती है तो उसके विघटन की सम्भावना भी अधिक रहती है। यह ही मिथ्या राजनीतिज्ञ छात्रों में असन्तोष बढ़ाते है, श्रमिक संघो में विद्रोह की भावनाएँ उत्पन्न करते है तथा निम्न और मध्य वर्गों के लोगो मे अशान्ति फैलाते हैं।

बेकारी के कारण जन-सामान्य का असन्तोष इतना बढ़ जाता है कि इससे गम्भीर आन्दोलन और कभी-कभी सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। बेरोजगार व्यक्ति वर्तमान राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था के बदलने के प्रयास करते है क्योंकि इस परिवर्तन में उन्हे स्वयं कोई हानि नही होती। किसी सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए दो बातो की आवश्यकता होती हैं—(क) छिन्न-भिन्न करने वाले कारको के प्रभाव को वर्तमान व्यवस्था द्वारा प्रतिरोध करने की दृढ शक्ति (जैसे अमरीका मे पूँजीवादी व्यवस्था इस कारण स्थिर है क्योंकि उसने निहित स्वार्थ (vested interests) उत्पन्न किये हुए हैं। (ख) यदि वर्तमान व्यवस्था को दूर करके कोई विकल्प व्यवस्था स्थापित नही की जा सकती तो लोगो को उसी व्यवस्था को सहन करने की शक्ति। परन्तु सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता की यह दोनों अवस्थाएँ तब कमजोर हो जाती हैं जब समाज मे बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हो जाते है। ये बेरोजगार व्यक्ति ही वर्तमान ढाँचे को बदलने का प्रयत्न करते रहते है। इस पूरे विश्लेषण से ज्ञात होता है कि बेरोजगारी के राजनीतिक परिणाम कितने भयानक होते हैं।

बेकारी निवारण के प्रयत्न

बेकारी व अर्द्ध-बेकारी को समाप्त करने के लिए सरकार ने कुछ निम्न प्रयत्न किये हैं—

(1) आर्थिक विकास के लिए योजनाएँ बनाकर लाखों व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्रदान किये गये है। पहली पंचवर्षीय योजना मे 2378 करोड़ रुपया लगाकर लगभग 50 लाख व्यक्तियो को रोजगार के अवसर प्रदान किये गये थे। द्वितीय योजना के आरम्भ मे बेरोजगारी इतनी विकृत थी कि सरकार को 153 लाख

व्यक्तियों को रोजगार देने के साधन जुटाने थे परन्तु इनमें से केवल 80 लाख को ही (15 लाख ग्रामीण क्षेत्रों में, 65 लाख शहरी क्षेत्रों में) रोजगार दिया जा सका। योजना कमीशन का विचार था कि सभी बेरोजगारों को नौकरी के अवसर प्रदान करने की असमर्थता (बेकारी) समस्या के बहुत अधिक मात्रा के कारण थी। सभी बेरोजगारों को कार्य दिलाने का लक्ष्य शनैः शनैः वन, कृषि, मत्स्य-पालन और उद्योग आदि के *विकास द्वारा ही सम्भव हो सकता है।*[29] *तृतीय योजना के आरम्भ* होने के समय 90 लाख व्यक्ति बेरोजगारी और 150 लाख अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति में थे। इसके अतिरिक्त 170 लाख नये व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी थी। इस योजनाकाल में सरकार ने 260 लाख में से 130 लाख बेरोजगारों को रोजगार प्रदान करने की व्यवस्था की। चतुर्थ योजना में भी सरकार ने 3·6 करोड़ (1·3 करोड़ अवशेष और 2·3 करोड़ नये व्यक्ति) बेरोजगारों में से 1·9 करोड़ व्यक्तियों के रोजगार की व्यवस्था करना अपना लक्ष्य माना था।

(2) जनसख्या की तीव्र वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम पर बल दिया गया है जिससे आयोजन के लक्ष्य प्राप्त किये जायें।

(3) *बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा कुटीर उद्योग व छोटी मात्रा के उद्योग* आदि को अपने व्यापार के विकास के लिए ऋण आदि वित्तीय सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। इससे मौसमी बेकारी व कृषि-सम्बन्धी बेकारी कम होने की सम्भावना है।

(4) *सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा कृषि विकास सम्बन्धी आधुनिकतम* सुविधाएँ प्रदान की गयी है। कृषि व हरित क्रान्ति लाने के लिए अथवा कृषि मजदूरों की बेकारी को दूर करने के लिए अनेक भूसेचन-सम्बन्धी, सहकारी सम्बन्धी अथवा यान्त्रिक खेती में वृद्धि-सम्बन्धी योजनाएँ बनाया गयी है। परन्तु इन समस्त प्रयत्नों के बाद भी बेरोजगारी को कम नहीं किया जा सका है और न बेरोजगारों के लिए कोई सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी योजना प्रारम्भ की जा सकी है।

(5) भूदान आन्दोलन में मिली भूमि को भूमिहीन कृषकों में वितरित करके व सामाजिक सुरक्षा की कुछ योजनाओं को बनाकर सरकार ने बेकारी के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया है।

बेरोजगारी और सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ बेकारी को समाप्त करने के लिए नहीं अपितु बेरोजगार व्यक्तियों के कष्ट व क्लेश को कम कर उनके भावात्मक अस्थिरता

---

[29] 'Considering the magnitude of existing unemployment and additions to labour force, it would be incorrect to hold out the hope that full employment would be secured by the end of the second plan. The goal has to be achieved by a series of planned efforts (like development of agriculture, development of fisheries and forests, development of industries, building construction activities and development of tertiary sector, lasting over a period beyon the second plan'—Planning Commission, *Second Five Year Plan*, 112.

व व्यक्तित्व के विघटन को नियन्त्रित करने के लिए है। इन सुरक्षा की योजनाओं द्वारा समाज व्यक्ति की आपत्तियों व कष्टों को स्वय ग्रहण करता है। भारत मे अभी तक बेरोजगारी-सम्बन्धी सुरक्षा सरकार द्वारा उपलब्ध नही की गयी है यद्यपि 1969 में लोकसभा मे उससे सम्बन्धित एक विधेयक रखा गया था। अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, स्वीडन, तथा आस्ट्रेलिया मे सामाजिक सहायता की योजनाएँ आरम्भ की गयी हैं जहाँ बेरोजगार व्यक्तियों को सरकार से सहायता पाने के लिए कुछ निम्न प्रकार की आवश्यक शर्तें पूरी करनी पडती है: (अ) व्यक्ति कार्य करने के योग्य हो, (आ) वह किसी भी प्रकार का कार्य दिये जाने पर उसे लेने के लिए तैयार हो, (इ) रोजगार के दफ्तर में पंजीयन (registered) हो, तथा (ई) वह प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए तैयार हो आदि। भारत मे सामाजिक सहायता की योजना बहुत अधिक बेरोजगारी व निर्धनता के कारण आरम्भ करना वांछनीय नही है और न सम्भव ही है। यदि एक बेरोजगार व्यक्ति को प्रतिमाह 20 रुपये भी दिये जायें (जो आज के युग में केवल खाने, कपडे जैसी आवश्यकताओं के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं) तब तीन करोड़ लोगो को प्रतिमाह 60 करोड व प्रतिवर्ष 720 करोड़ देना पड़ेगा। भारत जैसे निर्धन देश के लिए इतना बड़ा मूल्य समाज के केवल एक समस्या-ग्रस्त समूह के लिए व्यय करना सम्भव नही है। इस कारण यहाँ सामाजिक बीमे की योजना ही अधिक उपयोगी होगी जिसमे श्रमिक, मालिक और राज्य के त्रिपक्षीय चन्दे में बीमान्वित (insured) व्यक्तियों को हित-लाभ दिया जाता है। ऐसी योजनाएँ इंग्लैण्ड (1935), कनाडा (1940), न्यूजीलैण्ड (1935), इटली (1939), नार्वे (1939), दक्षिण अफ्रीका (1937) और अमरीका (1937) आदि राष्ट्रों में पायी जाती है। इस योजना के मनोवैज्ञानिक व सामाजिक लाभ को देखते हुए भारत में इसे शीघ्रतापूर्वक आरम्भ करना आवश्यक है। परन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके हैं भारत में वह बेकारी नही है जो थोड़े समय के लिए है और जिसे प्रबन्ध करने योग्य सीमा (manageable proportion) तक कम किया जा सकता है। हमारे यहाँ बेरोजगारी की प्रकृति तथा मात्रा ऐसी है कि सुरक्षा जैसी योजनाएँ आसानी से प्रारम्भ नही की जा सकती। यदि हम केवल कृषक का ही उदाहरण लें तो वह निश्चित रूप से अपने बीमे की किश्त देने के योग्य नही है। दूसरे शब्दों मे सारा भार सरकार पर ही पडेगा जो कि इस बोझ को उठाने की अवस्था में नही है। सम्भवत. यही कारण है कि दिसम्बर 1958 में सामाजिक सुरक्षा पर नियुक्त किये गये अध्ययन समूह ने भी बेकारी सहायता को किसी भी रूप मे आरम्भ करने के लिए कोई सुझाव नही दिया।

सम्पूर्ण बेकारी निराकरण की सम्भावना

क्या समाज में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाना सम्भव है अथवा एक कल्पना? बेवरिज का विचार है कि पूर्ण रोजगार न केवल स्वाधीन समाजो मे अपितु सर्वाधिकारवादी समाजों मे भी सम्भव है; दूसरी ओर कार्ल मार्क्स का विचार है कि

पूर्ण रोजगार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण असम्भव है। पिछले दो महायुद्धो में बहुत से देशों मे पूर्ण रोजगार की स्थिति पायी गयी थी। जब युद्ध-काल में यह सम्भव है तो युद्ध-निवृत्ति काल मे क्यों नही ? प्रश्न केवल ऐसे साधन अपनाने का है जिनकी सफलता प्रायोगिक व वास्तविक हो।

बेकारी को दूर करने का दीर्घकालीन (long-term) सुझाव केवल तीव्र गति का आर्थिक विकास ही हो सकता है जिसकी सफलता फिर बढती हुई जनसख्या को रोकने पर आधारित है। दूसरे शब्दो मे जनसंख्या-नियन्त्रण बेकारी के निवारण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। एक ओर आर्थिक विकास रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध करेगा, दूसरी ओर जनसख्या-नियन्त्रण युवकों के श्रमिक समूहो के बढ़ती संख्या को कम करेगा।

दूसरा सुझाव बेरोजगारी को कम करने के लिए माध्यमिक और स्नातक स्तर पर विद्यार्थियों को बढती हुई प्रवेश-संख्या को रोकना है। यह विशेषकर शिक्षित युवको मे बेकारी को रोकने में सहायक होगा। शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1966 मे 160 कालेज ऐसे थे जहाँ सौ से कम विद्यार्थी थे। सम्भवत: ये शिक्षा-सस्थाएँ समाज की आवश्यकता को पूरा करने के लिए नही परन्तु अन्य आवश्यकताओ के कारण खोली गयी थी। अधिक शिक्षा-संस्थाएँ खोलने के बजाय शिक्षा के स्वरूप में सुधार करना आवश्यक है। जब तक शिक्षण-व्यवस्था का उत्पादन और नये उपलब्ध किये हुए रोजगार के अवसर बराबर न हों, शिक्षित-बेरोजगारी कम नही हो सकती। परन्तु माध्यमिक और ऊँची शिक्षण सस्थाओं मे प्रवेश पर प्रतिबन्ध सम्भवत: वर्तमान समय में राजनीति की दृष्टि से स्वीकृत न हो। इसके अतिरिक्त ग्रामीण लोग व पिछड़े हुए वर्ग भी अवश्य इस विचार का विरोध करेंगे। नगरीय क्षेत्रों मे भी कुछ व्यक्ति माध्यमिक और ऊँचे स्तर पर प्रवेश के प्रतिबन्धों को समाज के आधुनिकीकरण मे बाधा मानेंगे। इस प्रकार सीमित प्रवेश की नीति के प्रतिकूल जनमत होने के कारण हमें प्रत्यक्ष तरीके नहीं अपितु अप्रत्यक्ष तरीके ही अपनाने होंगे। उदाहरण के लिए माध्यमिक शिक्षा के बाद यदि लोगों को आवश्यक व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाये तो बहुतों को ऊँची शिक्षा को प्राप्त करने से रोका जा सकता है तथा स्नातक व ऊँचे स्तर पर दबाव को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय और राज्य सरकारें अपनी भर्ती करने को नीतियाँ बदल दें तथा अपने आवश्यक कर्मचारियों को माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर चुनाव करने के बाद सरकारी खर्च पर प्रशिक्षण दें तो इससे भी ऊँची शिक्षा पर दबाव को रोका जा सकता है। केवल वे ही युवक ऊँची शिक्षा प्राप्त करना चाहेंगे जिनकी ऊँची शिक्षा में बहुत रुचि होगी। फिर माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम को भी व्यावहारिक बनाने से युवकों को न केवल रोजगार उपलब्ध करने मे सहायता दी जा सकती है परन्तु उन्हें विश्वविद्यालय (डिग्री) उपाधियों के प्रलोभन से बचाया जा सकता है।

तीसरा सुझाव यह दिया जा सकता है कि लोगों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाये जिससे उनके नौकरी-सम्बन्धी प्रतिष्ठा के मूल्य बदल जायें। श्वेतवस्त्रधारी

नौकरियो को अधिक प्रतिष्ठा देना और छोटी नौकरियो को छोड़ देना तथा वेतन वाली नौकरियों (wage employment) को अपने धन्धे (self-employment) से अधिक अधिमान देने जैसे मूल्यों को बदलना आवश्यक है। केवल साहसी और निर्धारक प्रयास ही इस प्रकार बेकारी की समस्या का निवारण करने में सहायक हो सकते है। समस्या पर विद्या-सम्बन्धी वाद-विवाद असयोजित है। राजनीतिज्ञ भी अभी तक इस समस्या से प्रभावित नही हुए हैं, विशेषकर इस कारण क्योंकि बेरोजगार व्यक्तियों से उन्हें आवश्यक राजनीतिक समर्थन मिल जाता है। इस कारण विद्वानों और राजनीतिक नेताओ के आपसी सम्पर्क और सहयोग के अभाव में समस्या के समाधान के लिए शक्तिशाली कार्य नही किये गये है। इस अक्रियता (inaction) की पृष्ठभूमि में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढना स्वाभाविक ही है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में यदि अनैच्छिक निष्क्रियता को नियन्त्रित न किया गया तो इसके परिणाम न केवल व्यक्ति और उसके परिवार के लिए परन्तु समाज के लिए भी अति हानिकारक सिद्ध होंगे।

बेरोजगार व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति कैसी भी हो वे समाज में तनाव के केन्द्रीय-बिन्दु (focal points) होते है और जब बेरोजगारी में शिक्षित व्यक्तियो का मिश्रण होता है तो परिस्थिति ज्वलनशील (inflammable) बन जाती है। इस प्रज्वलित परिस्थिति को यदि आवश्यक पूर्वापेक्षित लक्षण (pre-requisites) मिल जायें तो उससे विस्फोट ही उत्पन्न होगा जो विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को ही समाप्त कर सकता है। जैसा कि पहले ही बताता गया है, बंगाल, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों मे विद्यमान बेरोजगारी और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध कुछ छोटे विस्फोट और छोटी चमक अभी से ही दिखायी देते है। इन सबको रोकने के लिए बेरोजगारी की समस्या को युद्ध के स्तर पर हल करने का प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है।

6 विद्यार्थी असन्तोष
(STUDENT UNREST)

पिछले कुछ वर्षों में भारत में कोई विषय इतना बहुचर्चित व चिन्ताजनक नहीं रहा है जितना विद्यार्थी असन्तोष व छात्र अनुशासनहीनता। प्रायः प्रतिदिन ही हमें अनवरत रूप से समाचारपत्रों में छात्र आन्दोलनों की घटनाएँ पढ़ने को मिलती है। यह घटनाएँ कई रूपों में मिलती है; जैसे हड़ताल, पथराव, सत्याग्रह, भूख-हड़ताल, दंगे-फसाद, परीक्षाओं से बहिर्गमन, आगजनी, अध्यापकों का अनादर, सार्वजनिक सम्पत्ति का विनाश, कालेज व विश्वविद्यालय में फर्नीचर व खिड़की की तोड़-फोड़, रेल की पटरियों व सार्वजनिक स्थानों पर धरना देकर समाज के सामान्य जीवन को भंग करना, इत्यादि। डा० फिलिप एलबैच के अनुसार 1966 में भारतवर्ष मे कुल 2206 छात्र प्रदर्शन हुए जिनमें 480 हिंसात्मक थे।[1] यदि इन अनुशासन-हीनता की क्रियाओं का हम वर्गीकरण करें तो मुख्य रूप से हमें इनके चार प्रकार मिलते है।

(1) **विश्वविद्यालय व कालेज के नियमों का साधारण उल्लंघन** (minor deviation)—जैसे कालेज के बरामदों में चिल्लाना, घास के मैदान को नष्ट करना, कालेज कैन्टीन में कोलाहल मचाना, आदि।

(2) **शहर के लोगों से संघर्ष व लड़ाई**—किसी वास्तविक या कल्पित विद्यार्थी-स्थिति की अवहेलना को लेकर शहर के लोगों से झगड़ा आदि करना, जैसे सिनेमा में कन्सेशन को लेकर, ट्रैफिक पुलिस द्वारा नियम पालन पर बल देने को लेकर, अथवा किसी रेस्टराँ मालिक से किसी चीज के पैसों को लेकर लोगों की मारपीट करना।

(3) **अहिंसात्मक व शान्तिपूर्ण प्रदर्शन**—जो शिक्षा-सम्बन्धी शिकायतों व सार्वजनिक समस्याओं को जताने हेतु किये गये हों।

(4) **हिंसात्मक आन्दोलन**—जो अपने शिक्षा-सम्बन्धी कष्ट व क्लेश को दूर करने के लिए अथवा किसी राजनीति व सामाजिक समस्या को लेकर किये गये हों।

देश में बढ़ते हुए हिंसात्मक व अहिंसात्मक घटनाओं से ऐसे लगता है कि हमारे नवयुवक उपद्रवी व अध:पतित (hoodlums) व्यक्ति बनते जा रहे हैं। एक

[1] Altbach Philip, 'Student and Politics' in *Student Politics*, (ed.) Lipset, Seymour Martin, Basic Books, Inc., Publishers, N. York, 1967, 74-92.

साधारण व्यक्ति की दृष्टि में आज का छात्र झगड़ालू, असभ्य और कुशिक्षित माना जाता है।

वैसे छात्र-प्रदर्शन व प्रतिवाद कोई नयी चीज नही है। स्वतन्त्रता आन्दोलन में विद्यार्थियों ने इन प्रदर्शनो द्वारा प्रमुख कार्य किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यार्थियो का पहला आन्दोलन 1905 मे दिखाई दिया था जब कलकत्ता और ढाका के विद्यार्थियों ने बंगाल के विभाजन का विरोध किया था। इसी आन्दोलन को हम देश के राजनीतिक क्षेत्र मे विद्यार्थियो द्वारा भाग लेने को आरम्भ-विन्दु मान सकते हैं। तब से विद्यार्थियो ने 1919, 1932, 1942, 1947 और उसके बाद कई अवसरो पर राजनीतिक आन्दोलनों मे भाग लिया है। परन्तु स्वतन्त्रता के पहले विद्यार्थी आन्दोलनो और प्रदर्शनो का रूप और उनके कारण दूसरे थे और अब दूसरे ही मिलते है। *उस समय के छात्रों का शिक्षा प्रणाली के उद्देश्यों मे पूरा विश्वास* था। वे केवल विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह करना चाहते थे तथा उनका कार्य राष्ट्र के अन्य व्यक्तियों के साथ एक सहानुभूति-युक्त कष्ट भोगने का कार्य (sympathetic suffering) था। उनका राजनीति मे इस प्रकार का भाग लेना विश्व के बहुत देशों मे पाये जाने वाले विद्यार्थियों के राजनीतिक क्षेत्र में विक्षोभ व आन्दोलन से मिलता है; जैसे जर्मनी, रूस और फ्रान्स मे विद्यार्थियों ने 19वीं शताब्दी में ही राजनीति मे सक्रिय भाग लिया था। वर्तमान समय मे विद्यार्थियों द्वारा राजनीति में ऐसा भाग लेना जापान में छात्रों द्वारा प्रधानमन्त्री किसी के विरुद्ध प्रदर्शन मे, इन्डोनेशिया मे अमरीका के विरुद्ध प्रतिवाद मे, चीन मे सास्कृतिक क्रान्ति स्थापित करने के लिए, और अमरीका व इंग्लैण्ड मे एटम बम्ब के प्रयोग की समाप्ति के लिए मिलता है। इन सभी देशों में छात्रों का कार्य पूरे देश के साथ एक सहानुभूति जताने का कार्य था। परन्तु अब उनके आन्दोलन का रूप ही भिन्न है। अब वे वर्तमान शैक्षणिक व्यवस्था को ही बेकार समझते है। अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए आन्दोलन को अन्तिम आश्रय अपनाने के बजाय अब आरम्भ ही आन्दोलन से करते हैं। इसके पूर्व की हम आन्दोलन और अनुशासनहीनता के कारणों और परिणामों का विश्लेषण करें हमें विद्यार्थी असन्तोष व अनुशासनहीनता का सही अर्थ समझना चाहिए।

विद्यार्थी अनुशासनहीनता की परिभाषा

विद्यार्थी अनुशासनहीनता में हमे 'विद्यार्थी' और 'अनुशासनहीनता' शब्दों को समझना होगा। वैसे विद्यार्थी तो तीन साल से चालीस तक या उससे भी ऊपर की आयु का व्यक्ति हो सकता है परन्तु 'विद्यार्थी' से हमारा अभिप्राय उस शिक्षा पाने वाले व्यक्ति से है जो अनुशासनीय कार्य करने तथा अव्यवस्था व अशान्ति उत्पन्न करने के योग्य हों। ऐसे व्यक्ति अधिकतर 15 और 25 वर्ष के आयु-समूह के होते हैं। यह आयु-समूह का विशेष विवरण मनमाना व निरंकुश (arbitrary) है परन्तु फिर भी यह छात्र विक्षोभ की समस्या के विश्लेषण के लिये आवश्यक है। इस आयु-समूह

के व्यक्तियों को शारीरिक व मानसिक शक्ति तथा अत्युल्लास व उत्साह इतना अधिक होता है कि उन्हें अपने प्रदर्शन के लिए आवश्यक निकास (outlet) चाहिए। यदि यह शक्ति और उल्लास किसी निर्माण सम्बन्धी (creative) कार्य के लिए प्रयोग न किया गया तो यह अपने को किसी असामाजिक कार्य करने में व्यस्त करेगा। तथ्य तो यह है कि विद्यार्थियों में वर्तमान असन्तोष का प्रमुख कारण यही (शक्ति प्रदर्शन का उचित निकास न मिलना) है।

अब प्रश्न है कि 'अनुशासनहीनता' क्या है ? क्या यह सत्ता या प्रभुत्व के प्रति अवज्ञा (disobedience to authority) है, अथवा वृद्धजनों के प्रति असम्मान व अशिष्टता है, अथवा प्रथाओं से विचलन है, अथवा नियन्त्रण की अवहेलना करना है ? यदि विद्यार्थी अपने उचित व जायज अधिकारो की प्राप्ति के लिए हड़ताल व सत्याग्रह आदि जैसे अहिंसात्मक तरीके अपनाता है तो इनको 'अनुशासनहीनता' नहीं माना जा सकता। समाज विद्यार्थियों से क्या प्रत्याशा करता है ? मुख्य रूप से विद्यार्थियों से (क) विनिहित ज्ञान व विद्या प्राप्त करने, व (ख) उत्तरदायी और उपयोगी नागरिक बनने के लिए व्यक्तित्व के विकास का प्रयास करने की आशा की जाती है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधन हैं : परीक्षा पास कर डिग्री प्राप्त करना, पाठान्तर क्रियाओं मे भाग लेना तथा शिक्षण संस्था के विभिन्न कार्यो मे भाग लेकर अनुशासन व प्रबन्धकीय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्राप्त करना, आदि। विद्यार्थी अनुशासनहीनता इन लक्ष्यो को छोड़ देना व मान्यता-प्राप्त साधनों से विचलित होना है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विद्यार्थी असन्तोष के अध्ययन हेतु नियुक्त की गयी 1960 की कमेटी ने भी विद्यार्थी अनुशासनहीनता की परिभाषा में अध्यापक के प्रति अशिष्टता, लड़कियो से असभ्य व दुर्व्यवहार तथा मान्यता-प्राप्त धर्म-संहिता अथवा विधि-संग्रह से छोटे उल्लंघन जैसे कार्यों को सम्मिलित नहीं किया है क्योंकि उनके विचार में जहाँ युवा लड़कों और लड़कियों के मिले-जुले बडे समूह इकट्ठे पाये जायेंगे वहाँ ऐसा विचलित व्यवहार अवश्य मिलेगा। इसलिए कमेटी ने विद्यार्थी अनुशासनहीनता को इस प्रकार परिभाषित किया : जनसमूह का नैतिक पतन व सत्ता का सामूहिक उल्लंघन व वास्तविक या काल्पनिक शिकायतों को दूर करवाने के लिए ऐसे तरीकों का उपयोग जो विद्यार्थियों के लिए उचित नहीं हैं।[2]

इस परिभाषा में दो मुख्य बातें मिलती हैं—(1) अनुशासनहीनता की परिभाषा में व्यक्तियों द्वारा नियमों के उल्लंघन को सम्मिलित नहीं किया गया है तथा केवल उन्हीं कार्यों को इस परिभाषा मे रखा गया है जिसमें समूह द्वारा नियमों का उल्लंघन पाया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जब एक व्यक्ति मे पाया जाने वाला साधारण विचलित व्यवहार छात्रों में व्यापक रूप में पाया जाता हो तो उसे कैसे

[2] *Report of U.G.C. Committee* on the Problem of Student Indiscipline in India, 1960.

अनुशासनहीनता की परिभाषा से अलग किया जा सकता है क्योंकि उनके ये कार्य विद्यार्थियों मे नये नियमों के संग्रह के उभडने को सूचित करते हैं। (2) इस परिभाषा में कमेटी ने शिकायतो को दूर करने के लिए अनुचित साधनों के प्रयोग को ही अनुशासनहीनता माना है। अब यह कैसे मालूम किया जाये कि कौन से साधन उचित हैं। किसी चीज का उचित अथवा अनुचित होना समाज द्वारा मान्य व्यवहार के नियमो पर निर्भर करना चाहिए और इसे मालूम करना आसान नही है।

इन्ही कठिनाइयो के कारण कुछ विद्वानो ने अन्य रूप से ही विद्यार्थी अनुशासनहीनता को समझाया है। उदाहरण के लिए मर्टन के सिद्धान्त के आधार पर एक यह विचार[4] दिया जाता है कि किसी संस्था मे अनुशासन का अर्थ है उसके नियमो और रूढियो का आदर करना तथा उनका पालन करना। इसके उल्लघन को अनुशासनहीनता कहा जा सकता है। सस्था के सदस्य इन नियमो को इस कारण मानते है क्योकि वे उसके लक्ष्यो को स्वीकार करते है और सोचते है कि व्यवहार के विनिहित नियम इन लक्ष्यों की प्राप्ति मे सहायक होंगे। अब कोई भी संस्था सभी सदस्यों से नियमों के पालन की आशा नही करती। परन्तु सस्था के विध्यात्मक (positive) और नकारात्मक नियम और निर्देश सदस्यो की अनुशासनहीनता को इतने सीमित रूप मे रखते हैं कि सस्था के सामान्य कार्य मे कोई रुकावट न हो। परन्तु अनुशासनहीनता की कठिन समस्या तब उत्पन्न होती है जब नियमो का उल्लघन इस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ उपलब्ध व प्रचलित नियम परिस्थिति को नियन्त्रित करने में असफल सिद्ध होते है। यह परिस्थिति और उसके परिणामस्वरूप अनुशासनहीनता निम्न तीन तरीको से उत्पन्न हो सकती है—

(1) सदस्यों की संस्था के लक्ष्यो मे अभिरुचि ही समाप्त हो जाये। ऐसी परिस्थिति में वे सस्था के सदस्य तो रहते है परन्तु उसके नियमों के कठोरतापूर्वक पालन करने मे कोई रुचि नही दिखाते।

(2) सदस्य लक्ष्यों को तो स्वीकार करते हो. परन्तु सस्या उनको प्राप्त भी कर सकेगी इसमे उनको सन्देह हो। ऐसी परिस्थिति में उस अयोग्यता व अपर्याप्तता को दूर करने का प्रयास सही और उचित तरीका होगा। परन्तु क्योंकि पूर्वस्थापित नियमो में परिवर्तन लाने मे विरोध के कारण सुधार लाना आसान नही है इसलिए सदस्यों का संस्था में विश्वास ही समाप्त हो जाता है जिससे नियमों का पालन भी समाप्त हो जाता है तथा अनुशासनहीनता उत्पन्न होती है।

(3) संस्था के नियम और निर्देश परिस्थितियो के बदल जाने के कारण अनुपयुक्त होने से निष्फल व निरर्थक हो जाये।

---

[4] Asthana, H. S., and Chitnis, Suma, 'The Disturbed Campus' in *Sociology of Education in India*, edit. by Gore, M. S., National Council of Educational Research and Training, Bombay 1967, 313.

विद्यार्थी विक्षोभ व अनुशासनहीनता के कारण

उपर्युक्त तीन परिस्थितियों के आधार पर विद्यार्थी अनुशासनहीनता का विश्लेषण अलग-अलग रूप में किया गया है। यह विश्लेषण विशेष स्थानों में विशेष आन्दोलन को लेकर नहीं अपितु घटना को भारतीय इतिहास, संस्कृति व संरचना के सन्दर्भ में सामान्य रूप में रखकर किया गया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियुक्त कमेटी ने छात्र अनुशासनहीनता के निम्न कारक दिये हैं[5]—

(1) आर्थिक कारक—जैसे फीस बढाना, छात्रवृत्ति कम करना तथा उसका पक्षपातपूर्ण वितरण, आदि।

(2) परीक्षा व प्रवेश प्रणाली—जैसे प्रवेश सम्बन्धी नीतियाँ, कक्षा में पढ़ाने का माध्यम, परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन, पास होने के नियम, आदि।

(3) अपर्याप्त व्यवस्था—जैसे अयोग्य शिक्षक, पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं की अपर्याप्त सुविधाएँ, शिक्षकों व छात्रों के पारस्परिक सम्पर्क का अभाव आदि।

(4) रहने सम्बन्धी व्यवस्था—जैसे पीने के पानी व कैन्टीन आदि की सुविधाओं का न होना, होस्टल की कमी अथवा होस्टल में खराब खाना मिलना, आदि।

(5) नेतृत्व—विद्यार्थी-राजनीतिज्ञों, अध्यापक-राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक नेताओं द्वारा प्रोत्साहन मिलना व उकसाया जाना।

विद्यार्थी असन्तोष पर एक ताजा रिपोर्ट में छात्रों में असन्तोष के निम्न चार कारण दिये गये हैं[6]—

(1) विद्योपार्जन हेतु उचित (proper academic) वातावरण का अभाव।

(2) सत्ता (माता-पिता, शैक्षणिक व सरकारी) के प्रति आदर व सम्मान का अभाव।

(3) आदर्शात्मक निराशा (ideological frustration)।

(4) राजनीतिक हस्तक्षेप।

एक समाजशास्त्र के विद्यार्थी[7] के अनुसार विद्यार्थी अनुशासनहीनता का दोष विद्यार्थी में नहीं परन्तु उस सामाजिक पर्यावरण में है जिसमें वह रहता है। आर्थिक असुरक्षा, शिक्षा-प्रणाली में बार-बार परिवर्तन, पढ़ाने की माध्यम सम्बन्धी अनिश्चयता, कालेजों में भीड़-भाड़, अयोग्य प्राध्यापक, आदि कुछ ऐसी बाधायें हैं जो विद्यार्थियों को उनके लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं करने देती।

मेटा स्पेन्सर के अनुसार भारतीय छात्रों की असन्तुष्टि का मूल कारण भविष्य की असुरक्षात्मक भावना है।[8] एडवर्ड शिल्स के अनुसार भारत में छात्र

---

[5] *Report of U. G. C. Committee, op. cit.*

[6] A Correspondent, 'Student Indiscipline under Study', *Thought*, Oct. 20, 1966, 11.

[7] See *Seminar*, No. 44 on 'Crisis on the Campus', April 1963.

[8] Metta Spencer, 'Professional, Scientific and Intellectual Students in India' in *Student Politics*, edit. by Lipset, *op. cit.*, 357–69.

आन्दोलन भारतीय सुसस्कृति में विद्यमान यौन सम्बन्धी रिक्तता (sexual vacuum) के कारण हैं।[9]

जोजिफ डायबोना ने उत्तर भारत मे एक विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के आन्दोलन का अध्ययन करके छात्र अनुशासनहीनता के आर्थिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक व सामाजिक कारण दिये है।[10] उसके (क) आर्थिक व्याख्या के अनुसार अनुशासनहीनता विश्वविद्यालयों और देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं में असम्बन्ध के कारण उत्पन्न हुए तनावों का एक लक्षण है। शिक्षा का व्यावसायिक दृष्टिकोण एक मान्यता प्राप्त दृष्टिकोण है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में नौकरी चाहने वाले विद्यार्थियो और रोजगार के पर्याप्त अवसरो के अनुपात में बहुत अन्तर मिलता है। इससे उन छात्रों मे बेकारी अधिक मिलती है जिनमे आवश्यक प्रशिक्षण का अभाव होता है। (ख) मनोवैज्ञानिक-सामाजिक व्याख्या के अनुसार छात्र-शिक्षक के बीच सामाजिक व मनोवैज्ञानिक दूरी अथवा शिक्षा-प्रणाली मे दोष तथा भारतीय समाज के श्रेणीबद्ध (hierarchical) संरचना के कारण अनुशासन-हीनता उत्पन्न होती है। छात्र-शिक्षक में दूरी मुख्य रूप से शैक्षणिक व्यवसाय में अयोग्य प्राध्यापक पाये जाने के कारण विद्यार्थियो पर अनैतिक (demoralising) प्रभाव की वजह से तथा कक्षा में बहुत विद्यार्थी होने के कारण प्राध्यापक का सभी छात्रों के साथ सम्पर्क न रखने की वजह से उत्पन्न होती हैं। इस सन्दर्भ में चचल सरकार द्वारा भारतीय विश्वविद्यालय की व्याख्या भी बहुत उपयुक्त है कि जहाँ आचारभ्रष्ट (demoralised) शिक्षक पढ़ाते हैं वहाँ निरुत्साहित विद्यार्थी अधिक मिलते हैं।[11] (ग) राजनीतिक व्याख्या के अनुसार विद्यार्थी असन्तोष का सम्बन्ध उन बड़े राजनीतिक आन्दोलनों के साथ है जिन्होने भारत को उपनिवेश (colonialism) से लोकतन्त्रवाद मे बदल दिया है। इसके अतिरिक्त शिक्षको मे छोटे-छोटे गुट (factions), स्थानीय राजनीतिज्ञों द्वारा विश्वविद्यालय के कार्यो मे हस्तक्षेप और विद्यार्थी नेताओ को विद्यार्थियो के विभिन्न संगठनो व राजनीतिक दलों द्वारा समर्थन आदि भी इसके प्रमुख कारण हैं।

दुर्खीम, पारसन्स और मर्टन आदि जैसे कुछ विद्वानो के संरचनात्मक सिद्धान्तों के आधार पर यदि हम विद्यार्थी अनुशासनहीनता की समस्या को देखें तो हम यह कह सकते हैं कि छात्र-असन्तोष के मूल कारण सामाजिक संरचना मे निहित हैं। मुख्य विचार यह है कि छात्र असन्तोष परम्परात्मक व्यवहार के आदर्श प्रतिमानों से विचलन का एक रूप है जिसमे समाज के व्याधिकार्य और आदर्श-शून्यता या

---

[9] Shils, Edward, 'Indian Students : Rather Sadhus than Philistines' in *Encounter*, Vol. 17, Sept 1961, 15.

[10] Dibona, Joseph, 'Indiscipline and Student Leadership in an Indian University' in '*Student Politics*', *op. cit*, 373–74.

[11] Sarkar, Chanchal, 'The Unquiet Campus—Indian Universities Today,' *A Statesman Survey*, New Delhi, 1960.

विचलन की समस्याएँ उत्पन्न हो रही है। प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप एक जीवन-शैली होती है और साथ ही उसके मान्य व्यवहार भी होते है। यह व्यवहार उन सांस्कृतिक आदर्शों की प्राप्ति मे सहायक होते हैं, अतएव आदर्शोन्मुख होते हैं। व्यक्ति जब इन प्रतिमानित आदर्शों के अनुसार आचरण करता है तो उसका व्यवहार समंजनकारी कहलाता है और यही समंजनकारी व्यवहार समाज में सन्तुलन बनाये रखने में सहायक होता है। किन्तु कतिपय कारणों से जब व्यक्ति इन मान्य आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसका व्यवहार विचलन व अनुशासनहीन कहलाता है।

इलियट और मेरिल का विघटनात्मक सिद्धान्त यदि अनुशासनहीनता पर लागू किया जाये तो उसके अनुसार समाज व्यवस्था के विभिन्न अंगों के समुचित संयोग (coherence) का अभाव ही छात्र असन्तोष का मूल कारण है। विघटनात्मक तत्वों मे व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामुदायिक विघटन के अनेक कारण हो सकते है। जब संगठित सम्बन्धों मे ऐसे तत्त्व उत्पन्न होते है जो निराशा, उदासीनता, झुंझलाहट और दु:ख लाते हैं तो यह संगठित सम्बन्ध टूट जाते है। पिछले कुछ वर्षों में ऐसे ही कुछ सम्बन्ध छात्रों व शिक्षकों के बीच विकसित होते दिखायी दिये हैं। बढ़ती हुई बेरोजगारी के परिणामस्वरूप भी छात्रो की विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ इस सीमा तक पहुँच गयी हैं जहाँ हमारे विद्यार्थी विप्लव (chaos) की अवस्था से गुजर रहे है। इसी प्रकार परिवार में पीढ़ी संघर्ष तथा समाज में पाया जाने वाला पक्षपात, भ्रष्टाचार, निर्धनता, बढता हुआ व्यक्तिगत स्वार्थ, राजनीतिक सघर्ष आदि भी विद्यार्थियों के मूल्यों व आदर्शों ग्रादि को प्रभावित करके विघटनात्मक स्थिति उत्पन्न करते हैं तथा विद्यार्थी असन्तोष बढाते है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार छात्र असन्तोष समाज मे व्याप्त वर्ग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब है। समाज में वर्ग-संघर्ष एक ऐतिहासिक तथ्य है। सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। समाज में जितने भी झगडे, गुटबाजी व असन्तोष के स्वरूप हमें देखने को मिलते हैं उन सबकी वर्गीय व्याख्या की जा सकती है। वर्ग-संघर्ष मे शक्तिशाली वर्ग जीवन-व्यापन के सभी तरीको पर एकाधिकारवादी आधिपत्य स्थापित कर लेता है और कमजोर वर्ग का शोषण करता रहता है। शिक्षक एव विद्यार्थी वर्ग में भी ऐसा वर्ग-संघर्ष दिखायी देता है। विद्यार्थी को राजनीतिक दलों से सम्पर्क, विश्वविद्यालय के प्रशासन की आलोचना, शिक्षा व्यवस्था मे सुधार की माँग करना इत्यादि वर्ग-संघर्ष के प्रभाव के ही लक्षण हैं।

सामाजिक मूल्यों के सिद्धान्त के अनुसार छात्र असन्तोष नये और पुराने मूल्यों के सघर्ष का ही परिणाम है। परिवार मे माता-पिता व सन्तान के मूल्यों तथा शिक्षा-पद्धति में अध्यापक व छात्र के मूल्यों में परिवर्तन के कारण युवको की आकांक्षाएँ भी बदल रही हैं जिससे उनमे विद्रोह की भावना पनपती है। अवन कपाडिया का भी कहना है कि हमारे विद्यार्थी जिनका पालन-पोषण अधिनायकवादी . . . में हुआ है अब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहते हैं। फिर हमारी लोक-रीतियो

कहा जा सकता है कि शिक्षा-प्रणाली सही समाजीकरण नहीं कर पा रही।

(ख) आजीविका कमाने सम्बन्धी शिक्षा देने में असफलता—देश में पायी जाने वाली कृषि-सम्बन्धी, प्रौद्योगिक तथा शिक्षितों की बेरोजगारी को देखते हुए अथवा इस बात को ध्यान में रखते हुए कि यह समस्या इतनी उग्र है कि सरकार ने चौथी पंचवर्षीय योजना में 1·9 करोड़ लोगों को रोजगार उपलब्ध करने का लक्ष्य बनाया है, हम कह सकते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली आजीविका सम्बन्धी उद्देश्य प्राप्त नहीं कर पायी है। स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश काल में अधिक युवक हाईस्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त कर कोई नौकरी ढूँढ लेते थे। जो थोड़े व्यक्ति ऊँची शिक्षा प्राप्त करते थे वे अपना समायोजन कुछ व्यवसायों तथा शासकीय व श्वेतवस्त्रधारी (white-collar) नौकरियों में ही कर लेते थे। इस प्रकार शिक्षित व्यक्तियों को नौकरी, आय व प्रतिष्ठा की कुछ सुरक्षा थी। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् परिस्थिति बदल गयी है। प्रारम्भ मे तो नयी आर्थिक नीतियों के कारण कुछ औद्योगिक संस्थाओं का विकास हुआ और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कार्मिको (technical personnel) की भी आवश्यकता बढती गयी परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे वर्तमान सरकार के कुछ दोषपूर्ण आर्थिक नीतियो के कारण यह कार्मिक भी आधिक्य (surplus) हो गये हैं। कला, विज्ञान व वाणिज्य के स्नातक तो अब बहुत अधिक बेरोजगार मिलते हैं। परन्तु फिर भी व्यावसायिक व प्रौद्योगिक शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों मे कला वर्ग आदि के छात्रों की अपेक्षा कम अनुशासनहीनता मिलती है। इसका कारण यह है कि पहले प्रकार के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम सीधे व्यवसाय से सम्बन्धित होते हैं। वे प्राप्त प्रवीणता (skill) को कारखानो, अस्पतालो आदि में प्रयोग कर अपना भविष्य बनाते हैं जिस कारण उनमे अपने व्यवसाय के प्रति आदर तथा प्रशिक्षण प्रक्रिया के प्रति गम्भीरता रहती है। दूसरी ओर कला आदि पाठ्यक्रमों मे यह चीज नही पायी जाती। शिक्षा का विस्तार तो तेजी से हुआ है परन्तु शिक्षा को देश के व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुकूल नहीं बनाया गया है। पहले जब विद्वत्ता को व्यक्ति की ऊँची जाति व स्थिति से आँका जाता था अब उसकी पहचान (identification) कालेज की डिग्री से की जाती है। क्योंकि प्रौद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा प्राप्ति के लिए अवसर कम प्राप्त हैं तथा कुछ व्यक्ति इन क्षेत्रो में भी बेरोजगार रहते हैं इस कारण कला, विज्ञान और वाणिज्य के कालेजों मे प्रवेश के लिए भाड़ मिलती है। समाज के वे अनुभाग जो अभी तक अशिक्षित थे अब शिक्षा के लिए उत्सुक पाये जाते हैं। डिग्री प्राप्ति के बाद युवक अपने को हर नौकरी के लिए योग्य समझते हैं और जब वे अपनी इच्छा के अनुसार ऊँची नौकरी प्राप्त नहीं कर पाते तो निम्न स्थिति वाली नौकरी स्वीकार करते हैं। इस परिस्थिति को वे फिर शिक्षा-प्रणाली का व्यक्ति को आजीविका कमाने के लिए शिक्षा देने के उद्देश्य की असफलता बताते हैं। फिर जिन नौकरियो मे वे लोग होते हैं उनमे जो उत्तरदायित्व पाया जाता है उसको भी वे पूरा नही कर पाते। यह अक्षमता प्रौद्योगिक व अप्रौद्योगिक दोनो प्रकार के कर्मचारियों (personnel) में पायी जाती है। इस कारण विदेशी डिग्री पर अधिक निर्भरता मिलती है। इससे फिर भारतीय

शिक्षा-प्रणाली के लिए सन्देह और बढ़ता है। लिप्सेट का भी कहना है कि शिक्षा का विस्तार और फिर उनमें वैयक्तिक भाव का अभाव विद्यार्थियों में निराशाएँ बढ़ाता है व कुसमायोजन की समस्या उत्पन्न करता है।[13]

इस प्रकार कालेज शिक्षा की विषयवस्तु (content) व पढ़ाई का तरीका व्यवसाय के लिए अनुपयोगी है। परन्तु नौकरियों के प्रवरण में अब भी विश्वविद्यालयों की उपाधियों पर बल दिया जाता है। सरकारी नौकरियों में तो इस पर विशेष बल मिलता है। यही कारण है कि अब यह माना जाता है कि कालेज शिक्षा का महत्त्व ही केवल इस कारण है क्योंकि इससे जो डिग्री उपलब्ध होती है वह नौकरी प्राप्ति में आवश्यक होती है। इससे अधिक विद्यार्थियों के लिए उसका उनके भविष्य निर्माण में कोई योग नहीं होता। पाठ्यक्रम के जीवन बनाने में अप्रासंगिकता (irrelevance) के कारण ही विद्यार्थियों में वर्तमान शिक्षा के लिए घृणा व अश्रद्धा पायी जाती है।[14] शिक्षित युवक अपने को जब नौकरी प्राप्ति के लिए सही रूप से तैयार नहीं पाता तो वह भविष्य के प्रति निश्चितता न होने के कारण शिक्षा को भी गम्भीरता से नहीं लेता। वह न अध्यापकों का आदर करता है और न शिक्षा-प्रणाली के नियमों का पालन करता है।

शिक्षा-पद्धति की इस प्रकार की असफलता का कारण पुराने और अनुपयोगी पाठ्यक्रम के अतिरिक्त सरकार की दोषपूर्ण नीतियों के कारण शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन लाने की असफलता भी है। हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी का शिक्षा का माध्यम होना, हिन्दी पुस्तकों का अभाव, तथा अनियन्त्रित प्रवेश पर बल देने के कारण छात्र-अध्यापक सम्बन्धों का घनिष्ठ न होना भी विरोधी भावनाओं को जन्म देता है। अधिकतर विद्यार्थी अध्यापकों को व्यंग्यपूर्ण, उदासीन, पक्षपाती, असभ्य व कठोर मानते हैं, जबकि उनको सहानुभूतिक, दयायुक्त, शिष्ट, विनीत, कल्याणकारी व सहायकारी होना चाहिए। बहुत कम ऐसे शिक्षक होते हैं जो छात्रों में अपने विषय के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर पाते हैं। परिणामस्वरूप विद्यार्थी कक्षा में व्याख्यान को नींद की गोली समझते हैं। ऐसे व्याख्यान ही छात्रों में विक्षोभ पैदा करते हैं। विद्यार्थियों में न केवल शिक्षकों के लिए अविश्वास की भावना मिलती है परन्तु विश्वविद्यालय के निर्णय लेने व नीतियाँ बनाने वाले उपकुलपति, सचिव आदि जैसे

---

[13] 'The expansion and consequent depersonalisation of education is largely responsible for frustration and maladjustment among students.' Lipset, S. M., *New Society*, No. 205, Sept. 1966.

[14] 'A college education is important only because of the degree it brings, beyond that it contributes little that students can value in terms of their future career. Students realise the irrelevance of the content of their education to their career and there is disaffection for the college routine. A degree and division alone are important. Occupation goals are indeterminate, the future a matter of chance, education incapable of defining a career.' Asthana Chitnis, 'Sociology of Education in India', *op. cit.*, 319.

अधिकारियों के प्रति भी उनमें ऐसी ही सन्देह की भावनाएँ मिलती हैं। इन अधिकारियों को वे नौकरशाही शासन-पद्धति के अनुयायी, विद्यार्थियों के प्रति सहानुभूति-रहित व अयोग्य शासनकर्त्ता समझते है।

विश्वविद्यालय की डिग्री के अवमूल्यन (devaluation) का एक कारण परीक्षा की वर्तमान प्रणाली भी है। यदि परीक्षक पेपर बनाने में थोड़ा नया परिवर्तन भी लाना चाहते हैं तो विद्यार्थी आन्दोलन मचाते है। इसके फलस्वरूप छात्रों में रटने व घोटा लगाने (cramming) पर अधिक बल मिलता है तथा नये विचारों का निर्माण व स्वतन्त्र विचार शक्ति समाप्त होती जा रही है। फिर अलग-अलग विश्वविद्यालयों की आन्तरिक अंक निर्धारण (internal assessment) प्रणाली तथा अंकों का परीक्षा-फल मे जोड़ा जाना भी प्राप्त श्रेणी को प्रभावित करता है। यही सब चीजे विद्यार्थियों मे असन्तोष उत्पन्न करती हैं।

एक अन्य कारण विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता पाये जाने का यह भी है कि जब उनकी माँगे एक बार आन्दोलन के उपरान्त मान ली जाती हैं, तो वे यह धारणा बना लेते हैं कि अपने हर उचित व अनुचित माँग को विद्रोह व आन्दोलन द्वारा पूरा करवा सकते है जिस कारण छोटे-छोटे अवसर मिलने पर वे उपद्रव मचाते है जिससे विद्यार्थियों मे अनुशासनहीनता बढती दिखायी देती है।

2. पारिवारिक संरचना और अनुशासनहीनता

व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने मे परिवार भी सदा एक मुख्य समूह रहा है। विद्यार्थियों का पारिवारिक स्वरूप, उनके माता-पिता का शैक्षणिक स्तर, परिवार की आय, पारिवारिक मान्यताएँ, पिता की व्यावसायिक पृष्ठभूमि आदि विभिन्नताएँ उनके व्यवहार व असन्तोष को निश्चित करती हैं। परिवार से परम्परागत व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त करने मे व्यक्ति का सामंजस्य आसानी से हो जाता है; इस कारण पिता के व्यवसाय को अपनाने का बच्चों के मानसिक सामंजस्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। फिर शिक्षित माता-पिता बच्चो में शिक्षा के प्रति जो रुचि व लगाव उत्पन्न कर सकते हैं तथा जो आदर्शात्मक कार्य करने की उन्हे प्रेरणा दे सकते हैं वह अशिक्षित माता-पिता नहीं दे सकते। शिक्षित माता-पिता के बच्चों की आकांक्षाएँ भी अपढ़ माता-पिता के बच्चो की अपेक्षा कुछ अधिक व ऊँची होती हैं। ये अपने माता-पिता से प्रेरणा लेकर अपने विकास के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। अशिक्षित माता-पिता की सन्तान कतिपय हीन-भावना की शिकार रहती है। इसी प्रकार आर्थिक स्तर का भी बच्चे के व्यवहार, रुचियों व मानसिक सन्तुलन पर प्रभाव पड़ता है। उच्च आय वाले परिवारों में असहनशीलता, उग्रता एवं क्रान्तिकारी भावनाएँ अधिक मिलती हैं। परिवार मे सत्ता का मनन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ काल पूर्व परिवार के मुखिया का सदस्यों पर इतना प्रभाव था कि वे परिवार के अन्दर तो क्या परिवार के बाहर भी कोई ऐसा कार्य करने का साहस नहीं कर सकते थे जिसके लिए उन्हें मुखिया व माता-पिता द्वारा दण्ड मिलने का डर होता था।

परन्तु अब परिवार पहले जैसा अधिनायकवादी (authoritarian) नही रहा । विवाह की आयु भी बढ गयी है । शिक्षा-समाप्ति के बाद युवक से आशा की जाती है कि वह *परिवार पर आश्रित नही रहेगा परन्तु अपने कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व को स्वयं निभाने* का प्रयास करेगा । इन सब परिवर्तनों के कारण युवकों मे अपने परिवार के प्रति पहले जैसा आदर व डर नही रहा । यही कारण है कि विद्यार्थियों मे जब विक्षोभ बढता है तो परिवार भी उसको रोकने मे सहायता नही कर पाते ।

पीढ़ियों का द्वन्द्व—कालेजो व विश्वविद्यालयों मे पढने वाले विद्यार्थी किशोरावस्था (adolescence) की अन्तिम सीढी और वयस्क अवस्था (adulthood) की पहली सीढ़ी के सीमा के बीच होते है । किशोरावस्था मे व्यक्ति को वयस्क *उत्तरदायित्व के बोझ से तो मुक्ति होती है परन्तु उसे वयस्क अवस्था के कुछ कर्त्तव्य* निभाने व कठिन निर्णय आदि लेने होते है । यद्यपि इस आयु के वे युवक जो शिक्षा ग्रहण नही कर रहे होते हैं वयस्क क्रियाओ को अपना लेते है परन्तु शिक्षा पाने वाले अधिकतर युवक वयस्क कर्त्तव्यों को ग्रहण करने की क्षमता होते हुए भी वयस्क उत्तर-दायित्व से मुक्त ही रहते हैं । आर्थिक रूप से वे अपने माता-पिता पर ही निर्भर रहते हैं । समाज इनको इसलिए अनुत्तरदायी व अविश्वसनीय किशोर ही समझता है और उनके द्वारा नियमो के साधारण उल्लघन को दण्डित नही करता । लिप्सेट ने भी छात्रो *के बाह्य सत्ता से अनिर्भरता की व्याख्या की है ।*[15] परन्तु *वयस्क समाज के नियमो के* प्रति अनुत्तरदायी होते हुए भी ये युवक आदर्शवादी होते है । उनके विश्वास दृढ व स्थिर नही होते तथा वे समायोजनीय (adjustible) होते हैं । उनकी अपने को अन्य व्यक्तियों व समूहो से तादात्मीकरण की क्षमता शिशु अवस्था व वयस्क अवस्था की तुलना में अधिक होती है । समाज के नैतिक स्तर और राजनीतिज्ञ मानक के साथ उनकी मुठभेड स्वयं के अनभिज्ञता व अनुभव के संसर्ग से नहीं अपितु प्रौढ व्यक्तियो द्वारा प्रख्यापित नियमो के रूप में अथवा सत्ता द्वारा आदेश मिलने के रूप में होती है ।

आधुनिक युग मे वे समानता, न्यायपरता, निष्पक्षता, निपुणता, आर्थिक कल्याण आदि जैसे मूल्यों को एक अच्छे समाज के मूल्य मानते हैं तथा जाति-प्रथा, सामाजिक असमानता, प्रशासनीय व राजनीतिक घूसखोरी व भ्रष्टता, स्थिति के आधार पर भेदभाव करने आदि को ऐसे मूल्यो का उल्लघन समझते हैं । विश्वविद्यालय में पहुँचने से पहले युवकों को जिन परिवार, स्कूल आदि समूहों से गुजरना पड़ता है वे वृद्धजनों द्वारा स्वीकार किये हुए पुराने सास्कृतिक मूल्यों को हस्तान्तरित करने मे लगे रहते हैं । विश्वविद्यालय मे पहुँचने पर उदार व नये विचारों का समर्थन करने वाला दृष्टिकोण विकसित होने के कारण वे इन मूल्यों का विरोध करते हैं और जो इन मूल्यों को सुरक्षित रखना चाहते है, वे युवक उनके विरुद्ध हो जाते हैं तथा उनके

---

[15] Lipset, S. M., 'University Students and Politics in Underdeveloped Countries' in *Student Politics, op. cit*, 16.

खिलाफ आन्दोलन करते हैं और कभी-कभी उनके इस आन्दोलन में हिंसात्मक चीजें भी पायी जाती है। परम्परागत सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक मूल्यों के विरुद्ध तथा आधुनिक मूल्यों के पक्ष मे ऐसा आन्दोलन व प्रदर्शन केवल भारतीय समाज मे ही दिखायी नही देता परन्तु पिछले कुछ वर्षों मे ऐसे प्रदर्शन चीन, जापान, इन्डोनेशिया, पाकिस्तान आदि देशों में भी विश्वविद्यालय-छात्रों में देखने को मिले हैं। इस कारण प्रौढ़ अध्यापकों व शासकों के परम्परागत मूल्यों व युवकों के आधुनिक मूल्यों मे सघर्ष भी छात्र-विक्षोभ का एक कारण बताया जा सकता है।

3. राजनीति और छात्र-अनुशासनहीनता

हर देश में विश्वविद्यालयों के ऊपर राजनीति का कुछ प्रभाव पाया ही जाता है। राजनीतिक नेतृजन (elite) की काफी मात्रा सदा विश्वविद्यालय के स्नातकों से ही निकलती है। फिलिप आलबैच का कहना है कि न केवल नये राज्यों के नेता अधिकाशतः विद्यार्थियो से निकलते हैं परन्तु बहुत से राज्यो के सामाजिक आदर्श भी विद्यार्थी आन्दोलनो से प्रभावित होते हैं।[16] छात्रों का राजनीति मे भाग लेने का एक मुख्य कारण यह है कि वे समाज के अमूर्त वैचारिक व्यवस्थाओं (abstract ideological systems) को उन व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं जो नियमपूर्वक अबौद्धिक परिस्थितियों मे कार्य करते हैं। विद्यार्थी सदा बौद्धिक पर्यावरण में कार्य करने के कारण आदर्शवादी आन्दोलनों की ओर शीघ्र खिंच जाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि विद्यार्थियों को बार-बार यह कहा जाता है कि वे किसी प्रकार के राजनीतिक कार्यों में भाग न लें। एक प्रकार से यह *अनियमितता है। बहुत* से विद्यार्थियो को, विशेषकर कालेजो व विश्वविद्यायल के विद्यार्थियों को, एक ओर तो वोट देने का अधिकार होता है तथा चुनाव लड़ने की छूट होती है और दूसरी ओर उनसे कहा जाता है कि वे राजनीति से दूर रहें। यह वास्तव में विरोधाभासी (Paradoxical) है। एक रूप मे छात्रों का राजनीतिक व्यवहार *पूर्वभासित वयस्क* राजनीतिक व्यवहार (anticipatory adult political behaviour) होता है। यह व्यवहार वयस्कों के राजनीति का भी एक प्रतीक होता है। भारत में छात्रों ने राजनीति मे भाग स्वतन्त्रता के पूर्व भी लिया था और अब भी ले रहे है। प्रश्न यह है कि इनके आजादी के पूर्व और पश्चात् के राजनीतिक दृष्टिकोण मे *क्या अन्तर है?* क्या यह कहना सही होगा कि स्वाधीनता के पूर्व उनका राजनीति में भाग केवल ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के एक आदर्शवादी धारणा के कारण ही था और अब उनकी राजनीति में रुचि एक तात्कालिक उग्रता (random aggressiveness) है जो किसी विशेष धारणा पर आधारित नही है? शिल्स का इस प्रश्न के लिए

---

[16] 'Not only have the leaders of the new states frequently come from student ranks, but the ideological base of many of the new societies has been influenced by the student movement.' Altbach Philip, *his article* 'Student and Politics' in *Student politics*, Lipset, *op. cit.*, 74.

उत्तर नकारात्मक है। उनका कहना है कि दोनों काल में एक प्रकार की मूल समानता मिलती है और वह है विद्यमान सत्ता के प्रति विरोधात्मक भावना अथवा शत्रुता[17] पहले यह विरोध ब्रिटिश सत्ता के लिये था और अब भारतीय सत्ता के लिए है। वर्तमान भारतीय सत्ता को विद्यार्थी दूषित, भ्रष्ट तथा नौकरशाही पर आधारित मानते हैं। शिल्स का विचार है कि भारत में विद्यमान सत्ता बहुत भ्रान्तिमूलक व समझौते पर आधारित, इस विश्व के भ्रष्टाचार से भरपूर, नौकरशाही शासन सम्बन्धी तथा विद्रोही विद्यार्थियों में राजभक्ति की भावना उत्पन्न करने के अयोग्य है।[18] विद्यार्थियों का राजनीति में भाग दो स्तर पर विभाजित किया जा सकता है—(*1*) कालेज अथवा विश्वविद्यालय स्तर पर, (2) राष्ट्रीय स्तर पर। विश्वविद्यालय स्तर पर छात्रों की क्रियाएँ केवल छात्रों की समस्याओं से ही सम्बन्धित होती हैं। एक प्रकार से छात्रों का यह राजनीतिक भाग प्रकार्यवादी (functional) है क्योंकि (1) यह उनको लोकतन्त्रीय प्रक्रिया की शिक्षा देता है, (2) इससे विश्वविद्यालय के शासन व प्रबन्ध में विकेन्द्रीकरण आ जाता है, तथा (3) इससे छात्रों को रचनात्मक कार्य करने का अवसर मिलता है। क्योंकि छात्रों की इन क्रियाओं का बाह्य राजनीतिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, आलबैच ने इनको परीक्षणवादी (etudialist) छोटा आन्दोलन माना है।[19] दूसरी ओर राष्ट्रीय स्तर पर पाए जाने वाला राजनीति में भाग राजनीतिक समस्याओं के बहस में, राजनीतिक दलों में सक्रिय भाग लेने में तथा राष्ट्रीय नीतियों व उद्देश्यों में वाद-विवाद के रूप में मिलता है। इसके उदाहरण भारत में उड़ीसा में 1964–65 में तथा दक्षिण-भारत में 1965 में मिले थे। हम विद्यार्थियों के इस 'आन्दोलन' को समाज हितोन्मुखी (society-oriented) आन्दोलन बता सकते हैं। इस विभेद के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दिल्ली, वाराणसी तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी आन्दोलन छात्र-हितोन्मुखी (student-oriented) आन्दोलन थे और उड़ीसा व मद्रास विश्वविद्यालयों में आन्दोलन समाज-हितोन्मुखी आन्दोलन थे। दोनों प्रकार के क्रियाओं व आन्दोलनों में मुख्य बात यह मिलती है कि वे अधिकतर अस्थिर (discontinuous) होते हैं। जब तक आन्दोलन रहता है तब तक तो वह उग्र व गम्भीर रहता है परन्तु उसके उपरान्त एक लम्बे काल के लक्ष्य के रूप में उसे जारी नहीं रखा जाता। यह कहना गलत नहीं होगा कि विद्यार्थियों का राजनीति में भाग कोई सुधार लाने के लिए नहीं अपितु कुछ विशेष कष्टों के समाधान हेतु

[17] Shils, Edward, 'Students, Politics and Universities in India' in *Turmoil and Transition: Higher Education and Students Politics in India*, edit. by Altbach, Philip G., Lalvani Publishing House, Bombay, 1968, 2.

[18] 'Existing authorities in India are too compromised, too infected by the corruption of this wo.ld, too bureaucratic, *too remote to arouse the rebellious* Indian students' capacity for loyalty.' *Ibid.*, 4.

[19] Altbach, Philip, G., 'Student Politics and Higher Education in I in *Turmoil and Transition*, *op. cit.*, 12.

होता है। वे उपकुलपति के विरुद्ध नारे लगायेंगे तथा उसके बंगले पर आक्रमण करके सामान की तोड़-फोड़ करेंगे परन्तु उपकुलपति के अधिकारों को बदलवाने का कोई प्रयत्न नही करेंगे। वे प्रदर्शनों मे पुलिस पर पत्थरों से हमला करेंगे परन्तु पुलिस प्रक्रियाओं मे परिवर्तन का प्रयास नही करेंगे। वे विश्वविद्यालय से निकाले गए विद्यार्थियो को वापस प्रवेश दिलाने के लिए हड़ताल करेंगे परन्तु निष्कासन से सम्बन्धित नियमों को बदलवाने की कोशिश नही करेंगे। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियों के इन राजनीतिक आन्दोलनों से विश्वविद्यालय तथा समाज की संरचना अप्रभावित ही रहती है। इस प्रकार के विद्यार्थी-क्रिया को स्मेलसर ने 'नियम-अभिमुख (norm-oriented) राजनीतिक आन्दोलन' माना है जिसका मुख्य उद्देश्य होता है किसी विशिष्ट कष्ट का निवारण अथवा किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति। इसके विरुद्ध 'मूल्य-अभिमुख (value-oriented) राजनीतिक आन्दोलनों' मे कोई आदर्श सम्बन्धी समस्या पायी जाती है। जब नियम-अभिमुख आन्दोलन लक्ष्य प्राप्ति के उपरान्त समाप्त हो जाते है, मूल्य-अभिमुख आन्दोलन सुधार लाने तक चलते रहते हैं।[20]

छात्रो का राजनीति में भाग (विश्वविद्यालय स्तर तथा राष्ट्रीय स्तर वाला) किस प्रकार का होगा अथवा कितना तीव्र व उग्र होगा यह निम्न तीन बातों पर निर्भर करता है।

(1) कालेज या विश्वविद्यालय में कठिन प्रशिक्षण के कारण छात्रों की शिक्षण से असम्बद्ध (non-academic) विषयो मे रुचि कितनी मिलती है। विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्ति के उपरान्त एक अच्छी नौकरी पाने के लिए शिक्षण काल मे विद्यार्थियो से कठिन कार्य करवाने पर जितना अधिक बल होगा उतना ही छात्र किसी भी प्रकार की राजनीति मे कम भाग लेंगे। इस प्रकार के कठिन प्रशिक्षण पर बल अध्यापकों की कार्यकुशलता पर निर्भर करता है। जहाँ शिक्षक अयोग्य, अनिपुण व अदक्ष होगा वहाँ छात्रों का ध्यान शिक्षण से असम्बद्ध बातो पर अधिक होगा। यह चीज भारत मे बहुत से कालेजों व विश्वविद्यालयो में पायी जाती है। यही कारण है कि किसी विश्वविद्यालय में छात्रों द्वारा राजनीति मे भाग लेना अधिक मिलता है और किसी में कम।

(2) छात्रों का राजनीति मे भाग लेना राज्य मे राजनीतिक दलों के शक्ति व कार्यों पर भी निर्भर करता है। दक्षिण-भारत मे राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए छात्रों का उपयोग बहुत मिलता है। इस्पात के कारखानों की स्थापना, अंग्रेजी को समाप्त न करने तथा हिन्दी को अनिवार्य न बनाने आदि जैसी समस्याएँ वहाँ विद्यार्थियों के आन्दोलन के मुख्य आधार रहे हैं। दूसरी ओर उत्तर भारत में इसके विपरीत राजनीतिक दलों के कम हस्तक्षेप के कारण विद्या-

[20] Smelser, Neil, *Theory of Collective Behaviour*, Free Press, N. York, 1963, 275.

सम्बन्धी विषय विद्यार्थियों के आन्दोलनो के आधार अधिक रहे हैं।

(3) छात्रों में राजनीतिक विषयो को लेकर कितना असन्तोष व अनुशासन-हीनता पायी जाती है यह उनके राजनीतिक चेतना पर भी निर्भर करता है। कुछ विद्यार्थी राजनीतिक दलो से प्रेरणा लेकर अपनी राजनीतिक आकाक्षाओ की प्राप्ति हेतु अन्य विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता एव उपद्रव फैलाने के प्रयास करते रहते है। फिर कुछ विद्यार्थी तो राजनीतिक दल के सदस्य होते है और कुछ केवल राजनीतिक दल से सहानुभूति ही रखते है। इसी तरह कुछ छात्र आन्दोलन तो राजनीतिक दलों से नियन्त्रित ही रहते है। राजनीतिक दल निम्न प्रकार से विद्यार्थियों को हड़ताल आदि मे सहायता करते है—(क) आर्थिक सहायता देकर, (ख) उनके लिए प्रचार के साधन जैसे जीप, लाउडस्पीकर आदि उपलब्ध करके, (ग) हड़तालियों की माँगों को उचित बताकर उनका मनोबल ऊँचा करके, (घ) छात्रो के साथ अधिकारियों से मिलकर उनको उनकी माँगें स्वीकार करने के लिए वकालत करने तथा बाध्य करने से, (च) गिरफ्तार किए गए छात्रो को जेलों से रिहा करवाने में सहायता करके आदि।

राजनीतिक दलो के अतिरिक्त विद्यार्थियो के स्वय के संगठन भी छात्रो के राजनीतिक व्यवहार के लिए बहुत उत्तरदायी है। मुख्य विद्यार्थी दल जो भारत में इस समय कार्य कर हैं वे है—विद्यार्थी महासघ, युवा कांग्रेस, समाजवादी फोरम, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् और समाजवादी युवजन सभा। इस पूरे विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थियो की अनुशासनहीनता में राजनीतिक उद्देश्य भी एक प्रमुख कारक है।

विद्यार्थियों की राजनीतिक क्रियाओं में क्षेत्रीय भिन्नताएँ बहुत मिलती हैं। यह अन्तर क्रियाओं के प्रकृति और उग्रता दोनों मे मिलता है। एक ओर जब आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बंगाल और बिहार के विद्यार्थियों मे राजनीतिक कार्यक्षमता और असन्तोष अधिक मिलता है, दूसरी ओर महाराष्ट्र, राजस्थान और पंजाब के विद्यार्थियों मे बहुत कम मिलता है। तमिलनाडु में केवल 1964–65 मे भाषा को लेकर कुछ उपद्रव हुए थे। इसी प्रकार जब साम्यवादी-अभिमुख बंगाल में भीषण व सैन्यवादी (militant) राजनीतिक कार्यकलाप मिलता है, केरल में (जो उतना ही साम्यवादी-अभिमुख राज्य है) ऐसा कार्यकलाप बहुत कम मिलता है। फिर एक ओर हिन्दी-प्रान्त उत्तर प्रदेश में उपद्रव अधिक मिलता है तो दूसरी ओर राजस्थान और मध्य प्रदेश के हिन्दी राज्यों मे कम। जब मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में वामपक्षीय विद्यार्थी परिषद् शक्तिशाली मिलता है तो बंगाल और दक्षिण भारत मे लगभग अप्रबल। उत्तर प्रदेश मे समाजवादी बलशाली हैं परन्तु महाराष्ट्र मे नही। इन क्षेत्रीय भेदों के प्रति किसी प्रकार का सामान्यीकरण (generalisation) देना आसान नही है।

भारत मे जो 1964 और 1966 के बीच विद्यार्थियों द्वारा विभिन्न हड़तालें व प्रदर्शन हुए थे यदि उनका विश्लेषण करें तो हमे मिलेगा कि अधिकतर हड़तालों का उद्देश्य राजनीतिक न होकर शिक्षा सम्बन्धी था। 1964 मे हुए कुल 700

(1) पहले प्रकार के विद्यार्थी क्योंकि ऊँची सामाजिक व आर्थिक स्थिति के कारण हर कोर्स में प्रवेश प्राप्त कर सकते है तथा क्योकि उनको हर प्रकार का सही मार्ग-प्रदर्शन व सहायता मिलती रहती है अथवा उच्च योग्यता के कारण उनको अपनी सफलता मे पूरा विश्वास होता है व अपने को हर नई उत्पन्न हुई परिस्थिति मे समायोजित कर सकते है इस कारण वे अध्ययन पर अधिक ध्यान देते है और छात्र-प्रदर्शनो व हड़तालों आदि से दूर रहते है।

(2) दूसरे समूह वाले लड़के भी अपने इच्छा अनुसार कोर्स में प्रवेश लेने में समर्थ होते है। कभी-कभी ऐसे बच्चो के माता-पिता उनको ऐसी शैक्षणिक संस्थाओं मे भेजते हैं जहाँ उच्च योग्यता की आवश्यकता नही होती अथवा जहाँ विद्या-सम्बन्धी मानक (academic standards) भी बहुत ऊँचे है। परन्तु निम्न योग्यता के कारण यह बच्चे अन्य बच्चों की प्रतिस्पर्धा मे नही आ सकते जिस कारण उनकी उच्च स्थिति भी खतरे मे होती है। इसलिए प्रतियोगिता में हारने के डर के कारण व अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए ये ऐसे नियम, मूल्य और व्यवहार फैलाते हैं जो शिक्षण से असम्बद्ध होते हैं। यह अविद्या सम्बन्धी मूल्य (non-academic values) और क्रियाएँ विभिन्न प्रकार के पाये जा सकते है, जैसे कक्षा मे शरारत करना, क्लास में अनुपस्थित रहना, अधिक समय रैस्ट्रां और सिनेमाओ मे बिताना, अध्यापकों पर अनुचित प्रभाव डलवाना, परीक्षाओं में नकल करना, परीक्षको को रिश्वत देकर इच्छानुसार नम्बर प्राप्त करने का प्रयास करना तथा प्रतिनिधि-मण्डलो (deputations), जन सभाओं, जलूसों व प्रदर्शनों आदि में भाग लेना एव दूसरो को उकसाना।

(3) तीसरे समूह वाले लड़के जो निम्न,जातियों तथा निम्न आर्थिक, शैक्षणिक व व्यावसायिक समूहों के सदस्य होते हैं यद्यपि माता-पिता आदि के प्रभाव में नही होते परन्तु स्वयं की ऊँची आकाक्षाओं व उच्च योग्यता के कारण सही और गलत में अन्तर करने का प्रयत्न करते है तथा हानिकारक कार्यों से दूर रहते हैं। फिर इनको शिक्षा क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए अथवा इच्छा के अनुसार अच्छी संस्थाओं में प्रवेश पाने के लिए व शिक्षा समाप्ति के बाद अच्छी नौकरी के लिए स्वयं पर ही निर्भर करना पड़ता है जिस कारण ये सदा ऊँची श्रेणी प्राप्त करने की कोशिश में रहते हैं तथा उपद्रवो व प्रदर्शनो आदि से दूर रहने का प्रयास करते है। परन्तु इस समूह में ऐसे भी विद्यार्थी पाये जाते है जो उच्च योग्यता के होते हुए भी जब आवश्यक प्रवेश आदि प्राप्त नही कर पाते तो कुंठा के कारण आन्दोलनों में भाग लेते हैं तथा असन्तोष पैदा करने के लिए विद्यार्थी आन्दोलन प्रारम्भ करते है।

(4) चौथे समूह वाले विद्यार्थियो की संख्या कालेज स्तर पर कम ही मिलती है क्योंकि इनमें से अधिकतर तो माध्यमिक स्कूल स्तर पर ही छूट जाते है। शेष बच्चो मे न तो माता-पिता का अच्छी श्रेणी पाने के लिए कोई दबाव होता है और न स्वयं की कोई ऊँची आकांक्षा। इस कारण अगर ये प्रतियोगिता मे असफल भी होते हैं तो भी इन्हे कोई निराशा नहीं होती। परन्तु ये अपनी सफलता के अवसरो को बढ़ाने का सदा प्रयास करते रहते हैं। इस कारण इस समूह के कुछ सदस्य तो

हड़तालों और प्रदर्शनों में से 280 हड़तालों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि 35·7 प्रतिशत हड़तालें परीक्षाओं तथा शिक्षण-संस्थाओं के शासन से सम्बन्धित थी, 21·4 प्रतिशत पुलिस व अन्य सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध प्रदर्शन के रूप में थी, और 42·8 प्रतिशत में विविध कारण थे। इससे ज्ञात होता है कि अधिकतर आन्दोलनों मे प्रत्यक्ष राजनीतिक लक्ष्य नही होता। फिर इन अध्ययनों में यह भी पाया गया कि 30 अवसरो पर कम्युनिस्टों ने हड़तालों का सक्रिय समर्थन किया, दो में जनसंघ ने और 17 मे अन्य राजनीतिक दलों ने। यदि हम 1964 के आँकड़ों की 1965 और 1966 के आँकड़ों से तुलना करें तो हमें मिलता है कि जब 1964 में 700 में से 3 प्रतिशत उपद्रव शिक्षण से असम्बद्ध विषयों को लेकर हुए थे, 1965 में ऐसे उपद्रवों की संख्या कुल उपद्रवों का 5 प्रतिशत थी तथा 1966 मे कुल 2206 में से 7·4 प्रतिशत इस प्रकार के उपद्रव थे।[21]

अब यदि सभी कारकों को इकट्ठा लेकर विद्यार्थी विक्षोभ व अनुशासन-हीनता के कारणों का विवरण करना चाहें तो हम कह सकते है कि विद्यार्थी अनुशासनहीनता केवल शैक्षणिक समस्या ही नही है परन्तु मूल रूप मे यह सामाजिक व सरचनात्मक समस्या भी है जिसमें आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि सभी प्रकार के कारकों का योग है। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि विद्यार्थी असन्तोष के कारण व्यक्तित्व, सामाजिक व्यवस्था तथा सास्कृतिक संरचना में दिखाई देते हैं। व्यक्तित्व में आधुनिक मूल्यों की स्वीकृति तथा युवा व प्रौढ़ पीढ़ियों में संघर्षों के कारण उत्पन्न कुंठा जैसे कारक आते हैं; सामाजिक व्यवस्था मे वर्तमान शिक्षा प्रणाली का रोजगार-अभिमुख (employment-oriented) न होना, राजनीतिक हस्तक्षेप विश्वविद्यालयों के अधिकारियों का छात्रों के प्रति नौकरशाही शासन पद्धति पर आधारित व सहानुभूतिरहित भावनाओं जैसे कारक आते हैं; और सास्कृतिक संरचना मे परिवार आदि जैसी संस्थाओं मे परम्परागत सत्ता पर अनिर्भरता आदि जैसे कारक प्रमुख हैं।

दुर्बोध्य विद्यार्थी (Problem Students)

अब हमें यह देखना है कि किस प्रकार के विद्यार्थियों में असन्तोष व अनुशासन-हीनता अधिक पायी जाती है? इसमें दो बातें प्रमुख हैं—(क) विद्यार्थी की पारिवारिक पृष्ठभूमि, (ख) उसकी योग्यता। इन दो तत्त्वों के आधार पर बी० वी० शाह ने विद्यार्थियों को चार समूहों मे विभाजित किया है—(1) श्रेष्ठ पद (high status) व उच्च योग्यता वाले विद्यार्थी। (2) श्रेष्ठ पद व निम्न योग्यता वाले विद्यार्थी। (3) निम्न पद व उच्च योग्यता वाले विद्यार्थी। (4) निम्न पद व निम्न योग्यता वाले विद्यार्थी।[22]

---

[21] See *Statesman*, 19 Dec. 1966 Also see article on 'Student Indiscipline under Study' in *Thought*, 20 Oct. 1966, 11.

[22] Shah, B V., *Sociological Bulletin*, March 1968, 57-63.

(1) पहले प्रकार के विद्यार्थी क्योंकि ऊँची सामाजिक व आर्थिक स्थिति के कारण हर कोर्स मे प्रवेश प्राप्त कर सकते है तथा क्योंकि उनको हर प्रकार का सही मार्ग-प्रदर्शन व सहायता मिलती रहती है अथवा उच्च योग्यता के कारण उनको अपनी सफलता में पूरा विश्वास होता है व अपने को हर नई उत्पन्न हुई परिस्थिति मे समायोजित कर सकते है इस कारण वे अध्ययन पर अधिक ध्यान देते है और छात्र-प्रदर्शनो व हड़तालों आदि से दूर रहते है।

(2) दूसरे समूह वाले लड़के भी अपने इच्छा अनुसार कोर्स मे प्रवेश लेने में समर्थ होते हैं। कभी-कभी ऐसे बच्चो के माता-पिता उनको ऐसी शैक्षणिक सस्थाओं में भेजते हैं जहाँ उच्च योग्यता की आवश्यकता नही होती अथवा जहाँ विद्या-सम्बन्धी मानक (academic standards) भी बहुत ऊँचे हैं। परन्तु निम्न योग्यता के कारण यह वच्चे अन्य बच्चो की प्रतिस्पर्धा में नही आ सकते जिस कारण उनकी उच्च स्थिति भी खतरे में होती है। इसलिए प्रतियोगिता में हारने के डर के कारण व अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए ये ऐसे नियम, मूल्य और व्यवहार फैलाते है जो शिक्षण से असम्वद्ध होते हैं। यह अविद्या सम्बन्धी मूल्य (non-academic values) और क्रियाएँ विभिन्न प्रकार के पाये जा सकते हैं, जैसे कक्षा मे शरारत करना, क्लास में अनुपस्थित रहना, अधिक समय रैस्ट्रां और सिनेमाओ मे बिताना, अध्यापकों पर अनुचित प्रभाव डलवाना, परीक्षाओ मे नकल करना, परीक्षकों को रिश्वत देकर इच्छानुसार नम्बर प्राप्त करने का प्रयास करना तथा प्रतिनिधि-मण्डलों (deputations), जन सभाओं, जलूसो व प्रदर्शनो आदि मे भाग लेना एवं दूसरो को उक्साना।

(3) तीसरे समूह वाले लड़के जो निम्न जातियों तथा निम्न आर्थिक, शैक्षणिक व व्यावसायिक समूहो के सदस्य होते है यद्यपि माता-पिता आदि के प्रभाव में नही होते परन्तु स्वयं की ऊँची आकांक्षाओं व उच्च योग्यता के कारण सही और गलत मे अन्तर करने का प्रयत्न करते हैं तथा हानिकारक कार्यो से दूर रहते है। फिर इनको शिक्षा क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए अथवा इच्छा के अनुसार अच्छी संस्थाओं मे प्रवेश पाने के लिए व शिक्षा समाप्ति के वाद अच्छी नौकरी के लिए स्वयं पर ही निर्भर करना पड़ता है जिस कारण ये सदा ऊँची श्रेणी प्राप्त करने की कोशिश मे रहते है तथा उपद्रवों व प्रदर्शनों आदि से दूर रहने का प्रयास करते है। परन्तु इस समूह मे ऐसे भी विद्यार्थी पाये जाते है जो उच्च योग्यता के होते हुए भी जब आवश्यक प्रवेश आदि प्राप्त नही कर पाते तो कुठा के कारण आन्दोलनों मे भाग लेते हैं तथा असन्तोष पैदा करने के लिए विद्यार्थी आन्दोलन प्रारम्भ करते हैं।

(4) चौथे समूह वाले विद्यार्थियो की संख्या कालेज स्तर पर कम ही मिलती है क्योकि इनमे से अधिकतर तो माध्यमिक स्कूल स्तर पर ही छूट जाते हैं। शेष बच्चों में न तो माता-पिता का अच्छी श्रेणी पाने के लिए कोई दवाव होता है और न स्वयं की कोई ऊँची आकाक्षा। इस कारण अगर ये प्रतियोगिता में असफल भी होते हैं तो भी इन्हे कोई निराशा नही होती। परन्तु ये अपनी सफलता के अवसरों को बढ़ाने का सदा प्रयास करते रहते है। इस कारण इस समूह के कुछ सदस्य तो

जलूसों और सभाओं आदि में भाग लेने की कोई रुचि नहीं दिखाते और कुछ फिर इस कारण आन्दोलनों में अधिक भाग लेते हैं क्योंकि उससे उनको लाभ की ही सम्भावना होती है, हानि की नहीं।

इन चार प्रकार के विद्यार्थियों में से वी० वी० शाह के अनुसार अधिक असन्तोष व अनुशासनहीनता उन छात्रों मे मिलनी चाहिए जो ऊँची शिक्षा का व्यय सहन नहीं कर सकते तथा जिनको सफलता के कम अवसर होते हैं। शाह की इस उपकल्पना मे जो व्यक्ति की योग्यता, पारिवारिक पृष्ठभूमि व शिक्षा व्यवस्था पर बल दिया गया है वह सही है। लिप्सेट का फिर विचार है कि विद्यार्थी का आन्दोलनों आदि में भाग लेना इस पर निर्भर करता है कि उसने कालेज में कितने वर्ष व्यतीत किए हैं। युवक जितने अधिक वर्ष कालेज में रहा होगा उतनी उसके आन्दोलन मे भाग लेने की सम्भावना अधिक रहेगी।[23]

विद्यार्थी नेतृत्व

विद्यार्थी समुदाय में, विशेषकर किसी भी विद्यार्थी आन्दोलन में, नेता एक प्रमुख व्यक्ति होता है। यह नेता कौन होता है तथा एक साधारण छात्र से यह कैसे भिन्न होता है? यह क्यों, कैसे, और कब नेता बनता है? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका हम यहाँ विश्लेषण करेंगे।

विद्यार्थी नेता अधिकांशतः कालेज अथवा विश्वविद्यालय के छात्र-संघ का निर्वाचित पद-प्राप्त व्यक्ति (office-holder) जैसे प्रेसीडेण्ट, सेक्रेटरी आदि होता है, यद्यपि कभी-कभी वह कोई पद ग्रहण किये बिना सघ की पृष्ठभूमि मे रहकर ही कार्य करता है। मनोनीत पदाधिकारी होने के कारण वह छात्र समुदाय का प्रतिनिधि वक्ता होता है। इसका चुनाव द्वारा पद प्राप्त करना ही उसकी योग्यता व जनप्रियता का प्रमाण होता है। अब जब शनैः शनैः विद्यार्थियो को विश्वविद्यालय के विभिन्न शासकीय व सलाहकार समितियों से साहचर्य किया जा रहा है, विद्यार्थी नेता की स्थिति व उसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया है।

यह विद्यार्थी नेता कौन होते हैं? जिन छात्रों को साधारण छात्रो से उच्च योग्यता होती है तथा जिनको सफलता प्राप्त करने की उत्कृष्ट लालसा होती है वे पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त कार्यों के अभाव में, वैकल्पिक रूप मे राजनीति मे भाग लेते हैं। बाके ने भी कहा है कि जिन विश्वविद्यालयों में बाह्य-शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का अभाव होता है, वहाँ छात्र नेता बनने की अभिलाषा को विश्वविद्यालय के प्रबन्ध मे भाग लेकर अथवा विद्यार्थी सामूहिक क्रिया को उत्तेजित कर, भड़का कर व प्रोत्साहित करके पूरा करते हैं।[24]

---

[23] Lipset, *Student Politics*, *op. cit.*, 24.

[24] 'Where the extra curriculum is virtually non-existent, at least in the ... satisfaction of this leadership ambition must *focus on* ... d in the opportunity to stimulate. ... Bakke, E. W., 'Students on the ... No. 3, 1964, 203.

अधिकांशतः ये नेता धनी परिवारों के सदस्य होते हैं। स्वाधीनता संग्राम के पूर्व विद्यार्थी नेता साधारणतः एक मध्यम वर्ग के सदस्य व पढाई का दृष्टि से अच्छे विद्यार्थी होते थे परन्तु अब स्थिति विपरीत है। अब नेता न तो उच्च श्रेणी प्राप्त विद्यार्थी होते है और न अच्छे खिलाड़ी आदि। इनमे मुख्य लक्षण एक अच्छे व अलंकारिक भाषण देने वाले व वक्ता का मिलता है जिससे वे रुचि न रखने वाले तथा निरुत्साहित भीड़ को भी एक उत्सर्ग (dedicated) व्यक्तियों के एकता वाले (cohesive) समूह में बदलने में सफल हो जाते हैं।

राबर्ट शा[25] ने भी 1966 मे उस्मानिया विश्वविद्यालय के विद्यार्थी नेताओं के अध्ययन में पाया कि नेताओं की पारिवारिक आय एक औसत भारतीय परिवार की आय से अधिक थी। लगभग दो-तिहाई नेता मध्यम वर्ग के परिवारो के सदस्य थे और एक-तिहाई धनी परिवारो के। स्थिति की दृष्टि से सभी नेता ऊँची जाति के सदस्य थे। शिक्षा अनुष्ठान की दृष्टि से 22·2 प्रतिशत अच्छे (brilliant), 23·2 प्रतिशत साधारण (average) और 56·7 प्रतिशत साधारण से निम्न (below average) विद्यार्थी पाये गये। कालेज में व्यतीत किये गये वर्षों की दृष्टि से यह पाया गया कि 33·3 प्रतिशत ने तीन से कम वर्ष कालेज में बिताये थे, 33·3 प्रतिशत ने तीन से छः वर्ष, 11·2 प्रतिशत ने छः से नौ वर्ष और 22·2 प्रतिशत ने नौ से अधिक वर्ष। दो-तिहाई नेताओ की राजनीतिक अभिलाषाएँ थी और वे राजनीति को जीवन का साध्य मान चुके थे और एक-तिहाई को इस तरह की कोई लालसा नही थी। 22·2 प्रतिशत नेताओ के रिश्तेदार राजनीति मे सक्रिय भाग ले रहे थे परन्तु शेष 79·8 प्रतिशत में उनके किसी रिश्तेदार की राजनीति मे कोई रुचि नहीं थी। 55·6 प्रतिशत कांग्रेस दल के समर्थक थे, 11·1 प्रतिशत स्वतन्त्र थे और 33·3 प्रतिशत को किसी दल के लिए कोई पुरोधान (preference) नही था अथवा इन नेताओ की राजनीति में कोई रुचि नही थी। इन आंकड़ो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सुरक्षा, शिक्षा मे अरुचि व अयोग्यता, जीवन का कोई विशेष ध्येय न होने के कारण अथवा राजनीतिक जीवन को अपनाने का निर्णय कर लेने के कारण कालिज में अधिक वर्ष बिताना आदि नेतृत्व में सहायक तत्त्व हैं।

अब प्रश्न है कि ये व्यक्ति नेतृत्व क्यो स्वीकार करते हैं ? प्रमुख रूप से इसके चार कारण दिये जा सकते हैं—(1) विद्यार्थियों के कष्टों व विभिन्न शिकायतो को दूर करने की इच्छा, (2) भविष्य में स्वयं के राजनीतिक नेता बनने का निर्णय, (3) समाज की सेवा का विचार, तथा (4) अपने अहं (ego) को पूरा करना। राबर्ट शा को उस्मानिया विश्वविद्यालय के विद्यार्थी नेताओं ने अपने नेता बनने के निम्न कारण बताये[26] : (1) भारतीय राजनीति से जड़तावाद (immobilism)

---

[25] Shaw, Robert C., 'Student Politics and Student Leadership in an Indian University, the case of Osmania' in *Turmoil and Transition: Higher Education and Student Politics in India, op. cit.*, 190–95.

[26] *Ibid.*, 193.

को दूर करने का ध्येय, (2) दोस्तों के पथ-प्रदर्शन व परिचालन करने की लालसा, (3) विद्यार्थियों के लिए 'कुछ' करने की इच्छा, (4) समाज की सेवा करने का विचार, तथा (5) छात्र राजनीति में भाग लेकर वयस्क राजनीति-क्षेत्र तक पहुँचने का लक्ष्य।

विद्यार्थी नेताओं का एक सफल व सम्पन्न नेता बनना कुछ तो उनकी स्वयं की योग्यता के कारण होता है, कुछ उनके प्रचार के कारण, कुछ किसी राजनीतिक दल के समर्थन व सहयोग के कारण, कुछ आन्दोलन व हड़ताल के विषय की प्रकृति के कारण और कुछ किसी छात्र-संगठन की अधीनता के कारण। कालेजों व विश्वविद्यालय में *बहुत से छात्र गाँवों के निवासी होते हैं। गाँवों में* किसी रोजगार के अवसर उपलब्ध न होने के कारण उनको अपने लक्ष्यों की प्राप्ति केवल नगरों में ही सम्भव दिखायी देती है। विश्वविद्यालयों में जाने से वे अपना सामंजस्य नहीं बैठा सकते और किसी ओर से सहायता न मिलने पर उन्हें छात्र नेताओं की ओर ही झुकना पड़ता है। यही कारण है कि विद्यार्थी नेताओं का ग्रामीण छात्रों पर बहुत प्रभाव होता है। इसी प्रभाव के सन्दर्भ में मार्गरेट कारमैक ने भी कहा है कि छात्र-नेता छात्रों को हड़ताल व प्रदर्शन करने के लिए उकसा सकते हैं, घटना की दिशा को बदल सकते हैं तथा आरम्भ किये हुए उपद्रव को कभी भी समाप्त कर सकते हैं। उनको अपना अनुमोदन करने वालों से एक प्रकार का अन्धविश्वास व अन्ध-समर्थन मिलता है।[37] अनुवर्तियों (followers) के इसी आदर्श व विश्वास के कारण ही नेता हड़ताल व प्रदर्शन आदि को भी सफल बना पाते हैं। हड़ताल की सफलता का नेता के लिए अनुवर्तियों द्वारा अन्ध-प्रथा के अतिरिक्त अन्य कारण हैं—(1) विद्यार्थियों की आपसी एकता, (2) विभिन्न नेताओं का पारस्परिक सहयोग, (3) आवश्यक आर्थिक सहायता, (4) राजनीतिक दलों द्वारा आश्रय व संरक्षण, (5) समाचार-पत्रों का समर्थन, तथा (6) शिक्षकों द्वारा अनुमोदन।

उपचारात्मक उपाय

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छात्रों के अनुशासनहीनता में आंशिक रूप से विद्यार्थियों का और आंशिक रूप से समाज का उत्तरदायित्व है। समाज ने विद्यार्थियों की शिकायतों व कष्टों के समाधान का कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया है। उसने उनकी निराशाओं व संघर्षों आदि को मालूम करना अनावश्यक समझा है। उसने विद्यार्थियों में कुछ विपरीत आधार को अनुशासनहीनता

[37] 'Leader instigates strikes, manipulates the course of events and brings the agitation to stop at will. He commands an almost blind respect *from* his peers. He has an aura of charisma. He is *full of gusto and is an energetic and* dynamic person. He has a mission, a purpose. His spirit coupled with his ability to act makes him a unique person.' Cormack, Margaret L., 'Indian Higher Education in the 1960s : Hope in the midst of Despair', in Altbach's (ed.), *Turmoil and Transition, op. cit.*, 241 246.

घोषित करके अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्व से छुटकारा पा लिया है। दूसरी ओर यदि हम स्वीकार भी कर कि हमारा समाज विप्लव (turmoil) की स्थिति मे है तथा हमारी शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण है तो क्या विद्यार्थियों को उनके उत्तरदायित्व से मुक्त किया जा सकता है? विद्यार्थियों को अपनी समस्याओं का ज्ञान है, वे शैक्षणिक व्यवस्था की कमियाँ जानते है, परन्तु फिर भी उनके समाधान के लिए उन्होने अल्पकाल के लिए हिंसात्मक क्रियाएँ अपनाने के अतिरिक्त क्या किया है? छात्र-संघों का ही उदाहरण लीजिए। वर्तमान छात्र संघ केवल पिकनिक, फिल्म-प्रदर्शन, सामाजिक समारोह आदि की व्यवस्था करने तथा कभी-कभी किसी प्रतियोगिता का संयोजन करने के अलावा और कुछ नहीं करते। सम्भवतः यही कारण है कि अच्छे विद्यार्थी इन संघों में कोई रुचि नही लेते तथा लड़कियाँ भी इनसे दूर रहती है। आलवेंच का भी विचार है कि छात्र सघ छात्रों की विभिन्न समस्याओं को दूर करने में बिल्कुल असफल हुए है जिस कारण ये कुछ छात्रो द्वारा केवल सत्ता हथियाने के साधन से बन गये हैं। बहुत समय तो ये विभिन्न दलों द्वारा छात्रो मे विक्षोभ फैलाने व आन्दोलन प्रारम्भ करने के साधन का ही कार्य करते हैं।[23]

इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह है कि विद्यार्थी संघो का नेतृत्व अयोग्य, स्वार्थी, अविश्वसनीय तथा प्रपंचपूर्ण नेताओ के हाथों मे है जो केवल हड़ताल करवाना ही संघ का मुख्य ध्येय समझते हैं। हम यह नही कहते हैं कि हड़तालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाये। यह सही है कि जीवन में बल का प्रयोग अनिवार्य व अति आवश्यक है तथा कोई कानून तब तक सुरक्षित नही रह सकता जब तक बलपूर्वक उसका पालन न करवाया जाये। हम केवल यह मानते हैं कि दमनीय व निरोधी विधान (repressive legislation) स्वयं मे अशक्त व निर्बल होता है। इसके द्वारा हम विक्षोभ के लक्षणों को ही दूर कर पाएँगे, उसके कारणों को नही क्योकि बल के कठोर प्रयोग से विरोध पनपता है। फिर हम लक्ष्यों का स्तर भी नहीं गिरा सकते परन्तु साथ में ऐसे लक्ष्य भी नही बना सकते जिनको प्राप्त करना ही कठिन व असम्भव हो। हमें छात्रो के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ऐसे साधन उपलब्ध करने होंगे जो उनको प्रेरणा भी दें और उनकी प्राप्ति को सम्भव भी बनाएँ। इस सन्दर्भ मे पुरस्कार और दण्ड के वितरण का प्रश्न मुख्य है। पुरस्कार धर्मानुवर्ती (conformist) के लिए आवश्यक है और दण्ड विचलित व्यवहार के लिए। जो छात्र नियमों का सही पालन करते हैं तथा आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर व्यक्तित्व के निर्माण करने का प्रयास करते हैं उन्हें पुरस्कार मिलना ही चाहिए। यह पुरस्कार उन्हें अच्छी

[23] 'Student union which might have helped students to get their grievances redressed peacefully and ...

नौकरियाँ उपलब्ध करके दिया जा सकता है जो फिर नियुक्ति में भ्रष्टता, पक्षपात आदि को समाप्त करके ही सम्भव है। दूसरी ओर जो शिक्षा प्राप्त करने पर ध्यान नहीं देते तथा नियमों का उल्लंघन करते हैं उन्हें भारी प्रतिस्पर्धा का सामना करना ही होगा।

यह सब परिवर्तन तभी सम्भव होगा जब—(1) विश्वविद्यालयों में चुनाव-प्रणाली को सही रूप से नियन्त्रित किया जाये, (2) पाठ्यक्रम को रोजगार-अभिमुख (job-oriented) बनाया जाये, (3) कुछ छात्रों को विश्वविद्यालय प्रशासन में परामर्श समितियों में प्रतिनिधित्व देकर सदस्य बनाया जाये, (4) प्रवेश पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाकर शिक्षक व शिक्षार्थियों के सम्बन्धों में समन्वयित बनाकर पारस्परिक विश्वास के संकट (crisis of confidence) को समाप्त किया जाये और (5) दोषपूर्ण शिक्षा-पद्धति में कुछ प्रवेश, परीक्षा आदि से सम्बन्धित परिवर्तन लाये जाएँ। इन साधनों के अपनाये बिना छात्रों में अनुशासनहीनता आने वाले कई वर्षों में भी समाप्त नहीं हो सकेगी। वर्तमान भारतीय वित्त-व्यवस्था का छात्रों व युवकों के लिए पूर्ण रोजगार उपलब्ध करना सम्भव नहीं है। राजनीतिक दल अपने स्वार्थों के लिए छात्रों को भड़काते ही रहेंगे। दैनिक जीवन के तनाव भी छात्रों के लिए समाप्त नहीं होंगे क्योंकि आने वाले वर्षों में भारत की उन्नति की कोई आशा नहीं है। परम्परागत और आधुनिक मूल्यों में पीढ़ियों के संघर्ष भी निरन्तर (presistent) होंगे जिससे विद्यार्थी बड़ों का सदा विरोध करते रहेंगे।

इन सबके होते हुए भी निराशावादी होने की आवश्यकता नहीं है। विश्वविद्यालय को अपरिवर्तनीय जेल (जिसमें कठोर नियमों के पालन पर ही बल मिलता है) बनाने के स्थान पर एक अच्छी चरित्र-निर्माण संस्था के रूप में ही विकसित करने से छात्रों के असन्तोष को कम किया जा सकता है। छात्रों में उत्साह है, जोश है, व्यग्रता है, उद्योग है, योग्यता है, शक्ति है। एक औसत छात्र वास्तविकता को पहचानने वाला (objective), प्रतियोगीय (competitive), जिज्ञासु (curious), कल्पनाशील (imaginative), व व्यक्तिवादीय (individualistic) है। उसे केवल सही पथ-प्रदर्शन चाहिए। यही प्रदर्शन-विधि प्राध्यापकों और प्रशासकीय अधिकारियों के सम्बन्ध में भी चाहिए। शिक्षा समुदाय और सरकार के मध्य नये सम्बन्ध स्थापित कर उनका एक-दूसरे में विश्वास उत्पन्न करना अति आवश्यक है। कारमैक ने भी कहा है कि इस समय सरकार का विश्वविद्यालय के शिक्षकों में कोई विश्वास नहीं है तथा एक शिक्षक भी सरकार को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। यह पारस्परिक सन्देह ही दोनों में आवश्यक वार्तालाप को रोके हुए है।[19] विद्वानों और शासकों का सही वार्तालाप और शिक्षक-विद्यार्थियों का पारस्परिक विश्वास ही छात्रों में असन्तोष, विक्षोभ व अनुशासनहीनता को नियन्त्रित करने में सहायक होंगे।

---

19 [illegible] and the professor for his [illegible]

7 नगरीकरण
(URBANISATION)

सामाजिक व्यवस्था को 'जीवन के तरीके' के अन्तर के आधार पर प्रायः ग्राम-नगर द्वि-भाजन (dichotomy) के सन्दर्भ में देखा गया है। नगरीय व्यवस्था, नगरीकरण तथा नगरीयता अवधारणाओं को स्पष्ट समझने के लिए हमें सर्वप्रथम 'नगर' शब्द को समझना होगा।

नगर को निम्न पाँच जनसंख्यात्मक, आर्थिक व सामाजिक तत्वों के आधार पर परिभाषित किया गया : (1) प्रशासनिक (administrative), (2) जनसंख्या का आकार, (3) जनसंख्या का घनत्व, (4) प्रधान आर्थिक व्यवस्था, (5) कुछ सामाजिक लक्षण। इनमें से पहले तीन जनसंख्यात्मक तत्व हैं। उपर्युक्त कुछ तत्वों के आधार पर 1961 जनगणना के लिए किसी क्षेत्र को नगर मानने या न मानने के लिए कुछ मानदण्ड निर्धारित किए गए थे[1] : (i) क्षेत्र की जनसंख्या 5000 से अधिक हो, (ii) उसकी जनसंख्या-घनत्व एक वर्गमील में 1000 व्यक्तियों से कम न हो, (iii) तीन-चौथाई व्यक्ति अकृषि धन्धों में लगे हों, (iv) उस क्षेत्र में यातायात और सन्देशवाहन की सुविधाएँ, न्यायालय, मनोरंजन-केन्द्र, अस्पतालें, पानी के लिए नल प्रणाली, बैंक, मण्डी व मार्केट, छापेखानें, समाचार-पत्रों आदि जैसी सुविधाएँ उपलब्ध हों।

1961 जनगणना में प्रयोग किया गया मापदण्ड 1951 जनगणना के मापदण्ड से भिन्न था जिस कारण 1961 में 44 लाख जनसंख्या के 812 ऐसे क्षेत्रों को नगर ही नहीं माना गया जिनको 1951 जनगणना में नगर माना गया था। अब 5000 से 20000 जनसंख्या वाले क्षेत्रों को कस्बा (small towns), 20000 से 50000 जनसंख्या वाले क्षेत्रों को नगर (large towns), 50000 से एक लाख जनसंख्या वाले क्षेत्रों को बड़े नगर (cities) तथा एक लाख से ऊपर जनसंख्या वाले क्षेत्रों को महानगर (metropolitan areas) माना जाता है।

वैसे, केवल जनसंख्या के आधार पर किसी क्षेत्र को नगर नहीं माना जा सकता क्योंकि अलग-अलग देशों में जनसंख्यात्मक सीमा अलग-अलग मिलती है। फ्रांस, आस्ट्रिया व पश्चिमी जर्मनी में 2000 से अधिक जनसंख्या की इकाइयों को

[1] See Glass, Ruth (ed.). *Urban Rural Differences in Southern Asia*, Delhi, 1962,33.

जापान में 30000 से अधिक वाले क्षेत्र को, तथा अमरीका व डेनमार्क में 2500 से अधिक एवं नीदरलैंड में 20000 से अधिक वाले क्षेत्रों को नगर माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि जनसंख्यात्मक मापदण्ड में बहुत भिन्नता मिलती है। फिर, किसी क्षेत्र में पूर्णतः ग्रामीण व नगरीय लक्षण भी नहीं पाए जाते। प्रत्येक क्षेत्र में यद्यपि दोनों लक्षण मिलते हैं परन्तु किसी में नगरीय लक्षण अधिक तो किसी में ग्रामीण लक्षण बहुसंख्यक मिलते हैं। लक्षणों के इन्हीं अधिक संख्या के आधार पर किसी क्षेत्र को हम नगर व किसी को ग्राम मानते हैं। अतः ग्रामीण-नगरीय धारणाओं का अर्थ हमें द्वि-भाजन (dichotomy) के आधार पर नहीं किन्तु मापक्रम (scale) के आधार पर ही देखना चाहिए।

लूइस वर्थ[2] (Louis Wirth) के अनुसार समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक नगर की परिभाषा सामाजिक भिन्नता वाले व्यक्तियों के बड़े, घने बसे हुए एवं स्थायी निवास स्थान के रूप में की जा सकती है। साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि नगर एक समुदाय है जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है, जहाँ अधिक श्रम-विभाजन व विशेषीकरण मिलता है, व्यक्तियों में सामाजिक विभिन्नता पाई जाती है तथा जहाँ लोग अकृषि व्यवसाय व उद्योग एवं व्यापार आदि धन्धों में लगे रहते हैं। 'नगर' शब्द की उपर्युक्त अवधारणा के आधार पर अब हम नगरीकरण और नगरीयता धारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे।

नगरीकरण और नगरीयता की अवधारणाएँ

नगरीयता (urbanism) एक वह जीवन का तरीका है जो व्यक्तिवाद, अनामिकता (anonymity), सम्बन्धों के उपरिष्ठता (superficiality) एवं क्षणिकता (transiency), गतिशीलता, सन्देशवाहनशीलता आदि जैसे लक्षणों पर आधारित है। दूसरी ओर नगरीकरण एक वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति गाँवों से शहरों में प्रवास करते हैं अथवा गाँव नगरीय जीवन का रूप धारण करते हैं। वारन थाम्पसन (Warran Thompson)[3] के अनुसार नगरीकरण व्यक्तियों का कृषि से सम्बन्धित समुदायों से ऐसे समुदायों में संचरण (movement) है जो आकार में बड़े होते है तथा जिनकी क्रियाएँ प्रमुख रूप से सरकारी कार्यालयों, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग आदि से सम्बन्धित होती हैं। इस परिभाषा से ऐसा ज्ञात होता है कि नगरीकरण एक-दिशा प्रक्रिया (one-way process) है परन्तु एन्डर्सन[4] (Anderson) ने इस परिभाषा की आलोचना की है। उसका कहना है कि नगरीकरण केवल लोगों का गावों से शहरो मे संचरण तथा कृषि सम्बन्धित कार्य से व्यापार, नौकरी आदि शहरी

[2] Wirth, Louis, *American Journal of Sociology*, 1938, 1–24.

[3] [illegible] concerned [illegible] y larger, [illegible] facture or

[4] Anderson, Nelson, *The Urban Community*, 5.

कार्यों में प्रतिस्थापन नहीं है किन्तु इस प्रक्रिया में लोगों के विचारों, व्यवहार, मनोवृत्तियों, मूल्यों आदि में भी परिवर्तन सम्मिलित है। अतः नगरीकरण द्वि-पथवर्ती प्रक्रिया (two-way process) है। एन्डर्सन ने नगरीकरण की पांच विशेषताएँ बताई हैं : मुद्रा अर्थव्यवस्था (money economy), नागरिक प्रशासन (civic administration), सांस्कृतिक नवाचार (innovations), लिखित रिकार्ड, तथा आविष्कार।[5]

नगरीयता के लक्षण

लुइस वर्थ (Louis Wirth)[6] ने इसके चार लक्षण बताए हैं—

(1) क्षणिकता (Transiency)—जिसके अनुसार शहर का व्यक्ति पुराने परिचित लोगों को भूलता जाता है और नयी जान-पहचान पैदा करता जाता है तथा वह अपने पड़ोस आदि समूहों में लोगों के आने-जाने से अधिक प्रभावित नहीं होता है।

(2) उपरिष्ठता (Superficiality)—जिसके अनुसार व्यक्ति अपने आस-पास के व्यक्तियों को औपचारिक रूप से ही जानता है तथा उनके साथ उसके सम्बन्ध अवैयक्तिक ही होते हैं।

(3) अनामिकता (Anonymity)—व्यक्ति पहचाने जाने के भय से भीड़ मे घूमता रहता है।

(4) व्यक्तिवाद (Individualism)—जिसके अनुसार व्यक्ति अपने हितों को अधिक महत्त्व देता है।

रूथ ग्लास (Ruth Glass)[7] ने नगरीयता के निम्न लक्षणों का वर्णन किया है : (1) गतिशीलता, (2) अनामिकता, (3) व्यक्तिवाद, (4) अवैयक्तिक सम्बन्ध, (5) सामाजिक विभेदीकरण, (6) क्षणिकता, (7) शरीर-यन्त्र (organic) जैसा सामाजिक संगठन।

एन्डर्सन (Anderson)[8] ने इसके तीन लक्षण दिए हैं :

(1) समायोजन (Adjustability)—शहरी व्यक्ति बहुत समजनीय होता है क्योंकि वह सदा नये उपक्रम अपनाने के पक्ष में रहता है तथा परम्परावाद के प्रति असहिष्णुता रखता है क्योंकि यह (परम्परावाद) उसके लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधाएँ उत्पन्न करता है।

(2) गतिशीलता (Mobility)—व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता न केवल गतिशील है परन्तु वह दूसरों की सामाजिक गतिशीलता (सामाजिक स्थिति में परिवर्तन) को भी आसानी से स्वीकार करता है।

(3) विसरण (Diffusion)—वह अन्य नगरों के प्रसारित सांस्कृतिक

[5] Anderson, N. and Iswaran, *Urban Sociology*, 11.
[6] Wirth, Louis, *op. cit.*, 19.
[7] Glass, Ruth (ed.), *op. cit.*, 32.
[8] Anderson, *op. cit.*, 2.

लक्षणों को अपनाता है तथा अपने लक्षण भी विसरित करता है ।

मार्शल क्लिनार्ड (Marshal Clinard)[9] ने फिर इसकी पाँच विशेषताएँ बताई हैं : (1) तीव्र सामाजिक परिवर्तन, (2) नियमों और मूल्यों में संघर्ष, (3) जनसख्या की बढ़ती गतिशीलता, (4) भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तिवाद पर बल, (5) घनिष्ठ परस्पर संचार में ह्रास ।

उपर्युक्त लक्षणो के अतिरिक्त हम नगरीय जीवन के निम्न लक्षण भी दे सकते हैं : बाजारू मनोरंजन, वैयक्तिक परिवारों की बहुसंख्या, गन्दी बस्तियाँ, शैक्षणिक और औद्योगिक बेरोजगारी, द्वैतीयक नियन्त्रण, तथा प्रतिस्पर्धा और संघर्ष ।

नगरीय सामाजिक ढाँचे की विशेषताएँ

किंग्स्ले डेविस[10] ने नगरीय समुदाय के निम्न लक्षण दिए हैं : सामाजिक विभिन्नता, द्वैतीयक सम्बन्ध, सामाजिक गतिशीलता, व्यक्तिवादिता, स्थानीय विलगाव व पृथक्करण (spatial segregation), सामाजिक सहिष्णुता (tolerance), द्वैतीयक नियन्त्रण तथा ऐच्छिक समितियाँ । रोनाल्ड फ्रीडमैन[11] (Ronald Freedman) ने इसके छः लक्षण दिए हैं : व्यक्तियो व समूहों के मध्य कार्यात्मक अन्यान्योश्रितता, अधिक जनसख्या, सदस्यों में अन्जानापन (anonymity), सचारण (communication) साधनों का बाहुल्य, प्राथमिक सम्बन्धों का अभाव, श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण की प्रधानता ।

सोरोकिन और जिमरमैन[12] ने नगरीय सामाजिक ढाँचे की निम्न विशेषताएँ बतायी हैं :

(1) **अकृषि व्यवसाय**—नगरीय ढाँचे के लक्षणों मे सर्वाधिक महत्व व्यवसाय को दिया जाता है । जब ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि होता है, नगरीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार उद्योग, व्यापार व वाणिज्य होता है । व्यवसाय की प्रकृति के कारण ही नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्ति प्राकृतिक पर्यावरण मे कार्य न करके अधिकांशतः कृत्रिम, अवास्तविक और कोलाहलयुक्त वातावरण में ही कार्य करते हैं जिसमे ग्रीष्म ऋतु की गर्मी, शीतऋतु की सर्दी, बरसाती ऋतु की सीलन व नमी को व्यक्ति अपनी प्रवीणता द्वारा संयत करते हैं । जेम्स विलियम्स (James Williams)[13] के अनुसार अप्राकृतिक पर्यावरण में कार्य करने का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार, विचारों, व्यक्तित्व व जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर पड़ता है । व्यवसाय की प्रकृति के कारण ही व्यक्ति उदार भी मिलते हैं तो रुढ़िवादी भी, परम्परावादी भी तो आधुनिक भी, औपचारिक भी तो सम्पर्कशील भी ।

---

[9] Clinard, Marshal, *Sociology of Deviant Behaviour*.

[10] Davis, Kingsley, *Population of India and Pakistan*, 329-35.

[11] Freedman, Ronald, *Principles of Sociology*, 1952, 448.

[12] Sorokin and Zimmerman, *Principles of Rural-Urban Society*, 56-57.

[13] Williams, James, quoted by Anderson, *op. cit*.

नगरीकर
समुदाय बड़ा होता है । गाँवों में
(2) जनसंख्या का आकार—नगरीय की आवश्यकता होती है जिस कारण
कृषि करने हेतु प्रत्येक व्यक्ति को अधिक भूमिव कार्यालय भी शहरों में ही स्थापित
वहाँ कम ही लोग रहते हैं । फिर नए उद्योग करने वाले व्यक्ति अपनी व सन्तान की
किए जाते हैं जिसके कारण इनमें काम क्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि जैसी
सुविधाओं हेतु यहाँ रहना पसन्द करते हैं । लिए आकर्षित करती हैं ।
सुविधाएँ भी व्यक्तियों को शहरों में रहने के अपनी भूमि की देखभाल के लिए
(3) जनसंख्या का घनत्व—गाँवों में ना पड़ता है परन्तु शहरों में व्यक्ति का
व्यक्ति को अपनी कृषि-भूमि के पास ही रहर तत्त्वों पर निर्भर करता है । यह ही
निवास उसके आफिस, मार्केट, स्कूल आदि जैसेती हैं वहाँ रहने वाले लोगों की सख्या
कारण है कि जहाँ यह सब सुविधाएँ अधिक हहर के स्कूल, बैंक, अस्पताल, सरकारी
भी अधिक मिलती है । आज क्योंकि प्रत्येक शारण शहर मे जनसख्या का घनत्व
दफ्तर आदि की सख्या बढती जा रही है इस एक वर्गमील में औसतन 3000 से
भी अधिक मिलता है । भारत में महानगरों में घनत्व के लाभ भी हैं तो हानियाँ
5000 व्यक्ति रहते हुए मिलते हैं । इस अधिक पर्क बहुसंख्यक होते हैं, सभी विशिष्ट
भी । लाभ इस रूप में कि इससे सामाजिक सअवसर अधिक मिलते है, मित्रों के
सेवाएँ अधिक उपलब्ध होती है; विशेषज्ञता के होने के कारण एवं अपने काम मे
चुनाव की सम्भावना होती है, तथा अधिक लोगों मे इतनी कम रुचि लेते हैं जिससे
सदा व्यस्त रहने के कारण लोग दूसरों की बात दूसरी ओर हानियाँ इस रूप मे हैं
कौतूहल व फालतू गपशप से बचे रह सकते हैं हैं, एकान्तता कम होती है, सम्बन्ध
कि इससे आवासन की समस्या अधिक बढ़ जाते कारण व अलगाव के कारण मानसिक
अधिक अवैयक्तिक हो जाते हैं, मनोवैज्ञानिक पृथक्करण व्यक्ति विभिन्न रोगों से अविरत
तनाव बढता है तथा अशुद्ध हवा में रहने के का
रूप से घिरा रहता है । ने चार प्रकार के पर्यावरण बताए[14]
(4) पर्यावरण—बरनार्ड (Bernard) (composite) । भौतिक पर्यावरण
हैं : भौतिक, जैविकीय, सामाजिक और मिश्रित यु आदि मे रहता है; जैविकीय
से तात्पर्य है कि व्यक्ति किस प्रकार की जलवा पेड़-पौधों आदि से घिरा रहता है;
पर्यावरण से अर्थ है कि व्यक्ति किन जानवरों वामाजिक (physio-social) और
सामाजिक पर्यावरण का अभिप्राय भौतिक-सरण से है । पहले में हथियार,
मनोवैज्ञानिक-सामाजिक (psycho-social) पर्यावरण में जन-रीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ
यान्त्रिक उपकरण, मशीन आदि आते हैं तथा दूर राजनीतिक, प्रजातीय, शैक्षणिक
आदि । मिश्रित पर्यावरण में व्यक्ति की आर्थिक, ाने वाला भौतिक पर्यावरण धूल
आदि व्यवस्थाएँ सम्मिलित है । नगरों में पाया जर मिश्रित पर्यावरण मानव निर्मित
और धुएँ से भरा हुआ तथा सामाजिक अरण के कारण ही व्यक्तियों के
होता है । यहाँ के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक पर्याव

logy of Rural Life, 30.

[14] Bernard, quoted by Smith, Lynn, *Socio*

विचार, रहन-सहन आदि के तरीके विशिष्ट प्रकार के मि ते हैं। उदाहरण के लिए यह सामाजिक और मिश्रित पर्यावरण के कारण ही है कि यहाँ के व्यक्तियों में तर्कबुद्धिवाद, धर्मनिरपेक्षता, प्रतियोगिता आदि की भावन एँ व विचार अधिक पाए जाते हैं।

(5) **सामाजिक विभेदीकरण**—नगरों में भाषा, प्रथाओं, सामाजिक पृष्ठ-भूमि, व्यवसाय, रहन-सहन के स्तर, धार्मिक विचारों व स ामाजिक धारणाओं आदि मे अधिक विभिन्नता मिलती है। किन्तु फिर भी नगर का प्रत्येक अंग दूसरे अंगों से पूर्णता स्वतन्त्र न होकर दूसरो पर निर्भर ही रहता है। अतः सभी अंग मिलकर एक कृत्यकारी व्यवस्था (functioning whole) ही बन ाते हैं।

(6) **सामाजिक गतिशीलता**—नगरो मे व्यक्ति ए क सामाजिक प्रस्थिति से अधिक संलगित नही रहता किन्तु वह एक प्रस्थिति दूसरी प्रस्थिति से बदलता रहता है। अतः जब स्थायित्व (stability) ग्रामीण समु दाय का एक विशिष्ट लक्षण जाना जाता है, गतिशीलता फिर नगरीय समुदायों का विशिष्ट लक्षण होता है। सामाजिक प्रस्थिति मे परिवर्तन व्यवसाय बदलने से, विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करके तथा शिक्षा आदि द्वारा अधिक सम्भव होता है। गतिशीलत ा समस्तरीय (horizontal) भी मिलती है तो विषमस्तरीय (vertical) भी। समस्तर ीय गतिशीलता का उदाहरण है कि एक श्रमिक अनिपुण से अर्द्धनिपुण और फिर नि पुण श्रमिक की प्रस्थिति प्राप्त करे। तीनों स्तर पर वह रहता तो श्रमिक ही है परन्तु आय, रहन-सहन के स्तर आदि उसके भिन्न होते हैं। दूसरी ओर श्रमिक से परिवीक्षक, परिवीक्षक से मैनेजर और मैनेजर से मालिक की प्रस्थिति में परिवर्त न विषमस्तरीय गतिशीलता का उदाहरण है।

सामाजिक गतिशीलता के अलावा शहरों में भौगोलिक गतिशीलता भी अधिक मिलती है। व्यक्ति न केवल एक ही शहर में एक पड़ोस से निकल कर दूसरे पड़ोस मे जाते रहते हैं परन्तु यह स्थानान्तरण एक शह र से दूसरे शहर में भी अधिक मिलता है।

नगरों मे अधिक गतिशीलता पाए जाने को सम झाते हुए सोरोकिन[15] और स्मिथ (Smith)[16] ने निम्न पाँच कारण दिए हैं: (i) शहरो मे वे संस्थाएँ अधिक मिलती हैं जो स्थिति परिवर्तन में श्रेष्ठ प्रस्थिति प्राप्त के लिए सीढ़ी का कार्य करती हैं। (ii) शहरों मे सामाजिक परिवर्तन की ग ति अधिक तीव्र होती है जिस कारण सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण भी तेजी से बदलते हैं तथा गतिशीलता की गति भी तेज होती है। (iii) माता-पिता और सन्ता न के मनोवैज्ञानिक-सामाजिक लक्षणों में इतना अन्तर मिलता है कि ऊँची योग्यता वाले बच्चे आसानी से श्रेष्ठ प्रस्थिति प्राप्त करते हैं। (iv) शहरों में जाति की संरचना भी इतनी अपरिवर्तनीय नहीं होती

[15] Sorokin and Zimmerman, *op. cit.*

[16] Smith, Lynn, *op. cit.*, 32.

जिससे प्रस्थिति परिवर्तन अधिक सम्भव होता है। (v) शहरों में पायी जाने वाली विभेदक जननक्षमता (differential fertility) के कारण ऊँची स्थिति में रिक्त स्थान अधिक होते है जो गतिशीलता के लिए आवश्यक रिक्ति (vacuum) उत्पन्न करते है।

(7) **सामाजिक अन्तःक्रिया**—शहरों में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध प्राथमिक न होकर द्वैतीयक अधिक होते है, व्यक्तिगत न होकर अवैयक्तिक मिलते हैं, घनिष्ठ न होकर सीमित होते है तथा स्थिर न होकर क्षणिक पाए जाते है। सम्बन्धों के समझौते-युक्त होने के कारण लोग दूसरों के कार्यों से ही परिचित रहते हैं, उनके व्यक्तिगत अधिकारों व हितों मे कोई रुचि नही लेते। यह ही अपरिचितता अप्रत्यक्ष रूप से विचलित व्यवहार को भी जन्म देती है।

(8) **सामाजिक एकता**—शहरों में सामाजिक एकता यान्त्रिक (mechanical) न होकर सावयवी (organic) मिलती है। पहली एकता की विशेषता एकरूपता व द्वितीय की विभिन्नता है। सावयवी एकता में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अस्तित्व अलग-अलग मान्य हो जाता है तथा यान्त्रिक एकता में व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के सामूहिक व्यक्तित्व में विलीन हो जाता है। नगरों में सावयवी एकता के कारण सभी व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर भी अधिक रहते हैं।

नगरों का विकास

नगरों का विकास जन्म-दर व प्रवसन-दर पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि कारक भी नगरो के विकास में योग देते हैं। राजनीतिक कारकों में किसी शहर का राजधानी होना (दिल्ली), राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र होना, सेना प्रशिक्षण का प्रमुख स्थान होना (जोधपुर), एवं युद्ध सामग्री निर्माण का केन्द्र होना, आर्थिक कारकों में नगर का व्यापार का केन्द्र होना या किसी बड़े उद्योग या उत्पादन का केन्द्र होना (कोटा, अहमदाबाद, कानपुर); धार्मिक कारकों में उसका तीर्थस्थान होना (हरिद्वार, काशी, इलाहाबाद), तथा शैक्षणिक कारणो में उसका प्रमुख शैक्षणिक महत्त्व का केन्द्र होना (पिलानी) प्रमुख हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि औद्योगीकरण, यातायात की सुविधाएँ, व्यापार एवं ग्रामों से प्रवसन आदि कारक नगरों के विकास में महत्त्वपूर्ण रहते हैं। भारत में नगरों का विकास तीव्र गति से होता जा रहा है। 1921 मे जब देश की कुल जनसंख्या का 11·4 प्रतिशत शहरों में रहता था, 1971 में यह बढ़कर 20 प्रतिशत हो गया। 1921–31 के मध्य जब नगरीय जनसंख्या 18·4 प्रतिशत बढ़ी, 1951–61 के मध्य 129·6 प्रतिशत बढ़ी। 1931 मे जब यहाँ एक लाख जनसंख्या से अधिक वाले शहरों की संख्या 32 थी, 1971 में यह बढ़कर 147 हो गई। इसी प्रकार 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरों की संख्या 1951 मे 2 से बढ़कर 4, और 1971 में 9 हो गयी।[17] इस

[17] Bulsara, J. F., *Patterns of Social Life in Metropolitan Areas*, 195–231.

विकास का व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि जीवन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है, अतः हम अब इसी प्रभाव का विश्लेषण करेंगे।

नगरीकरण, नगरीयता और सामाजिक जीवन

नगरीयता का सामाजिक जीवन पर प्रभाव विभिन्न आधार पर देखा जा सकता है, जैसे परिवार पर प्रभाव, स्त्रियों की स्थिति पर प्रभाव, जाति की संरचना पर प्रभाव, परम्पराओं और धारणाओं पर प्रभाव, ग्रामीण जीवन पर प्रभाव, तथा सामाजिक समस्याओं पर प्रभाव।

(1) **नगरीयता और परिवार**—नगरीकरण और नगरीयता का परिवार पर प्रभाव सरचना एवं सम्बन्धों की दृष्टि से देखा जा सकता है। संरचना की दृष्टि से यहाँ वैयक्तिक परिवार व एक सदस्यी परिवार अधिक मिलते है। जो परिवार सयुक्त भी है वे भी छोटे आकार के ही मिलते है। आई० पी० देसाई ने गुजरात में महुआ कस्बे मे 1955–57 के मध्य किए गए 423 परिवारों के अध्ययन में पाया कि 28·3 प्रतिशत परिवार पूर्णतः वैयक्तिक थे, 39·3 प्रतिशत क्रियात्मक रूप से, सम्पत्ति की दृष्टि से व सीमांतरीय (marginally) संयुक्त थे[18] (अथवा रहने की दृष्टि से वैयक्तिक परन्तु कार्य करने व सम्पत्ति आदि की दृष्टि से संयुक्त) और 32·4 प्रतिशत पूर्णतः संयुक्त थे। संयुक्त होने की मात्रा के आधार पर उसने पाया[19]; 4·96 प्रतिशत परिवारों में संयुक्त होने की मात्रा शून्य थी, 26·48 प्रतिशत में निम्न, 17·02 प्रतिशत में उच्च, 30·26 प्रतिशत मे उच्चतर तथा 21·28 प्रतिशत में उच्चतम थी। इससे स्पष्ट है कि नगरों मे वैयक्तिक परिवारों की संख्या बढ़ रही है और संयुक्त परिवारो की सख्या घट रही है। देसाई ने यह भी पाया कि जो परिवार सयुक्त हैं उनमे केवल दो या तीन पीढियो के सदस्य ही अब इकट्ठे रहते हैं। कपाडिया ने भी 1955–56 मे गुजरात मे नवसारी कस्बे व उसके आसपास के 15 गाँवो के 1345 परिवार के अध्ययन में पाया कि 43·7 प्रतिशत परिवार वैयक्तिक थे और शेष एकायामी (linealy) या भिन्नशाखीय (collaterally) संयुक्त।[20] एम० एस० गोरे[21] ने अपने दिल्ली शहर व हरियाना के दो जिलो के कुछ गाँवों के अध्ययन मे तथा एलिन रास[22] ने बेंगलोर नगर मे 157 हिन्दू मध्यवर्ग परिवारों के अध्ययन मे पाया कि नगरों में सयुक्त रहन-सहन मे परिवर्तन आ रहा है।

---

[18] Desai, I. P., *Some Aspects of Family in Mahuwa*, Asia Publishing House, Bombay, 1964, 41.

[19] *Idid.*, 69.

[20] Kapadia, K. M., *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay, (third edition), 1966, 283.

[21] Gore, M. S., *Urbanisation and Family Change*, Popular Prakashan, Bombay, 1968, 241–248.

[22] Ross, Allen, D., *The Hindu Family in its Urban Setting*, Oxford University Press, 1961, 49.

संयुक्त परिवारों के प्रति विचारों के अध्ययनों मे के० टी० मरचेंट[23], बी०वी० शाह[24], कपाडिया[25], गोरे[26], दिल्ली जनमत इंस्टीट्यूट[27] आदि ने पाया कि अधिकांश लोग अब भी संयुक्त परिवारो के पक्ष में ही है। मरचेंट ने 533 व्यक्तियो में से 50 प्रतिशत को, शाह ने बड़ौदा विश्वविद्यालय के 200 छात्रों मे से 39·5 प्रतिशत को, गोरे ने 1274 व्यक्तियो मे से 78·6 प्रतिशत को, कपाडिया ने 513 शिक्षकों में से 83·3 प्रतिशत को, तथा दिल्ली इंस्टीट्यूट ने 60·5 प्रतिशत को संयुक्त परिवार के पक्ष में पाया। इससे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि नगरो मे लोग रहने की *दृष्टि से तो वैयक्तिक परिवार किन्तु कार्य की दृष्टि से संयुक्त परिवार* को अधिमान्यता देते हैं।

सम्बन्धों की दृष्टि से भी नगरीय परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता जा रहा है। एलिन रास, एम० एस० गोरे, कपाडिया, आदि ने भी इस सम्बन्ध में पति-पत्नी, माता-पिता-सन्तान, व भाई-भाई आदि सम्बन्धो में परिवर्तन का वर्णन किया है। रास का कहना है कि आने वाले कुछ वर्षों में परिवार के प्रतिबन्धन व दायित्व सम्बन्धी विचार क्षीण होते जायेंगे, सदस्यो से भावात्मक लगाव कम होता जाएगा और परिवार के मुखिया के अधिकार समाप्त होते जायेंगे।[28] कपाडिया ने कहा है कि शहरी परिवारो में माता-पिता अपनी सत्ता सन्तान पर प्रभाव पूर्णता थोपते नही और न ही बच्चे अपने बड़ो के आदेश आँख मूँदकर मान लेते है।[29] परिवार के अपने समवशी समूहों (kin groups) से सम्बन्ध भी अधिक गहरे और घनिष्ठ नही रहे है। दूर के स्वजनो (kins) के साथ सम्बन्ध या तो टूटते जा रहे हैं या फिर क्षीण होते जा रहे है।

किन्तु आई० पी० देसाई परिवार पर नगरीकरण के प्रभाव को अधिक नहीं मानते। उन्होंने अपने सर्वेक्षण में 423 परिवारों को शहर में रहने की अवधि के आधार पर तीन समूहों में विभाजित किया: (1) नये परिवार जो शहर में 25 वर्ष से कम अवधि से रह रहे थे; (2) 'पुराने परिवार' जो 25 वर्षों से अधिक परन्तु 50 वर्षों से कम समय से शहर मे रह रहे थे और; (3) 'बहुत पुराने' परिवार जो 50 वर्षों से अधिक समय से शहर में रह रहे थे। उनका कहना था कि यदि नगरीकरण का परिवार पर प्रभाव है तब जो व्यक्ति शहरों में बहुत लम्बे समय से रहते हैं उनमें संयुक्त परिवार के नियमों का पालन कम और वैयक्तिक परिवारों की संख्या अधिक, और जो कम समय से रह रहे हैं उनमें संयुक्त परिवार नियमों का पालन

---

[23] Merchant, K. T., *Changing Attitude towards Marriage and Family in India*, 1934, 123.
[24] Shah, B. V., *Social Change and College Student of Gujarat*, 43–46.
[25] Kapadia, *op. cit.*, 283.
[26] Gore, M. S, *op. cit.*, 112-13.
[27] Indian Institute of Public Opinion, *Public Opinion*, Delhi, Oct.
[28] Ross, A., *op. cit.*, 51.
[29] Kapadia, K. M., *op. cit*, 326.

अधिक और वैयक्तिक परिवारों की संख्या कम f मिलनी चाहिए। इस आधार पर उसके उपर्युक्त तीन समूहों में 'बहुत पुराने परि वारों' के तीसरे समूह में पहले और दूसरे समूहों की तुलना में संयुक्त परिवारों की सं ख्या कम मिलनी चाहिए थी। परन्तु उन्होंने पाया कि इसके विपरीत तीसरे समूह में पहले दो समूहों की तुलना में संयुक्त परिवार अधिक थे।[30] अतः उसने यह निष्कर्ष नि काला कि परिवारों के ढाँचे सम्बन्धी परिवर्तन में नगरीकरण प्रमुख तत्व नहीं है। कि न्तु हम देसाई की इस उपकल्पना को इस आधार पर स्वीकार नहीं कर सकते कि ती न समूहों में जो उसने समय-अवधि ली वह बहुत अधिक थी। जो व्यक्ति शहर में 25 वर्षों से या 50 वर्षों से रह रहे है उनमें अधिक अन्तर नहीं पाया जा सकता। अतः यदि देसाई समय अवधि कम लेते तब सम्भवतः उन्हें उपर्युक्त निष्कर्ष न मि लता। इस कारण हम परिवार पर नगरीकरण के प्रभाव को पूर्णतः अस्वीकार नहीं कर सकते। हम गोरे[31] के इस उपकल्पना को स्वीकार करते हैं कि नगरीय प रिवारों के सदस्यों के विचारों, व्यवहार एवं भूमिका अनुभूति में संयुक्त परिवार के निय मों से विचलन अधिक मिलता है।

(2) नगरीयता और जाति संरचना— शहरों में जाति प्रथा के नियमों का बहुत कठोरता से पालन नहीं किया जाता। य हाँ खान-पान, विवाह व सामाजिक अन्त:क्रिया आदि पर प्रतिबन्धों में काफी ढील f मिलती है। परन्तु नरमदेशवर प्रसाद[32] जैसे विद्वानों का विचार है कि नगरीकरण ने जाति के सभी लक्षणों पर समान प्रभाव नहीं डाला है। उदाहरण के लिए उसने बिहार में 1956 में गाँव व शहर में किए गए 5 जातियों (ब्राह्मण, राजपूत, धोबी, अहीर अ र चमार) के 200 व्यक्तियों (100 छपरा जिले के एक ग्राम में और 100 छपरा शहर में) को अध्ययन किए गए सर्वेक्षण के आधार पर पाया कि सभी सर्वेक्षण कर्ताओं ने विवाह अपनी ही जाति में किया था यद्यपि 20 प्रतिशत शहर में रहने वा ले व 5 प्रतिशत गाँव में रहने वाले सूचनादाता अन्तरजातीय विवाह के पक्ष में थे। व्यवसाय की दृष्टि से शहर में रहने वाले सूचनादाताओं में से कोई भी अपना परम रागत जातीय व्यवसाय नहीं कर रहा था जबकि गाँव में 81 प्रतिशत व्यक्ति परम्पर ागत और 19 प्रतिशत किसी अन्य व्यवसाय में लगे थे। परम्परागत व्यवसाय से विचलन अहीर और राजपूत जातियों में अधिक तथा चमार और धोबी जातियों में बहुत कम था। इसी प्रकार नरमदेश्वर प्रसाद ने यह भी पाया कि शहरों में जाति एव ता अधिक नहीं मिलती, जाति-पंचायत सामयिक और अस्थायी संस्था की तरह कार्य करती है एवं उसका सदस्यों पर नियंत्रण अति कठोर नहीं होता तथा जाति ध र्म का पालन भी ढीला पाया जाता है। कपाडिया, घुर्ये, डेविस आदि ने भी जाति पर नगरीकरण के प्रभाव का वर्णन किया है। कपाडिया का कहना है[33] कि शहरों के f वकास ने उन खान-पान आदि सम्बन्धी

---

[30] Desai, I. P., *op. cit.*, 117.
[31] Gore, M. S., *op cit*, 49–50, 225. *h of the Caste System*, 1957.
[32] Prasad, Narmadeshwar, *The Myt* *letin*, Sep. 1959, Vol. 8., No. 2, 74.
[33] Kapadia, K. M., *Sociological Bul*

प्रतिबन्धों को काफी क्षीण बनाया है जो कुछ समय पूर्व तक जाति व्यवस्था के लक्षण माने जाते थे। घूर्ये का विचार है[34] कि प्रवासी जनसख्या के साथ नगरीय जीवन के विकास ने जाति के कठोर नियमों को परिवर्तित कर दिया है तथा (जाति के सदस्य) प्रारम्भ में विवशता के कारण जो कार्य करते थे अब वह (उनके लिए) शहरी वातावरण मे दैनिक क्रम बन गया है। किंग्स्ले डेविस[35] की मान्यता है कि अनामिकता संकुलता, गतिशीलता, धर्मनिरपेक्षता आदि ने जाति व्यवस्था के नियमो के पालन को कार्यतः असम्भव बना दिया है। छुआछूत के प्रति विचारों मे भी उदारता मिलती है। हरिजनों के शोषण व उत्पीड़न के जो उदाहरण गावो मे मिलते हैं वे शहरों में नही मिलते।

(3) **नगरीयता और स्त्रियों की स्थिति**—नगरों में स्त्रियो की स्थिति भी ऊँची मिलती है। इसका एक कारण उनका कुछ शिक्षित होना तथा कुछ स्त्रियों का आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होना भी हो सकता है। 1971 के आँकड़ों के अनुसार 13 प्रतिशत ग्रामीण महिलाओ के साक्षर होने की तुलना में 41 प्रतिशत शहरी महिलाएँ साक्षर है। फिर, शहरों में रहने वाली लड़कियाँ विवाह के समय शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व भावात्मक रूप में भी परिपक्व (matured) होती हैं। इस परिपक्वता, शिक्षा आदि के कारण वे पूर्ण रूप से पति पर निर्भर न होकर उल्टा उन्हें उनकी अपेक्षित भूमिकाएँ निभाने मे सहायता करती हैं। अतः शहरो मे स्त्री-पुरुष की पारस्परिक निर्भरता इतनी मिलती है कि पुरुष स्त्री को निम्न स्थिति न देकर बराबर की स्थिति ही देता है। शहरों की स्त्रियां परदा आदि जैसी परम्परागत प्रथाओं मे भी अधिक विश्वास नही करती। अपनी भूमिकाएँ घर की चहारदीवारी तक सीमित न कर वे सभी क्षेत्रों मे रुचि लेती हैं तथा प्रशंसनीय क्षमताओं का प्रदर्शन करती है। अपने को क्षीण और निर्भर जीवन साथी न समझकर समान अधिकारो पर बल देती हैं।

(4) **नगरीयता, विचार और परम्पराएँ**—शहरो मे रहने वाले व्यक्तियो के विचार, धारणाएँ, आकांक्षाएँ व प्रथाएँ भी अलग होती हैं। उदाहरण के लिए लड़कों और लडकियो को शिक्षा देने के विचार, विवाह की आयु-सम्बन्धी विचार, स्त्रियों को स्वतन्त्रता देने सम्बन्धी विचार, लड़को और लड़कियों की पारस्परिक अन्तःक्रिया सम्बन्धी विचार, अविवाहित लड़कियो और विवाहित स्त्रियो द्वारा नौकरी करने सम्बन्धी विचार, मनोरंजन सम्बन्धी विचार आदि में बहुत उदारता मिलती है।

नगरीकरण का ग्रामीण जीवन पर प्रभाव

यातायात साधनों एव आवागमन सुविधाओ के विकास के कारण बहुत से ग्रामीण नगरवासियो के अधिक निकट सम्पर्क में रहते है। कुछ तो शहरों में कारखानो आदि में काम करने के लिए एव अपनी उपज शहरी बाजार मे बेचने के

[34] Ghurye, G. S., *Caste, Class and Occupation*, Popular Book Depot, Bombay, 202.

[35] Davis, Kingsley, *op. cit.*

लिए प्रतिदिन गाँव से शहर आते हैं; कुछ यदाकदा आते रहते हैं और बहुतों का सम्पर्क फिर समाचार-पत्र, रेडियो आदि साधनों से बना रहता है। इन सम्पर्कों के कारण नगरीय सांस्कृतिक लक्षणों का विसरण गाँवों तक होता रहता है। जब ग्रामीण आविष्कारों और नवीन प्रक्रियाओं को स्वीकार करता है तब वह नगरीय सभ्यता और नगरीय जीवन के तरीके से अवश्य ही प्रभावित होता है। इस प्रभाव के कारण उसके विचार बदलते हैं, वह परम्परागत मूल्यों और संस्थाओं को अस्वीकार करता है, धर्म और संस्कारों को कम मानता है; कृषि व्यवसाय के लिए आधुनिक उपाय अपनाता है तथा जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए नई आकांक्षाएँ रखता है। यथासम्भव वह बच्चों को शिक्षा देकर उनका भविष्य बनाने का भी प्रयास करता रहता है। जीवन-यापन के लिए कृषि तक सीमित न रहकर अन्य सहायक साधनों को भी अपनाने का यत्न करता रहता है। परिवार, विवाह आदि जैसी सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक जीवन पर भी नगरीकरण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। शनैः शनैः बाल-विवाह की प्रथा, जाति-संरचना में कठोरता, परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि में परिवर्तन होता जा रहा है। पहले जब जाति-पंचायत व ग्राम-पंचायत के निर्णय को अन्तिम निर्णय मानकर स्वीकार किया जाता था अब शहरी व्यक्तियों की तरह ग्रामीण भी विविध संघर्ष न्यायालय तक ले जाते हैं। आपसी सहयोग और सहानुभूति कम होती जा रही है। द्वैतीयक संगठन अधिक बलवती होते जा रहे हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा सम्बन्धी प्रस्थिति पर निर्भर न रहकर साधित प्रस्थिति द्वारा निर्धारित होने लगी है तथा व्यक्ति का सम्मान केवल उसके परिवार की स्थिति द्वारा निर्धारित न होकर उसके व्यक्तिगत गुणों द्वारा भी निर्धारित होता है। एलोपैथी चिकित्सा, प्राकृतिक चिकित्सा का स्थान लेती जा रही है। ग्रामीणों की राजनीति अब जाति तक सीमित न रहकर ग्राम, राज्य व राष्ट्रीय स्तर तक फैलती जा रही है। पचायती-चुनावों में उम्मीदवार के व्यक्तिगत गुण न देखकर उसके राजनीतिक दल सम्बन्धी पृष्ठभूमि को महत्त्व दिया जाता है। राज्य और राष्ट्रीय स्तर के चुनावों में भी ग्रामीण अपने वोट के महत्त्व को समझने लगा है।

परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि नगरीकरण का ग्रामों पर प्रभाव इतना गहरा है कि आने वाले कुछ वर्षों में गाँवों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा एवं गाँवों में पूर्णतया नगरीय जीवन के तरीके ही मिलेंगे। परिवार पर प्रभाव होते हुए भी यह (परिवार) अब भी अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का कार्य करता है। जब तक परिवार यह परम्परागत कार्य करता रहेगा, गाँवों में परिवार-वाद (familism) का महत्व बना रहेगा तथा व्यक्तिवादी विचार अधिक विकसित नहीं हो पायेंगे। इसी प्रकार जाति-संरचना के कुछ लक्षणों में परिवर्तन के उपरान्त भी, जाति का सदस्यों पर प्रभाव पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ है और न आने वाले समय में इसकी कोई सम्भावना ही है। बच्चों को शिक्षा दिलाने के उपरान्त भी ग्रामीण बहुत सी बातों में अब भी रूढ़िवादी ही हैं। अत: जब तक परिवार, पड़ोस, जाति आदि का सामाजिक नियन्त्रण ग्रामीणों पर रहेगा, नगरों का जीवन गाँवों के

जीवन को स्थानान्तरित नही करेगा। नगरीकरण का ग्रामों पर प्रभाव मानते हुए भी हम यह स्वीकार नही कर सकते कि प्राथमिक संगठनों का प्रभुत्व ढीला पड़ता जा रहा है। सम्भवतः हम यह मान सकते हैं कि ग्राम-नगरीकरण (rurbanization) एवं ग्रामीण और नगरीय लक्षणों का सम्मिश्रण की प्रक्रिया अधिक मिलेगी।

नगरीकरण और सामाजिक समस्याएँ

नगरीकरण के कारण कुछ सामाजिक समस्याएँ भी विकसित हो रही हैं जिन में आवास, गन्दी बस्तियाँ, बाल व वयस्क अपराध, शराबखोरी, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति आदि प्रमुख हैं। नगरों की जनसंख्या इतनी तीव्र गति से बढ़ रही है कि लोगों को आवासन की समस्या का कठिन सामना करना पड़ रहा है। एक सर्वेक्षण के अनुसार[36] बम्बई में अध्ययन किए गए 13369 व्यक्तियों में से केवल 4·8 प्रतिशत अपने मकानों मे रहते हुए मिले तथा 86·6 प्रतिशत किराए के मकानों में। कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास आदि महानगरों में भी ऐसी ही अवस्था मिली। बम्बई में जब 77·6 प्रतिशत व्यक्ति एक ही कमरे के मकान मे रहते मिले, दिल्ली में 69·1 प्रतिशत, तथा कलकत्ता में 57·6 प्रतिशत। एक छोटे कमरे में रहने वाले व्यक्तियों की औसतन संख्या 5·4 पायी गयी। जब सभ्य स्तर के अनुसार एक दम्पत्ति को रहने के लिए औसतन 200 वर्ग फुट स्थान की आवश्यकता होती है, हमारे देश के महानगरों में उन्हें 30 वर्ग फुट से भी कम स्थान प्राप्त है, पृथक् रसोई, स्नानघर, आदि के अभाव में 70 प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति निम्नस्तर की अवस्था में ही रहते हैं। इस संकुलता का प्रभाव आर्थिक, सामाजिक, व पर्यावारिक (environmental) दृष्टि से देखा जा सकता है। आर्थिक व पर्यावारिक दृष्टि से लोग क्योंकि स्वयं का मकान बनवाने तथा अधिक किराया देने के समर्थ नहीं होते, अतः वे या तो भौतिक रूप से अवह्रसित (physically deteriorated) मुहल्लों में सस्ते मकानों मे रहते हैं, या गन्दी बस्तियों मे। फिर एक छोटे से मकान में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होने का उनके एकान्तता, रहन-सहन व विचारों पर भी प्रभाव पड़ता है। सामाजिक दृष्टि से इसका प्रभाव परिवार के ढाँचे, स्वजनों से सम्बन्धों एवं बच्चों के विकास पर गहरा दिखाई देता है।

आवास की समस्या की तरह लोगों का नैराश्य, कुण्ठा व विफलता अन्य बहुत सी समस्याएँ भी उत्पन्न करता है। अधिक रुपया कमाने की इच्छा से जब पति-पत्नी दोनों नौकरी करने जाते हैं तो बच्चों में सामाजिक नियन्त्रण के अभाव मे अपराधी मनोवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कुछ व्यक्ति फिर वैध साधनों द्वारा आवश्यकता के अनुसार धन न कमा सकने की अवस्था में अवैध व असामाजिक साधन उपयोग करते हैं। कुछ लड़कियाँ निर्धनता के कारण वेश्यावृत्ति को अपनाने के लिए बाध्य हो जाती हैं। कुछ निर्धन व्यक्ति शराबखोरी, जुआ आदि जैसी दुर्वृत्तियाँ अपनाते हैं

[36] Balsara, J. F., *op. cit.*, 212.

तथा कुछ धनोपार्जन का कोई भी साधन न ढूँढ़ पाने की अवस्था में भीख माँगना शुरु करते हैं। यह ही कारण है कि नगरों में हमें इन सभी समस्याओं की मात्रा बढ़ती हुई मिलती है।

नगरीकरण के इन प्रभावों को देखते हुए नगरों के विकास को नियन्त्रित करना एवं शहरों के लिए विकास-योजना बनाना अति आवश्यक दिखाई देता है। यह आयोजन विखण्डन (dispersion) और विकेन्द्रीकरण (decentralisation) प्रक्रियाओं द्वारा ही सम्भव हो सकता है। विखण्डन प्रक्रिया से यहाँ अभिप्राय है जनसंख्या को छोटे आकार के समुदायों में अनुगमन करना तथा विकेन्द्रीकरण का अर्थ नगरों के परिसरीय (peripheral) विकास एवं नगर क्षेत्र के विस्तार से है। नगर योजना में हमें स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर दायित्व को निश्चित करना होगा तथा तत्काली (immediate), मध्यस्थित (medium) और दीर्घकालीन योजनाओं का नियोजन करना होगा। यह निवास-सम्बन्धी विकेन्द्रीकरण, औद्योगिक विखण्डन, उद्योगों की तटीय स्थानों (fringe) पर स्थापना करना तथा नगर योजना ही शहरों के अस्त-व्यस्त विकास को रोकेगा, नगरीय समुदाय में सावयवी (organic) व्यवस्था स्थापित करेगा, तथा नगरीकरण के कुप्रभावों को रोकेगा।

8 औद्योगीकरण
(INDUSTRIALISATION)

औद्योगीकरण को साधारणतः प्रोद्योग (technology) से संश्लिष्ट किया जाता है। कुछ व्यक्ति प्रोद्योग को इंजीनियरी, मशीनरी, बिजली आदि से ग्रथित करते हैं तो कुछ इसे उन रेडियो, रेफरीजरेटर, टेप-रिकार्डर, टेलीफोन, टेलीविजन, इत्यादि विभिन्न युक्तियों (gadgets) से जोड़ते हैं जो उन्हें घरों, दफ्तरों, होटलों, रेस्तरां आदि में सुख-सुविधा व आराम बढ़ाने के लिए मिलते हैं। यह सब युक्तियाँ क्योंकि प्रोद्योग की उपज हैं इस कारण साधारण व्यक्ति प्रोद्योग को एक ऐसा साधन मानते हैं जो हमारी सहायता के लिये यांत्रिक उपाय उपलब्ध करता है यद्यपि कभी-कभी ये हमारे लिए दुःखदायी व अहितकर भी सिद्ध होते हैं। लेविस ममफोर्ड (Lewis Mumford)[1] ने भी कहा है कि प्रोद्योग को परिवर्तन के कारण के रूप में देखा जाता है, फिर वह परिवर्तन लाभदायक है या हानिकारक।

औद्योगीकरण और प्रोद्योग का उपर्युक्त दृष्टिकोण बहुत सीमित है। विस्तृत दृष्टि से प्रोद्योग को शिल्पविज्ञान (technics) का अध्ययन और औद्योगीकरण को उद्योगों में मानव-शक्ति व पशु-शक्ति के स्थान पर अधिक से अधिक प्रौद्योगिकी अथवा निर्जीव (inanimate) शक्ति के प्रयोग करने के रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि प्रौद्योगिकी वस्तुएँ उत्पादन करने सम्बन्धी अध्ययन सामाजिक विज्ञानों का नहीं परन्तु भौतिक विज्ञानों का केन्द्र-बिन्दु है किन्तु सामाजिक विज्ञानों में, विशेषतः समाजशास्त्र में, हम यह अध्ययन करते हैं कि व्यक्तियों के विचार, व्यवहार, विभिन्न समूहों से सम्बन्ध, संस्थाएँ आदि भौतिक संस्कृति से कैसे प्रभावित होते हैं।

औद्योगीकरण का विकास अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों से ही मिलता है। आज संसार का प्रत्येक देश या तो पूर्ण रूप से औद्योगीकरण में बंध गया है या बंधने के प्रयास में पाया जाता है। इसके फलस्वरूप समाजों में और व्यक्तियों के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गये हैं। एक ओर औद्योगीकरण द्वारा प्रति व्यक्ति आय बढ़ाकर व्यक्तियों का जीवन स्तर ऊँचा उठाया गया है, मानव को श्रम के कष्ट-दायक बोझ से छुटकारा दिलाकर उसे अपने मानसिक विकास के लिए अधिक समय उपलब्ध कराया गया है, कृषि में यान्त्रिक उपाय अपनाकर व कृषि उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर देश को खाद्य पदार्थों में आत्म-निर्भर बनाया गया है, तो दूसरी ओर इससे

[1] Mumford, Lewis, *Technics and Civilization*, Harcourt Brace, N. York, 1934.

पुराने रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मान्यताओं आदि में भी परिवर्तन आ गया है। इसके साथ फिर, बेरोजगारी बढ़ गयी है, व्यक्तियों का दृष्टिकोण अधिक भौतिकवादी हो गया है, श्रमिकों की कलात्मक कुशलता तथा कला और कुटीर उद्योगों का पतन हुआ है और व्यक्ति का जीवन यान्त्रिकीय हो गया है तथा उसके कार्य में नीरसता आ गयी है। औद्योगिक नगर विभिन्न समस्याओं के केन्द्र बन गये है तथा व्यक्तिवाद जैसी भावनाओं का विकास हुआ है।

औद्योगीकरण, कार्ल मार्क्स और सामाजिक परिवर्तन

मार्क्स और वेबलिन जैसे विद्वानों का विश्वास है कि समाज में सम्पूर्ण परिवर्तन औद्योगिक कारणों की वजह से ही होता है। समाज के आर्थिक ढांचे को बुनियादी ढांचा तथा अधोसंरचना (substructure) और अन्य सभी ढाचों को ऊपरी भाग व अधिसंरचना (superstructure) मानकर मार्क्स उत्पादन के उपकरणों (औज़ार, यन्त्र आदि) में परिवर्तन के कारण बुनियादी संरचना में परिवर्तन द्वारा पूरे अधिसंरचना में परिवर्तन व समाज के निर्माण को समझाता है। उसका कहना है कि उत्पादन अनुभव व श्रम कौशल प्राप्त करके मनुष्य अधिक से अधिक भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करना है। इस प्रकार वह उत्पादन के उपकरणों के साथ श्रम-कौशल को भी समाज की उत्पादक-शक्ति का प्रमुख तत्त्व मानता है। उत्पादक शक्ति और उत्पादन सम्बन्धों के योग से जो समाज की आर्थिक संरचना होती है वह ही राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक व वैज्ञानिक ढांचों का निर्माण करती है। इस प्रकार मार्क्स समाज के विकास के इतिहास को वास्तव में उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास मानता है। उसके मतानुसार सरकार, कला, धर्म, विश्वास व पूरे मानव जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों, जनसंख्या की वृद्धि, आदि कारकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है परन्तु यह सब सामाजिक परिवर्तन के निर्णायक कारक नहीं हैं। वह यह भी मानता है कि नवीन उत्पादक शक्तियों व उत्पादन सम्बन्धों का उद्भव पुरानी व्यवस्था के समाप्त हो जाने के बाद नहीं किन्तु पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत ही होता है। दूसरे शब्दों में नवीन व्यवस्था का बीज पुरानी व्यवस्था में ही अन्तर्निहित होता है। अतः सामाजिक परिवर्तन एक अनोखी नहीं परन्तु एक स्वाभाविक घटना है।

भारत में औद्योगीकरण

सोलहवीं शताब्दी तक भारत उद्योगों के विकास की दृष्टि से समृद्ध देश माना गया है। सूती वस्त्रोद्योग तथा लोहे व पीतल के उद्योगों का विकास इस सीमा तक हुआ था कि उत्पादन का कुछ भाग अन्य देशों में भी निर्यात किया जाता था किन्तु पुर्तगीज व अंग्रेजी शासन के उपरान्त बड़े व लघु उद्योगों का ह्रास होता गया। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के कारण भारत से कच्चा माल इंग्लैण्ड निर्यात कर वहाँ से उसी कच्चे माल से वस्तुएँ बनाकर भारत भेजी जाने लगीं। सत्तरहवीं और

अठारहवी शताब्दियों में औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही भाप की शक्ति से चलने वाले करघों का अन्वेषण हुआ। इसने इंग्लैण्ड को एक प्रकार सारे संसार का वर्कशाप बना दिया। इससे इंग्लैण्ड में उद्योगों का अद्भुत विकास हुआ किन्तु भारत से कच्चे माल बाहर भेजने, यहां वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाने एवं बाजार में विदेशी माल को प्रोत्साहन देने की नीति के कारण भारत में निर्धनता बढ़ने लगी। उन्नीसवी शताब्दी में रेलों की स्थापना ने भारतीय नगरों व गाँवों को उत्पादन-केन्द्रों की अपेक्षा वितरण-केन्द्र बना दिया। 1872 में जब हमारी 61 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर तथा 39 प्रतिशत अन्य उद्योगो पर निर्भर थी, 1921 में 73 प्रतिशत कृषि पर व 27 प्रतिशत अन्य उद्योगों पर निर्भर हो गयी जिससे भारतीय उद्योगो के ह्रास की स्थिति स्पष्ट होती है। प्रथम विश्वयुद्ध तक हमारे यहाँ किसी प्रकार का औद्योगीकरण नही हो पाया था। किन्तु इस युद्ध के कारण लोहे, इस्पात आदि वस्तुओं की आवश्यकता की मात्रा बढ़ने के साथ जब उनकी पूर्ति बराबर न हो सकी तब अंग्रेज शासकों की भारतीय औद्योगीकरण के प्रति नीति बदलने लगी तथा भारत मे ही बड़े-बड़े उद्योगो की स्थापना को महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। किन्तु यह नीति अस्थायी ही रही और युद्ध की समाप्ति के बाद स्थापित उद्योगों का पतन होता गया। लेकिन फिर द्वितीय महायुद्ध बाद पुनः इस्पात, कपड़े, चीनी, सीमेंट, कांच आदि जैसे कुछ उद्योगों का विकास हुआ। इस औद्योगिक विकास के उपरान्त भी कृषि की प्रधानता के कारण भारत को औद्योगीकृत देश माना गया था। 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही सरकार की परिवर्तित नीतियो के कारण अब हमारे देश ने औद्योगिक विकास सम्बन्धी काफी प्रगति की है, यहाँ तक कि हवाई जहाजो व समुद्री जहाजों के उत्पादन, सैनिक आवश्यकताओं के निर्माण तथा उच्च कोटि के इन्जीनियरिंग व रासायनिक उद्योगो आदि मे अब हम आत्म-निर्भर हो गये है। बड़े उद्योगो की स्थापना के साथ-साथ कुटीर व लघु उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। वस्तुतः आज बहुत सी निर्मित वस्तुओं का हमारे यहाँ से निर्यात भी हो रहा है। इस सम्पूर्ण विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत शनैः शनैः अब औद्योगिक रूप से विकसित देशो की श्रेणी मे आ गया है। अब हमें यह देखना होगा कि इस बढ़ते हुए औद्योगीकरण का हमारे समाज के सामाजिक, आर्थिक व जनसंख्यात्मक ढांचों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

औद्योगीकरण और सामाजिक ढांचा

औद्योगीकरण का भारतीय समाज के सामाजिक ढांचे पर प्रभाव परिवार व विवाह आदि जैसी सामाजिक संस्थाओं, नातेदारी संरचना, सामाजिक नियन्त्रण के रूप तथा सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन आदि के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

औद्योगीकरण के कारण ही व्यक्ति उद्योगों मे काम करने हेतु गांव छोड़कर शहरों मे प्रव्रजन करते हैं। फैक्ट्री के आस-पास रहने की व्यवस्था न कर पाने के कारण आरम्भ में तो श्रमिक अकेले ही प्रव्रजन करते हैं परन्तु कुछ समय बाद वे

अपनी पत्नी व सन्तान को भी बुला लेते हैं। उनके माता-पिता व भाई-बहन गांवों में ही रह जाते हैं। इससे परिवार का संयुक्त रूप एकाकी परिवार मे बदल जाता है। परिवार की इस संरचना मे परिवर्तन के कारण पारिवारिक सम्बन्धों मे भी परिवर्तन मिलता है। दूर रहने की वजह से न तो संतान अपने माता-पिता की आज्ञा का उसी प्रकार पालन करती है जैसा कि संयुक्त परिवार के नियमों के अनुसार उनसे आशा की जाती है और न ही पति-पत्नी के सम्बन्ध परम्परागत मूल्यों पर टिक पाते है। यदि पति के साथ पत्नी भी फैक्ट्री व आफिस आदि मे कार्य करती है तो आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण परिवार के अन्य सदस्यो के साथ उसके सम्बन्धों में कुछ परिवर्तन आना स्वाभाविक ही है।

औद्योगीकरण के कारण विशिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता बढ गई है। जब तक व्यक्ति यह विशेषीकृत शिक्षा लेकर समाप्त नही करता, वह आज के युग में विवाह करना पसन्द नही करता। अतः औद्योगीकरण के कारण ही विवाह की आयु मे भी परिवर्तन मिलता है। बालविवाह के स्थान पर वयस्क-विवाह अधिक बढते जा रहे हैं। विवाह के समय शारीरिक व मानसिक रूप से परिपक्व होने के कारण, दम्पति की वैवाहिक भूमिकाओं व वैवाहिक मूल्यों मे भी परिवर्तन मिलता है। विवाह-विच्छेद और दहेज सम्बन्धी मूल्य आधुनिक होते जा रहे हैं। व्यक्ति पारिवारिक हितों को महत्त्व न देकर व्यक्तिगत हितो को अधिक महत्त्व देने लगे है। जीवन-साथी के चुनाव में परम्परागत प्रतिबन्धों तथा अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी विचारों आदि मे भी परिवर्तन आता जा रहा है। इन सभी परिवर्तनो मे औद्योगीकरण की भूमिका को महत्त्व देना ही होगा।

फिर, औद्योगीकरण के कारण नगरीकरण में भी विकास मिलता है। 1881 में भारत मे जब सम्पूर्ण जनसंख्या का केवल 10·8 प्रतिशत ही नगरों में रहता था, यह प्रतिशत 1931 में बढ़कर 12·2, 1961 में 18·0 तथा 1971 मे 20·0 हो गया। नगरों का रहन-सहन तथा वातावरण ग्रामीण रहन-सहन व पर्यावरण से बिल्कुल भिन्न होता है। नगरों में जब जनसंख्या सम्बन्धी विषमरूपता, व्यावसायिक बहुलता, नकलीपन, आंगिक (organic) एकता व द्वितीयक सम्बन्ध मिलते हैं, गांवों मे जनसंख्यात्मक सरूपता, व्यावसायिक एकमात्रता, स्वाभाविकता, खण्डीय (segmental) एकता व प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि नगरों में पायी जाने वाली व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा, ऊपरीपन (superficiality), अस्थायित्व आदि भावनाओं का विकास औद्योगीकरण के कारण नगरो के विकास द्वारा ही होता जा रहा है।

औद्योगीकरण ने सामाजिक गतिशीलता भी सम्भव बनाई है। व्यक्ति व्यवसाय बदलकर अपनी सामाजिक स्थिति ऊँची कर सकता है। यह ही कारण है कि सांबन्धिक (ascribed) स्थिति का महत्त्व भी कम होता जा रहा है। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould)[3] का कहना है, कि अऔद्योगिक सभ्यता से औद्योगिक

[3] Gould, Harold, *International Journal of Comparative Sociology*, Sept. 1960.

सभ्यता में परिवर्तन के साथ पुरानी प्रक्रियाएँ भी नये परिवर्तित काल में ही पूर्वा-वशिष्ट (carry over) होती है; और जब औद्योगीकरण विकास के उच्च स्तर पर पहुँचता है तब सांवन्धिक स्थिति वाले व्यक्तियों और समूहों की संख्या भी कम हो जाती है तथा उनका महत्त्व भी घट जाता है। स्मेलसर (Smelser) का भी कहना है कि बदलती हुई अर्थव्यवस्था में उत्पादन व्यवस्था में स्थिति-परिवर्तन एक निरन्तर व अविच्छिन्न प्रक्रिया होती है।[3] आरम्भ में जब खेतीहर खेतीबारी से उद्योग की ओर जाता है तो अकुशल श्रमिक होने के कारण उसकी सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नही होता। पी० के० हाट (P. K. Hatt) का भी कहना है कि ऐसी परिस्थिति में केवल पार्श्वीय (lateral) गतिशीलता ही पायी जाती है।[4] परन्तु जैसे-जैसे श्रमिक अर्धकुशल और कुशल बनता जाता है, उसकी सामाजिक स्थिति भी बदलती जाती है यद्यपि यह स्थिति-परिवर्तन समस्तरीय (horizontal) गतिशीलता का ही प्रतीक है। कुछ समय बाद जब श्रमिक कुशल मजदूर से परिवीक्षक और व्यवस्थापक व मैनेजर का पद प्राप्त करता है, उसकी परिवर्तित स्थिति विषमस्तरीय (vertical) गतिशीलता का रूप अपनाती है।

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारों पर भी औद्योगीकरण का प्रभाव मिलता है। औपचारिक नियन्त्रण अनौपचारिक नियन्त्रण का स्थान लेता है। लूमिस (Loomis) का कहना है कि औद्योगीकरण के कारण मार्केट अर्थव्यवस्था का विकास होता है और इस अर्थव्यवस्था के कारण परम्परागत समुदाय में प्रचलित सामाजिक नियन्त्रण का ह्रास होता है।[5]

औद्योगीकरण का राजनीतिक संगठनों की प्रकृति पर भी प्रभाव दिखाई देता है। जटिल औद्योगिक समाज में श्रमिकों में अपने अधिकारों और सत्ता के प्रति जागरूकता रहती है तथा वे अपने को सदा संगठित रखने का प्रयास करते रहते हैं। इससे हड़तालों और तालाबन्दी की संख्या बढ़ती जाती है जिससे उत्पादन कम हो जाने के कारण देश में सत्ताधारी दल के प्रति नैराश्य बढ़ता जाता है तथा उसे हटाकर नये राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

औद्योगीकरण का जाति संरचना पर भी प्रभाव दिखाई देता है। उद्योगों में काम करने वाले व्यक्ति खान-पान, छुआ-छूत, सामाजिक दूरी आदि प्रतिबन्धों सम्बन्धी जातीय नियमों का पालन दृढ़ता से नही कर पाते है जिससे जाति संगठन का स्वरूप बदलता जाता है। किंग्स्ले डेविस (Kingsley Davis) ने भी कहा है कि यदि भारत में औद्योगीकरण की यह ही गति रही तो यह समय अवश्य आयेगा

---

[3] Smelser, 'Differentiation of positions in the productive system is not a single, once-for-all transformation as an economy becomes modern but a continuing process.'

[4] 'The mobility involved is essentially lateral rather than a marked change of status.' Hatt, P. K., 'Occupation and Social Stratif' *American Journal of Sociology*, 1950, 538–43.

[5] Loomis, Charles, P., *Social Control*, 1953.

जब जाति प्रथा ही समाप्त हो जायेगी। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould) का भी विश्वास है कि औद्योगीकरण के कारण जाति-प्रथा समाप्त तो नहीं होगी किन्तु निर्बल अवश्य हो जायेगी।

औद्योगीकरण और आर्थिक ढांचा

औद्योगीकरण का आर्थिक ढांचे पर प्रभाव निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

(i) उत्पादी जनसंख्या व श्रमिकों में आर्थिक क्रियाओं का विभाजन—औद्योगीकरण और आर्थिक विकास के कारण श्रमिकों में कृषि से निर्माण कार्य और नौकरी पेशे की ओर मुख्य संचलन दिखाई देता है। घरेलू नौकरी करने वाले श्रमिक सख्या की दृष्टि से कम होते जाते हैं क्योंकि उनके लिए लाभजनक और प्रतिष्ठा वाले रोजगार ज्यादा उपलब्ध होते जाते हैं। विल्बर्ट मूर (Wilbert Moore) का भी कहना है कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण बढ़ता जाता है व आर्थिक प्रगति अधिक होती जाती है, कृषि पर निर्भर जनसंख्या की मात्रा कम होती जाती है।[6]

(ii) व्यावसायिक विशिष्टीकरण—औद्योगीकरण के कारण नये-नये व्यवसायों की उत्पत्ति होती है जो नई कुशलता और तकनीकी ज्ञान पर ज्यादा बल देते हैं।

(iii) श्रम विभाजन—कुशल श्रमिकों द्वारा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे विवर्तन की योग्यता के कारण श्रम-विभाजन अधिक होता है।

(iv) विशेषीकृत क्रियाओं में समन्वय—औद्योगीकरण के कारण विशेषज्ञता प्राप्त क्रियाओं में तालमेल व सामंजस्य आवश्यक हो जाता है। इससे विभिन्न व्यवसायों के मध्य परस्पर सम्बन्धों का विकास व प्रशासकीय संगठन आवश्यक हो जाता है।

(v) श्रमिक गतिशीलता—आरम्भ मे तो श्रमिक गतिशीलता केवल भौगोलिक-गतिशीलता के रूप मे दिखाई देती है परन्तु कुछ समय उपरान्त यह स्थिति-गतिशीलता को भी जन्म देती है। इससे श्रमिकों की भरती, क्रमवृद्धि और पदोन्नति की दृष्टि से व्यवस्था में निर्बन्धता आ जाती है।

(vi) मूलधन—औद्योगीकरण के कारण विस्तार की आवश्यकता उत्पन्न होती है। इससे बैंक, सुरक्षा-मार्केट और अन्य बचत के साधन पैदा होते हैं। राज्य फिर टैक्स, विदेशी व्यापार, अनुदान व ऋण आदि सम्बन्धी तत्त्वों को नियन्त्रित करने के उपाय अपनाती है।

(vii) उपभोग में परिवर्तन—अधिक उत्पादन के कारण उपभोग (consumption) भी बढ़ जाता है। यद्यपि उपभोग मे बहुवर्गीय (cross-sectional) अन्तर

---

[6] 'The proportions and even the numbers of the population dependent on agriculture or gainfully employed in farm production declines as economic growth and industrialisation occurs.' Moore, Wilbert, 'Social Aspects of Economic Development' in *Handbook of Modern Sociology*, edit. by Faris, Robert, 900.

देखाई देते हैं।

(viii) मार्केट का विस्तार—अर्थव्यवस्था के वाणिज्यीकरण (commercialisation) के कारण मार्केट और वितरण का विस्तार आवश्यक हो जाता है।

औद्योगीकरण और जनसंख्यात्मक ढांचा

जनसंख्यात्मक ढाचे पर औद्योगीकरण के प्रभाव को दो आधार पर देखा जा सकता है : (क) जनसंख्या विस्तार के संरूप (pattern) के सन्दर्भ में; (ख) जननक्षमता (fertility) पर नियन्त्रण की दृष्टि से।

जनसंख्या विस्तार की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के कारण गांवों की जनसंख्या कम होती जा रही है तथा नगरो की जनसंख्या बढती जा रही है। यह भारत सम्बन्धी आँकड़ों से स्पष्ट है। 1881 में जब नगरीय और ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात 9·6:1 था, 1931 में यह 7·2:1 था, 1961 में 4·6:1 और 1971 में 4:1 था। नगरीय क्षेत्रों में जनसंख्या में वृद्धि के कारण उद्योगों के आस-पास गन्दी बस्तियों (slums) का भी विकास हो रहा है। यही कारण है कि अब कुछ उद्योगों को नगरों से हटाकर उपनगरो (suburban areas) में स्थापित करने की योजनाएँ बढ़ती जा रही हैं।

कुछ विचारक प्रोद्योग को जनसख्या पर नियन्त्रण की दृष्टि से भी देखते हैं। उनका कहना है कि परिवार नियोजन सम्बन्धी नये-नये आविष्कारों के कारण ही बढती हुई जनसंख्या को कम करने का प्रयास किया जा रहा है।

केवल मोटवानी (Kewal Motwani) ने औद्योगीकरण के प्रभावो को निम्न प्रकार बताया है :[7] (i) संचारण के साधनों मे परिवर्तन होता जा रहा है जिससे गावों की आत्म-निर्भरता समाप्त हो गयी है; (ii) रोगों पर नियन्त्रण बढ़ता जा रहा है जिससे जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है; (iii) व्यापारिक (commercialised) मनोरंजन बढता जा रहा है; (iv) शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक निष्पत्ति (spiritual attainment) से हटकर भौतिक लाभ प्राप्त करने के साधन जुटाना हो गया है; (v) राजनीतिक जीवन में परिवर्तन तथा स्थानीय शासनकर्त्ताओं की प्रतिभा समाप्त होती जा रही है और प्रभुताधारी एजेन्टो की प्रतिभा बढ़ती जा रही है [illegible] योग्यता व प्रभावशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है; (vi) [illegible] और [illegible] के मध्य संघर्ष बढ़ गये हैं; (vii) धर्म का स्थान अधार्मिकता ने ले लिया है।

औद्योगीकरण और सामाजिक परिवर्तन

विलियम आगबर्न (William Ogburn) का कहना है कि [illegible] (technology) से समाज में अनेक परिवर्तन होते हैं यह इससे स्पष्ट है कि [illegible]

---

[7] Motwani, Kewal, *Social Change and Economic Development*, Jean Meynaud, UNESCO Publication, 1963, 99.

वाद (feudalism) का नाश किया, रेलवे ने नगरों का निर्माण किया, भाप के इंजन ने तलाक की मात्रा बढ़ायी है, मोटर-गाड़ियों ने मार्केट को उपनगरों में ढकेल दिया है, तथा हवाईजहाजों ने सैनिक शक्ति वाले देशों का पुनः पदवितरण किया है।[8] आगवर्न की मान्यता है कि औद्योगीकरण एवं निर्जीव वस्तुओं का प्रयोग उन सक्रिय व्यक्तियों द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाता है जिन्हें चयन करने का सामर्थ्य होता है। उसने प्रौद्योगिकी परिवर्तनों द्वारा समाज में परिवर्तन लाने की प्रक्रिया के विश्लेषण में तीन प्रकार के प्रभाव बताये हैं :[9] (i) प्रत्यक्ष व अविलम्ब प्रभाव, (ii) व्युत्पादिता (derivative) प्रभाव, (iii) अभिसारी (convergent) प्रभाव।

(i) **प्रत्यक्ष प्रभाव**—यह वह प्रभाव है जिसमें नये आविष्कार प्रत्यक्ष रूप से लोगों की आदतों, प्रवृत्तियों व प्रथाओं को बदलते हैं; जैसे मोटर-कार, रेलगाड़ी व हवाई जहाज के आविष्कार के उपरान्त लोग अब इनमें दूर-दूर तक सफर करके समय बचाते हैं। यह परिवर्तन स्थगित न करके अविलम्ब स्वीकार किये जाते हैं, यद्यपि कितना तुरन्त इनको स्वीकार किया जायेगा यह इस पर निर्भर करता है कि उत्पादित वस्तु के वितरण में कितना समय लगता है। फिर, प्रयत्क्ष प्रभाव वस्तु को प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए यद्यपि भारत में टेलीफोन का प्रयोग बढ रहा है किन्तु पश्चिमी समाज की तरह संचारण के लिए टेलीफोन का यहाँ प्रयोग बहुत अधिक नहीं मिलता क्योंकि यह सभी व्यक्तियों को उपलब्ध ही नहीं है।

(ii) **व्युत्पादित प्रभाव**—व्यक्तियों की कुछ आदतें व प्रथाएँ प्रौद्योगिक आविष्कारों के कारण प्रत्यक्षतः न बदलकर अप्रत्यक्ष रूप से बदलती हैं तथा वे कुछ प्रवृत्तियाँ और रूढ़ियाँ जो प्रौद्योगिक आविष्कारों के कारण तत्क्षण बदलती हैं वे दूसरी प्रवृत्तियों और रूढ़ियों पर भी प्रभाव डालकर उन्हे बदल देती हैं। जैसे मोटर-कार आविष्कार का घोड़ा-गाड़ी बनाने वालों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा इस अप्रत्यक्ष प्रभाव को आगवर्न व्युत्पादित प्रभाव मानता है। इस सम्बन्ध में उसकी यह भी मान्यता है कि आविष्कारों का प्रभाव एक ही व्युत्पादित प्रभाव से समाप्त नहीं हो जाता परन्तु एक व्युत्पन्न प्रभाव दूसरे व्युत्पन्न प्रभाव का कारण बन जाता है। जैसे, जो लोग घोड़ा-गाड़ी बनाते हैं उनकी बेरोजगारी इस रूप में गेहूँ का उत्पादन बढ़ाती है कि वे खेती करना आरम्भ कर देते हैं। यानि मोटर-कार आविष्कार का घोड़ा-गाड़ी बनाने वालों पर पहला व्युत्पादित प्रभाव गेहूँ का उत्पादन बढ़ाने सम्बन्धी दूसरे व्युत्पादित प्रभाव का कारण बना। इस प्रकार आविष्कारों का प्रभाव बहुत से व्युत्पादितों (derivations) द्वारा निरन्तर रह सकता है। उदाहरण के लिए उद्योगों में मशीन का प्रयोग (क) घरों में श्रमिकों को निकालता है, जिससे (ख) परिवार के मुखिया का सत्ताधिकार कम हो जाता है, जिससे (ग) नारी को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है,

[8] Ogburn and Nimkoff, *Technology and Social change*, Appleton Century Crofts Inc., N. York, 1957, 12.

[9] *Ibid.*, 19.

जिससे (घ) स्त्रियों की समाज में स्थिति ऊँची होती है।

(iii) अभिसारी प्रभाव—औद्योगीकरण के कुछ व्युत्पादित प्रभाव फिर संयुक्त रूप से कार्य करके एक नया प्रभाव पैदा कर सकते हैं। जैसे ऊपर हमने कहा कि पुरुष का घर के बाहर फैक्ट्री में काम करना उसके पितृसत्तात्मक सत्ताधिकार को कम कर सकता है *किन्तु सत्ता का यह ह्रास स्त्रियों के रोजगार, बच्चों की शिक्षा, सरकार* द्वारा अधिनियमित नये कानूनों आदि के कारण भी हो सकता है और यह सब कारण भी औद्योगीकरण के प्रभाव से ही उत्पन्न हो सकते हैं। अतः इन सब कारणों के अभिसरण के कारण परिवार के मुखिया की सत्ता के ह्रास सम्बन्धी एक नया प्रभाव मिलता है। अभिसरण का यह स्वरूप उस पहिये के समान है जिसमें विभिन्न तीलियाँ *(spokes) नाभि (hub) पर अभिसारित हो जाती हैं।*

आगबर्न द्वारा बतायी गयी औद्योगीकरण के यह प्रभाव की प्रक्रिया वास्तव में अत्यधिक सरल व्याख्या है। यह कभी नहीं माना जा सकता कि परिवर्तन केवल एक अकेले कारक की वजह से होता है परन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि परिवर्तन सम्बन्धी विभिन्न कारकों में से औद्योगीकरण एक प्रमुख *कारक हो सकता है।*

अन्त में, हम यह भी कहेंगे कि औद्योगीकरण का समाज और सभ्यता पर प्रभाव इतना निश्चायक व उत्कट है कि भविष्य में हमें बहुत सी नयी समस्याओं का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिए।

वाद (feudalism) का नाश किया, रेलवे ने नगरो का निर्माण किया, भाप के इंजन ने तलाक की मात्रा बढायी है, मोटर-गाड़ियो ने मार्केट को उपनगरों में ढकेल दिया है, तथा हवाईजहाजों ने सैनिक शक्ति वाले देशों का पुनः पदवितरण किया है।[8] आगवर्न की मान्यता है कि औद्योगीकरण एवं निर्जीव वस्तुओं का प्रयोग उन सक्रिय व्यक्तियों द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाता है जिन्हें चयन करने का सामर्थ्य होता है। उसने प्रौद्योगिकी परिवर्तनों द्वारा समाज मे परिवर्तन लाने की प्रक्रिया के विश्लेषण मे तीन प्रकार के प्रभाव बताये हैं :[9] (i) प्रत्यक्ष व अविलम्ब प्रभाव, (ii) व्युत्पादिता (derivative) प्रभाव, (iii) अभिसारी (convergent) प्रभाव।

(i) प्रत्यक्ष प्रभाव—यह वह प्रभाव है जिसमे नये आविष्कार प्रत्यक्ष रूप से लोगों की आदतों, प्रवृत्तियो व प्रथाओ को बदलते हैं; जैसे मोटर-कार, रेलगाडी व हवाई जहाज के आविष्कार के उपरान्त लोग अब इनमें दूर-दूर तक सफर करके समय बचाते है। यह परिवर्तन स्थगित न करके अविलम्ब स्वीकार किये जाते है, यद्यपि कितना तुरन्त इनको स्वीकार किया जायेगा यह इस पर निर्भर करता है कि उत्पादित वस्तु के वितरण मे कितना समय लगता है। फिर, प्रयक्ष प्रभाव वस्तु को प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या पर भी निर्भर करता है। उदाहरण के लिए यद्यपि भारत में टेलीफोन का प्रयोग बढ रहा है किन्तु पश्चिमी समाज की तरह सचारण के लिए टेलीफोन का यहाँ प्रयोग बहुत अधिक नही मिलता क्योकि यह सभी व्यक्तियों को उपलब्ध ही नहीं है।

(ii) व्युत्पादित प्रभाव—व्यक्तियो की कुछ आदतें व प्रथाएं प्रौद्योगिक आविष्कारो के कारण प्रत्यक्षतः न बदलकर अप्रत्यक्ष रूप से बदलती हैं तथा वे कुछ प्रवृत्तियाँ और रूढियाँ जो प्रौद्योगिक आविष्कारों के कारण तत्क्षण बदलती हैं वे दूसरी प्रवृत्तियों और रुढ़ियों पर भी प्रभाव डालकर उन्हें बदल देती हैं। जैसे मोटर-कार आविष्कार का घोड़ा-गाड़ी बनाने वालों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा इस अप्रत्यक्ष प्रभाव को आगवर्न व्युत्पादित प्रभाव मानता है। इस सम्बन्ध में उसकी यह भी मान्यता है कि आविष्कारों का प्रभाव एक ही व्युत्पादित प्रभाव से समाप्त नही हो जाता परन्तु एक व्युत्पन्न प्रभाव दूसरे व्युत्पन्न प्रभाव का कारण बन जाता है। जैसे, जो लोग घोड़ा-गाड़ी बनाते हैं उनकी बेरोजगारी इस रूप मे गेहूँ का उत्पादन बढ़ाती है कि वे खेती करना आरम्भ कर देते हैं। यानि मोटर-कार आविष्कार का घोड़ा-गाड़ी बनाने वालो पर पहला व्युत्पादित प्रभाव गेहूँ का उत्पादन बढ़ाने सम्बन्धी दूसरे व्युत्पादित प्रभाव का कारण बना। इस प्रकार आविष्कारों का प्रभाव बहुत से व्युत्पादितों (derivations) द्वारा निरन्तर रह सकता है। उदाहरण के लिए उद्योगों में मशीन का प्रयोग (क) घरों से श्रमिकों को निकालता है, जिससे (ख) परिवार के मुखिया का सत्ताधिकार कम हो जाता है, जिसमे (ग) नारी को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है,

---

[8] Ogburn and Nimkoff, *Technology and Social change*, Appleton Century Crofts Inc., N. York, 1957, 12.

[9] *Ibid.*, 19.

जिससे (घ) स्त्रियों की समाज में स्थिति ऊँची होती है।

(iii) **अभिसारी प्रभाव**—औद्योगीकरण के कुछ व्युत्पादित प्रभाव फिर संयुक्त रूप से कार्य करके एक नया प्रभाव पैदा कर सकते हैं। जैसे ऊपर हमने कहा कि पुरुष का घर के बाहर फैक्ट्री मे काम करना उसके पितृसत्तात्मक सत्ताधिकार को कम कर सकता है किन्तु सत्ता का यह ह्रास स्त्रियो के रोजगार, बच्चों की शिक्षा, सरकार द्वारा अधिनियमित नये कानूनों आदि के कारण भी हो सकता है और यह सब कारण भी औद्योगीकरण के प्रभाव से ही उत्पन्न हो सकते है। अतः इन सब कारणो के अभिसरण के कारण परिवार के मुखिया की सत्ता के ह्रास सम्बन्धी एक नया प्रभाव मिलता है। अभिसरण का यह संरूप उस पहिये के समान हैं जिसमे विभिन्न तीलियाँ (spokes) नाभि (hub) पर अभिसारित हो जाती है।

आगबर्न द्वारा बतायी गयी औद्योगीकरण के यह प्रभाव की प्रक्रिया वास्तव मे अत्यधिक सरल व्याख्या है। यह कभी नही माना जा सकता कि परिवर्तन केवल एक अकेले कारक की वजह से होता है परन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि परिवर्तन सम्बन्धी विभिन्न कारको में से औद्योगीकरण एक प्रमुख कारक हो सकता है।

अन्त में, हम यह भी कहेंगे कि औद्योगीकरण का समाज और सभ्यता पर प्रभाव इतना निश्चायक व उत्कट है कि भविष्य में हमें बहुत सी नयी समस्याओं का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिए।

9 सामुदायिक विकास योजनाएँ और पंचायती राज (COMMUNITY DEVELOPMENT PROJECTS AND PANCHAYTI RAJ)

भारत में ग्रामीण क्षेत्र के सामाजिक संगठन, संरचना व विकास का अध्ययन इस कारण आवश्यक है क्योंकि यह अधिकांश ग्रामीण है। 55 करोड़ जनसंख्या में से 80 प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति गाँवों में ही रहते हैं। इन ग्रामों में नगरीय समुदाय की अपेक्षा हमें अशिक्षा, जाति संस्तरण (hierarchy) के आधार पर सम्बन्धों का विकास, निम्न जीवन-स्तर, गतिशीलता की कमी, अधिक जन्म तथा मृत्यु-दर, उत्पादन में तकनीकी साधनों के उपयोग में कमी आदि अधिक मिलते हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु तथा ग्रामीण जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों में एक आमूल परिवर्तन लाने व ग्राम-पुनर्निर्माण के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं व पंचायती राज की व्यवस्था की गयी है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

इन विकास योजनाओं व पंचायती राज का अध्ययन राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, शासनकर्त्ताओं आदि के द्वारा भी किया गया है। प्रश्न यह है कि समाजशास्त्री इनका किस दृष्टि से अध्ययन करता है ? हमारे लिए इनके अध्ययन के चार पहलू हैं—(1) सामाजिक विकास योजनाओं व पंचायती राज को एक संरचनात्मक नवीनता (structural innovations) के रूप में देखना है, (2) संरचनात्मक नवाचार के अलावा इन्हें एक विचारधारा (ideology) व कार्यबद्ध उत्तरदायित्व (commitment) के रूप में समझना है, (3) पंचायती राज को गाँव, क्षेत्र, राज्य व राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्धों और उनके इच्छुक व अनिच्छुक उत्पत्तित परिणामों (emerging consequences) के रूप में जानना है, तथा (4) इसे विभिन्न संरचनात्मक (structural) व आदर्शात्मक (normative) 'प्रकारों' के परस्पर क्रिया के रूप में परखना है।

इन विभिन्न पहलुओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि *समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण* से जो मुख्य प्रश्न हमें अध्ययन करने हैं वे हैं—

(1) उन ग्रामीण समाज के संरचनात्मक और आदर्शात्मक लक्षण क्या हैं जहाँ विकास योजनाओं व पंचायतों की व्यवस्था की जा रही है।

(2) पुरानी और स्थापित की जाने वाली नयी व्यवस्था में पिछड़ापन (lag) व अनुरूपता (degree of correspondence) कितनी है।

(3) इस नवीन संरचनात्मक व सांस्कृतिक परिवर्तन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

(4) पंचायती राज के कारण जो विभिन्न संरचनात्मक स्तरों पर परिवर्तन होगा उससे किस प्रकार के नये नियम और व्यक्ति-कार्य (roles) उत्पन्न होंगे।

(5) इन नये नियमों और भूमिकाओं के आरम्भ और विकास को कौन से कारक प्रोत्साहन देते है अथवा कौन से इनका विरोध करते है।

इन सभी प्रश्नों के विवरण मे विकास योजनाओं व पंचायती राज के अध्ययन के लिए सर्वोचित तरीका संरचनात्मक-प्रक्रियावादी (structural-functional) ही हो सकता है जिसके द्वारा हम ग्राम, क्षेत्र और राज्य-स्तर के सामाजिक तत्त्वों के सर्वांगोमुखी दृष्टिकोण (integral view) को प्रस्तुत कर सकते हैं। अभी तक यह (संरचनात्मक-प्रक्रियावादी) पद्धति ग्रामीण क्षेत्र मे केवल जाति-प्रथा के अध्ययन के लिए ही प्रयोग की गयी है जिसके द्वारा परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों को समझाया गया है। परन्तु क्योंकि इस पद्धति को वर्ग-संरचना के अध्ययन के लिए उपयोग नहीं किया गया है, हमें ग्रामीण क्षेत्र में आर्थिक और राजनीतिक तत्त्वों व अभिरुचि समूहों (interest groups) के कार्य का कोई विशेष ज्ञान प्राप्त नही हो पाया है। ग्रामीण क्षेत्र के अध्ययन में, विशेषकर विकास योजनाओं व पंचायती राज जैसी नयी योजनाओं के आरम्भ के अध्ययन मे, हमारे लिए ग्रामीण समाज मे सामाजिक संरचना, आर्थिक प्रस्थिति और राजनैतिक शक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। यहाँ हम इसी विवरण को नेतृत्व, योजना-निर्माण तथा जन-सहभागिता आदि के अध्ययन द्वारा अधिक महत्त्व देंगे। परन्तु इस विवरण के पहले यह देखना भी आवश्यक है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम व पंचायती राज के उद्देश्य आदि क्या है ?

सामुदायिक विकास का अर्थ

सामुदायिक विकास शब्द उस प्रक्रिया को सूचित करता है जिसके द्वारा जन-समुदाय के प्रयत्नों को राज्य अधिकारियों के प्रयत्नों से मिलाकर समुदायों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विकास का प्रयास किया जाता है। विकास योजनाएँ ग्राम समुदायों को राष्ट्रीय जीवन में संकलन करने व उन्हें देश की प्रगति में भागी बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इस दृष्टि से सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक अविच्छिन्न प्रक्रिया बतायी जा सकती है जो कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के बाद समाप्त नहीं हो जाती परन्तु 'छोटे समुदाय' का 'राष्ट्रीय समुदाय' के लिए कार्य करने की क्षमता को बढ़ाने का प्रयास करती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग शासकीय बोर्ड (I. C. A.) ने सामुदायिक विकास को एक वह प्रविधि बताया है जिसके द्वारा सरकार किसी स्थान-विशेष के लोगों की प्रेरणाशक्ति व उपक्रम को उत्पादन बढ़ाने व रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए प्रयोग करती है।[1]

[1] *International Cooperation Administration's Circular*, 27 October, 1956.

9 सामुदायिक विकास योजनाएँ और पंचायती राज (COMMUNITY DEVELOPMENT PROJECTS AND PANCHAYTI RAJ)

भारत में ग्रामीण क्षेत्र के सामाजिक संगठन, संरचना व विकास का अध्ययन इस कारण आवश्यक है क्योंकि यह अधिकाश ग्रामीण है। 55 करोड़ जनसख्या में से 80 प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति गाँवो में ही रहते हैं। इन ग्रामो में नगरीय समुदाय की अपेक्षा हमें अशिक्षा, जाति संस्तरण (hierarchy) के आधार पर सम्बन्धो का विकास, निम्न जीवन-स्तर, गतिशीलता की कमी, अधिक जन्म तथा मृत्यु-दर, उत्पादन में तकनीकी साधनों के उपयोग में कमी आदि अधिक मिलते हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु तथा ग्रामीण जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों में एक आमूल परिवर्तन लाने व ग्राम-पुनर्निर्माण के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं व पंचायती राज की व्यवस्था की गयी है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

इन विकास योजनाओं व पंचायती राज का अध्ययन राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, शासनकर्त्ताओं आदि के द्वारा भी किया गया है। प्रश्न यह है कि समाजशास्त्री इनका किस दृष्टि से अध्ययन करता है? हमारे लिए इनके अध्ययन के चार पहलू हैं—(1) सामाजिक विकास योजनाओ व पचायती राज को एक सरचनात्मक नवीनता (structural innovations) के रूप मे देखना है, (2) सरचनात्मक नवाचार के अलावा इन्हे एक विचारधारा (ideology) व कार्यबद्ध उत्तरदायित्व (commitment) के रूप मे समझना है, (3) पचायती राज को गाँव, क्षेत्र, राज्य व राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्धों और उनके इच्छुक व अनिच्छुक उत्पत्तित परिणामों (emerging consequences) के रूप मे जानना है, तथा (4) इसे विभिन्न सरचनात्मक (structural) व आदर्शात्मक (normative) 'प्रकारो' के परस्पर क्रिया के रूप में परखना है।

इन विभिन्न पहलुओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जो मुख्य प्रश्न हमें अध्ययन करने हैं वे हैं—

(1) उन ग्रामीण समाज के सरचनात्मक और आदर्शात्मक लक्षण क्या हैं जहाँ विकास योजनाओं व पचायतों की व्यवस्था की जा रही है।

(2) पुरानी और स्थापित की जाने वाली नयी व्यवस्था में पिछड़ापन (lag) व अनुरूपता (degree of correspondence) कितनी है।

इस प्रकार प्रक्रिया में हमें तीन तत्त्व मिलते है—

(1) सामाजिक क्रिया को प्रारम्भ (initiate) करने के लिये लोकतन्त्रीय सहभागिता (democratic participation)।

(2) अधिक से अधिक आत्म-निर्भरता।

(3) समुदाय के साधनो को आवश्यक सेवाओ और सामान द्वारा सम्पूर्ण करने हेतु सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधियो द्वारा भाग लेना।

भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का देश के पंचवर्षीय योजनाओं के साथ सकलन किया गया है। दूसरी पचवर्षीय योजना में जो विकास योजनाओ के लक्ष्य बताये गये थे उनके अनुसार हमें विकास योजनाओ के यह प्रमुख लक्षण दिखायी देते है—(i) अन्तरविभागीय कार्यक्रम में पारस्परिक सामंजस्य। (ii) जन-समुदाय द्वारा सहभागिता। (iii) आत्म-सहायता और सहयोग। (iv) सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु समुदाय के सभी वर्गों का समावेश।

सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य

साधारण शब्दो मे सामाजिक विकास योजनाओं के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बताये जा सकते हैं—

(1) एक ऐसी योजना प्रस्तुत करना जिससे राज्य शासन के सभी अंग, समुदाय के आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए मिलकर कार्य कर सकें।

(2) हर स्थानीय क्षेत्र को कुछ ऐसे आवश्यक साधन और तकनीकी ज्ञान प्रदान करना जिससे क्षेत्र प्रगति कर सके व अपनी विभिन्न समस्याओ का समाधान कर सके।

(3) समुदाय के सदस्यो को हर स्तर पर अपने को संगठित करने का अवसर देना व उत्साहित करना जिससे वे अपने उन स्थानीय साधनो व शक्तियो को जुटाने व एकत्रित करने का प्रयास कर सके जिनका प्रयोग नही किया जा सका है।

साधारण शब्दो में हम कह सकते हैं कि विकास योजनाओं के मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन को बढ़ाना, बेरोजगारी दूर करना, जन-सहकारिता की भावना को विकसित करना, ग्रामीण नेतृत्व का विकास करना तथा ग्रामीण जीवन का बहुमुखी विकास करना है।

विकास योजनाओ के इस कार्यक्रम मे हम सदा ऐसी सस्थाओ की खोज में रहते हैं जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति मे सहायक हो सकें। विकास योजनाओं के प्रारम्भ काल मे क्षेत्रीय स्तर पर गैर-सरकारी सलाहकार समितियाँ स्थापित की गयी थी परन्तु यह लोगों को आवश्यक प्रेरणा देने में असफल पायी गयीं। इस कारण यह आवश्यक समझा जाने लगा कि इस कार्यक्रम के लिए जिला स्तर पर कोई नयी सस्था स्थापित करनी होगी तथा ब्लाक को ही लोकतन्त्रीय ढाँचे मे बदलना होगा जिसमें विभिन्न स्तर-ग्राम, [illegible] । जिला-पारस्परिक रूप मे जैविक रूप से (organically) सम्बन्धित [illegible] ...र पर मेहता कमेटी की सिफारिशों के

उपरान्त पंचायत राज्य की स्थापना की गयी।

1952 में सामुदायिक विकास योजनाओं के आरम्भ के बाद इनके विकास को चार प्रावस्थाओं (phases) मे अध्ययन किया जा सकता है—

(1) स्वीकारात्मक प्रशासकीय प्रावस्था (Adoptive Administrative Phase—1952 to 1955)।

(2) प्राविधिक-समाकलन प्रावस्था (Technical-intergative Phase—1956 to 1958)।

(3) लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीयकरण प्रावस्था (Democratic Decentralisation Phase—1959 to 1964)।

(4) मूल्यांकन प्रावस्था (Evaluative Phase—1964 के उपरान्त)।

(1) स्वीकारात्मक प्रशासकीय प्रावस्था—इस काल मे उत्पादन बढ़ाने एवं आत्मनिर्भरता तथा लोगों के उपक्रम एवं विभिन्न विभागों के सहयोग पर बल दिया गया।

(2) प्राविधिक समाकलन प्रावस्था—इस काल में तकनीकी विभागों, जन-संस्थाओं एवं देश की राजनीतिक संस्थाओं में सहकारिता प्राप्त करने पर बल दिया गया। इस सहयोग को प्राप्त करने हेतु विकास योजनाओं के कार्यक्रम, प्रशासन तथा संगठन में कुछ परिवर्तन लाये गये। कार्यक्रम मे परिवर्तन कृषि उत्पादन को अधिक प्रधानता देकर तथा कुटीर उद्योग को प्रोत्साहित कर लाया गया; प्रशासन मे परिवर्तन शासनकर्त्ताओं, कार्यकर्ताओं और अन्य गैर-सरकारी व्यक्तियो के प्रशिक्षण पर बल देकर तथा अनुसन्धान कार्यक्रम और प्रशिक्षण मे समन्वय द्वारा लाया गया, संगठन में परिवर्तन कार्यक्रम को सरकार-अभिमुख न मानकर जन-अभिमुख बनाकर एवं पंचायती राज को शक्तिशाली बनाकर व ब्लाक सलाहकार समितियाँ स्थापित करके लाया गया।

(3) लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण प्रावस्था—सामुदायिक विकास योजनाओं पर मेहता कमेटी की रिपोर्ट के उपरान्त तीन स्तरीय सरचना आरम्भ की गयी। इस व्यवस्था में ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायतो, ब्लाक स्तर पर पंचायत समितियो तथा जिला स्तर पर जिला परिषदों की स्थापना की गयी और इन्ही तीनों पर सम्पूर्ण विकास कार्य निर्भर किया गया।

(4) मूल्यांकन प्रावस्था—1963-64 के बाद पंचायती राज पर कुछ शोध कार्य किया गया जिससे उसका मूल्याकन करके उसकी सफलताओं व दोषो को मालूम किया जा सके तथा उसके कार्य को अधिक सफल बनाया जा सके।

सामुदायिक विकास योजनाएँ और पंचायती राज

पंचायती राज की उत्पत्ति सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य करने के अनुभव से ही हुई। बलवन्तराय मेहता के अनुसार सामुदायिक विकास उद्देश्य है और पंचायती राज उस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है। विकास योजनाओं का शासन प्रमुख रूप से नौकरशाही के हाथ में था। यद्यपि विकास परिषद् थी परन्तु उनका कार्य नाममात्र व औपचारिक था तथा उनका लोगों से कोई सम्पर्क नहीं

इस प्रकार प्रक्रिया मे हमे तीन तत्त्व मिलते है—

(1) सामाजिक क्रिया को प्रारम्भ (initiate) करने के लिये लोकतन्त्रीय सहभागिता (democratic participation)।

(2) अधिक से अधिक आत्म-निर्भरता।

(3) समुदाय के साधनो को आवश्यक सेवाओ और सामान द्वारा सम्पूर्ण करने हेतु सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधियो द्वारा भाग लेना।

भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम का देश के पचवर्षीय योजनाओ के साथ संकलन किया गया है। दूसरी पंचवर्षीय योजना मे जो विकास योजनाओं के लक्ष्य बताये गये थे उनके अनुसार हमें विकास योजनाओ के यह प्रमुख लक्षण दिखायी देते है—(i) अन्तरविभागीय कार्यक्रम में पारस्परिक सामंजस्य। (ii) जन-समुदाय द्वारा सहभागिता। (iii) आत्म-सहायता और सहयोग। (iv) सामाजिक न्याय प्राप्त करने हेतु समुदाय के सभी वर्गों का समावेश।

सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रमुख उद्देश्य

साधारण शब्दो मे सामाजिक विकास योजनाओं के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बताये जा सकते है—

(1) एक ऐसी योजना प्रस्तुत करना जिससे राज्य शासन के सभी अंग समुदाय के आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए मिलकर कार्य कर सकें।

(2) हर स्थानीय क्षेत्र को कुछ ऐसे आवश्यक साधन और तकनीकी ज्ञान प्रदान करना जिससे क्षेत्र प्रगति कर सके व अपनी विभिन्न समस्याओं का समाधान कर सके।

(3) समुदाय के सदस्यो को हर स्तर पर अपने को सगठित करने का अवसर देना व उत्साहित करना जिससे वे अपने उन स्थानीय साधनो व शक्तियों को जुटाने व एकत्रित करने का प्रयास कर सकें जिनका प्रयोग नही किया जा सका है।

साधारण शब्दो मे हम कह सकते हैं कि विकास योजनाओं के मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन को बढाना, बेरोजगारी दूर करना, जन-सहकारिता की भावना को विकसित करना, ग्रामीण नेतृत्व का विकास करना तथा ग्रामीण जीवन का बहुमुखी विकास करना है।

विकास योजनाओ के इस कार्यक्रम मे हम सदा ऐसी सस्थाओ की खोज मे रहते है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति मे सहायक हो सकें। विकास योजनाओं के प्रारम्भ काल में क्षेत्रीय स्तर पर गैर-सरकारी सलाहकार समितियाँ स्थापित की गयी थी परन्तु यह लोगों को आवश्यक प्रेरणा देने मे असफल पायी गयी। इस कारण यह आवश्यक समझा जाने लगा कि इस कार्यक्रम के लिए जिला स्तर पर कोई नयी संस्था स्थापित करनी होगी तथा ब्लाक को ही लोकतन्त्रीय ढाँचे मे बदलना होगा जिनमें विभिन्न स्तर-ग्राम, ब्लाक तथा जिला-पारस्परिक रूप मे जैविक रूप से (organically) सम्बन्धित रहेंगे। इसी आधार पर मेहता कमेटी की सिफारिशों के

उपरान्त पंचायत राज्य की स्थापना की गयी।

1952 में सामुदायिक विकास योजनाओं के आरम्भ के बाद इनके विकास को चार प्रावस्थाओं (phases) में अध्ययन किया जा सकता है—

(1) स्वीकारात्मक प्रशासकीय प्रावस्था (Adoptive Administrative Phase—1952 to 1955)।

(2) प्राविधिक-समाकलन प्रावस्था (Technical-intergative Phase—1956 to 1958)।

(3) लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीयकरण प्रावस्था (Democratic Decentralisation Phase—1959 to 1964)।

(4) मूल्याकन प्रावस्था (Evaluative Phase—1964 के उपरान्त)।

(1) **स्वीकारात्मक प्रशासकीय प्रावस्था**—इस काल में उत्पादन बढ़ाने एवं आत्मनिर्भरता तथा लोगों के उपक्रम एवं विभिन्न विभागों के सहयोग पर बल दिया गया।

(2) **प्राविधिक समाकलन प्रावस्था**—इस काल में तकनीकी विभागों, जन-संस्थाओं एव देश की राजनीतिक संस्थाओं में सहकारिता प्राप्त करने पर बल दिया गया। इस सहयोग को प्राप्त करने हेतु विकास योजनाओं के कार्यक्रम, प्रशासन तथा संगठन में कुछ परिवर्तन लाये गये। कार्यक्रम मे परिवर्तन कृषि उत्पादन को अधिक प्रधानता देकर तथा कुटीर उद्योग को प्रोत्साहित कर लाया गया; प्रशासन मे परिवर्तन शासनकर्त्ताओं, कार्यकर्त्ताओं और अन्य गैर-सरकारी व्यक्तियों के प्रशिक्षण पर बल देकर तथा अनुसन्धान कार्यक्रम और प्रशिक्षण में समन्वय द्वारा लाया गया, संगठन में परिवर्तन कार्यक्रम को सरकार-अभिमुख न मानकर जन-अभिमुख बनाकर एवं पंचायती राज को शक्तिशाली बनाकर व ब्लाक सलाहकार समितियाँ स्थापित करके लाया गया।

(3) **लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण प्रावस्था**—सामुदायिक विकास योजनाओं पर मेहता कमेटी की रिपोर्ट के उपरान्त तीन स्तरीय संरचना आरम्भ की गयी। इस व्यवस्था मे ग्राम स्तर पर ग्राम पचायतों, ब्लाक स्तर पर पंचायत समितियों तथा जिला स्तर पर जिला परिषदों की स्थापना की गयी और इन्हीं तीनों पर सम्पूर्ण विकास कार्य निर्भर किया गया।

(4) **मूल्यांकन प्रावस्था**—1963-64 के बाद पचायती राज पर कुछ शोध कार्य किया गया जिससे उसका मूल्यांकन करके उसकी सफलताओं व दोषों को मालूम किया जा सके तथा उसके कार्य को अधिक सफल बनाया जा सके।

सामुदायिक विकास योजनाएँ और पंचायती राज

पंचायती राज की उत्पत्ति सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य करने के अनुभव से ही हुई। बलवन्तराय मेहता के अनुसार सामुदायिक विकास उद्देश्य है और पचायती राज उस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है। विकास योजनाओं का शासन प्रमुख रूप से नौकरशाही के हाथ में था। यद्यपि विकास परिषद् थी परन्तु उनका कार्य नाममात्र व औपचारिक था तथा उनका लोगों से कोई सम्पर्क नही

लिए बनायी गयी योजनाओं और कार्यक्रमों को लागू करने के लिये एक साधन है।[5] यह सोचना कि पंचायती राज केवल सामुदायिक विकास योजनाओं को सफल बनाने की आवश्यकता के कारण स्थापित किया गया, गलत होगा। तथ्य यह है कि जब भूमि सुधार के विषय पर चर्चा हो रही थी और जोत सम्बन्धी अधिकार (land tenure) व्यवस्था के पुनर्गठन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, तभी योजना आयोग ने 1956 में बलवन्त राय मेहता को इस समस्या को व्यवस्थापक रूप से अध्ययन करने के लिये आमन्त्रित किया और इसी कमेटी की नवम्बर 1957 की रिपोर्ट को जनवरी 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा स्वीकार किये जाने पर 1959 में पंचायती राज की स्थापना तथा जनतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पंचायती राज की स्थापना ग्रामीण समाज में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से ही की गयी। प्रश्न है किस प्रकार का परिवर्तन ? एक मत के अनुसार यह परिवर्तन केवल संगठन सम्बन्धी परिवर्तन लाना अथवा पुराने ग्राम समाज को आधुनिक बनाना है; दूसरे के अनुसार यह परिवर्तन औद्योगिक क्रान्ति अथवा पुरानी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाना है और तीसरे मत के अनुसार यह परिवर्तन है लोकतन्त्रीकरण, आधुनिकीकरण एवं राजनीतिकरण लाना।

पंचायती राज धारणा के चार दृष्टिकोण हैं—(1) सर्वोदय दृष्टिकोण, (2) स्थानीय सरकार दृष्टिकोण, (3) नौकरशाही (bureaucratic) दृष्टिकोण, (4) सन्दर्भ-सम्बन्धी (contextual) दृष्टिकोण।

जयप्रकाश नारायण के सर्वोदयी मत के अनुसार[6] (क) ग्राम सभा एक सम्पूर्ण सत्ताधारी संस्था है; (ख) ग्राम पंचायत पंचायती व्यवस्था की आधारभूत इकाई है; (ग) ग्राम पंचायत स्वायत्तशासी, आत्म-निर्भर व स्वानुशासन संस्था होनी चाहिए; (घ) पंचायत का प्रमुख उत्तरदायित्व ग्राम सभा के प्रति होना चाहिए; एवं (च) पंचायत के चुनावों में राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

स्थानीय सरकार के दृष्टिकोण के अनुसार पंचायतें स्वायत्त होनी चाहिए तथा पंचायत के कार्य परम्परागत नागरिक और विकास-कार्यों तक सीमित नहीं होने चाहिए किन्तु उनको कानून और व्यवस्था स्थापित करने का भी भार सौंपना चाहिए।

नौकरशाही दृष्टिकोण के अनुसार गाँवों के अशिक्षित व्यक्ति अपने जीवन के कार्यों की स्वयं देख-भाल व प्रबन्ध करने के योग्य नहीं है इस कारण यह मत पंचायती राज के आत्म-प्रबन्ध के पहलू को अधिक महत्त्व नहीं देता। लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण को यह केवल सत्ता का प्रत्यायोजन (delegation) समझता है जिसमें अन्तिम निर्णय का अधिकार सत्ता देने वाले के हाथ में होता है।

---

[5] Mehta, Ashok, in Inaugural Address in *Seminar* on 'Panchayati Raj' organised by Deptts. of Economics and Public Administration, Rajasthan University at Jaipur in Dec. 1964. See also Narain, Iqbal, *op. cit.*, 2-3.

[6] Narain, Jaya Prakash, *A Plea for Reconstruction of Indian Polity*, A. B. Sarva Seva Sangh Prakashan, Rajghat, Kashi, 1959.

सन्दर्भ-सम्बन्धी दृष्टिकोण के अनुसार पचायती राज की उत्पत्ति किस सन्दर्भ मे हुई केवल इसी बात के आधार पर ही उसके कार्यों को निर्धारित करना चाहिए। इस सन्दर्भ के प्रति यह कहा जा सकता है कि (क) सामुदायिक विकास योजनाएँ जनसाधारण को आत्मनिर्भर बनाने मे असफल रही थी। (ख) यह असफलता व दोष केवल इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि गाँवों के विकास की योजनाएँ, विशेषकर सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रशासन, ग्रामवासियो को व उनके चुने हुए प्रतिनिधियो को ही सौप दिया जाय। वास्तव मे यह चार मत एक दूसरे मे पृथक् नही हैं। वे केवल अलग-अलग कारक पर बल देते हैं।

पंचायती राज के उद्देश्य

(1) पंचायती राज की स्थापना का तात्कालिक उद्देश्य सामुदायिक विकास योजनाओं का विस्तार व उनको सफल बनाने का प्रयास करना था। विकास योजनाओं के कार्यों में पाया गया था कि ये जनसाधारण के उपक्रम व सहभागिता पर आधारित नही थी, इस कारण मेहता कमेटी ने सामुदायिक भावना उत्पन्न करने हेतु पचायती राज की स्थापना का सुझाव दिया।

(2) पंचायती राज द्वारा लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण की स्थापना तथा स्थानीय स्वानुरक्षण व स्वानुशासन सस्थाओं के विकास का प्रयास किया गया है।

(3) पचायती राज को गाँवो में राज्य के प्रतिनिधि के रूप मे स्थानीय साधनो और जनशक्ति के उपयोग से सुयोजित विकास, कल्याण सम्बन्धी कार्य व आर्थिक विकास हेतु स्थापित किया गया।

कुछ व्यक्तियों का यह भी विचार है कि पंचायतो का एक अव्यक्त (latent) कार्य सत्तारूढ़ दल द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त जनसाधारण के ऊपर खोये हुए प्रभाव व अधिकार को पुनः प्राप्त करना था; परन्तु यह सही नही लगता। इन सभी उद्देश्यो को दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार भी बता सकते है—

(क) विकास सम्बन्धी चेतना को विकसित करना।

(ख) जन-समुदाय द्वारा सहभागिता प्राप्त करना।

(ग) सामाजिक कुरीतियो को दूर करने हेतु सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धित धारणाएँ उत्पन्न करना।

(घ) आर्थिक परिवर्तन लाना अथवा आर्थिक असमानता को दूर करना एव ग्रामीण अर्थव्यवस्था मे समाजवाद लाने के लिए समानता की भावना उत्पन्न करना।

पचायती राज व्यवस्था

पचायती राज का सस्थात्मक स्वरूप (institutional framework) व उसका संगठन यद्यपि अलग-अलग राज्यो में भिन्न-भिन्न मिलता है परन्तु उसका बुनियादी ढाँचा सभी स्थानो मे एक समान है। पूरे देश में पचायती राज मे तीन स्तरीय संरचना की गयी है। इस व्यवस्था में सबसे निम्न ग्रामस्तर पर ग्राम पंचायत

आती है और सबसे ऊपर स्तर पर जिला परिषद्, जिला पचायत अथवा जिला विकास परिषद् आता है। *खण्ड, तालुका अथवा ब्लाक स्तर इसका मध्यस्थ स्तर* बना हुआ है जिसे अलग-अलग राज्यों में पंचायत समिति, तालुक पंचायत, जनपद पंचायत, यूनियन परिषद् आदि नामों से जाना जाता है।

पचायती राज्य के कार्य करने की व्यवस्था में तीन स्पष्ट प्रतिरूप मिलते हैं जिनको उल्लेख करने (reference) हेतु राजस्थान प्रतिरूप, आंध्र-प्रदेश प्रतिरूप व *महाराष्ट्र प्रतिरूप बताया जा सकता है। राजस्थान प्रतिरूप मे पंचायत समिति* प्रधान (pivot) आधार है जिसे अधिशासी शक्ति व उत्तरदायित्व दिया गया है तथा जिला परिषद् केवल एक समन्वय परिषद् व पर्यवेक्षण (supervision) एवं सलाह-कार निगम के रूप में कार्य करता है। महाराष्ट्र प्रतिरूप में जिला परिषद् को सबसे अधिक शक्तिशाली निगम बनाया गया है व उसे ही अधिशासी शक्ति सौंपी गयी है। आंध्र प्रदेश प्रतिरूप में राजस्थान और महाराष्ट्र प्रतिरूपों का ससर्ग मिलता है जिसमें अधिकाश अधिशासी कार्य तो पंचायत समिति को दिये गये हैं परन्तु जिला परिषद् को *भी उनके समन्वय और पर्यवेक्षण कार्यों के अतिरिक्त कुछ अधिशासी* शक्ति भी मिली हुई हैं।

गाँव पंचायत गाँव के वयस्कों में प्रत्यक्ष चुनाव के फलस्वरूप गठित होती है जबकि पचायत समिति तथा जिला परिषद् अप्रत्यक्ष चुनाव से ही निर्मित होते हैं। पंचायत समिति क्षेत्र की ग्राम पंचायतों के सरपंचों से, विधान सभा के स्थानीय सदस्यों (जिन्हें मतदान का अधिकार नहीं होता) से तथा कुछ महिला एव अनुसूचित व पिछड़ी जातियों के प्रतिनिधियों से निर्मित होती है। जिला परिषद् फिर पचायत समितियों के प्रमुखों से तथा विधान सभा व लोकसभा के स्थानीय सदस्यों से एवं महिला व अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधियों से बनती हैं।

जब ग्राम पंचायत अपने दैनिक कार्यक्रम के लिए मन्त्री नियुक्त करती है, पचायत समिति का मन्त्री एवं अधिशासी अधिकारी क्षेत्र विकास अधिकारी होता है तथा जिला परिषद् का मन्त्री व अधिशासी अधिकारी जिलानियोजन अधिकारी होता है।

कार्य की दृष्टि से ग्राम पंचायत का कार्य कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, भूमि-सुधार आदि की व्यवस्था करना है तथा पचायत समिति का कार्य विकास योजनाओं को कार्यान्वित करना, सहकारिता, कुटीर उद्योग एवं प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध करना है। जिला परिषद् का कार्य समितियों के कार्यों का निर्देशन करना, बजट निरीक्षण करना आदि है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गाँवों के परम्परागत अधिकार संरचना में जो पचायती राज्य द्वारा आधुनिकता लाने अथवा *सामाजिक नियम स्थापित करने* का प्रयास किया गया है वह अप्रांकित है[1]—

[1] Singh, Yogendra, 'Social Structure and Village Panchayats' in *Panchayati Raj, Planning and Democracy*, edit. by Mathur and Narain, *op. cit.*, 357-58.

(1) जब परम्परागत पचायतों मे वोट देने का आधार सावन्धिक प्रस्थिति (ascribed status) थी अब यह नागरिक प्रस्थिति (civil status) है।

(2) पहले जब गाँवों की व्यवस्था परम्परागत सामुदायिक नियमों व आदेशों (communal sanctions) के आधार पर की जाती थी अब पंचायती राज्य द्वारा इसमे कुछ नौकरशाही तर्कशास्त्र (bureaucratic rationality) लाया गया है।

(3) पचायत सस्था को ब्लाक, जिला और राज्य स्तर की संस्थाओं से मिलाकर विकास सम्बन्धी कार्य सम्पादन में सुगमता लायी गयी है।

(4) विवेकपूर्ण जनतान्त्रिक मूल्यो की स्थापना की गयी है।

प्रशासन में सरकारी अधिकारियों एवं गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओं में सम्बन्ध

सरकारी कर्मचारी एव गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओं मे सम्बन्ध तीन स्तरो पर देखे जा सकते है—(1) व्यक्तिगत स्तर पर, (2) योजना-निर्माण मे, और (3) प्रतिदिन के कार्यक्रम व प्रशासन मे।

(1) **व्यक्तिगत स्तर पर**—प्रशासन में लगे हुए अधिकाश गैर-सरकारी व्यक्ति अशिक्षित, अज्ञानी, उतावले और सुपक्षी पाये जाते है और सरकारी अधिकारी भ्रष्ट, दवाव डालने वाले (coercive) और कार्य प्रणालीक (procedural) मिलते है। गैर-सरकारी कार्यकर्त्ता व लोगो के प्रतिनिधि अधिक अनुभव न होते हुए भी अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग करने के लिए उत्सुक रहते है। ये लोग शक्ति का उपयोग अपने तथा अपनी जाति व अन्य सम्बन्धित समूहों को लाभ पहुँचाने के लिए ही करते हैं। दूसरी ओर सरकारी अधिकारी या तो लोगों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के विश्वास को प्राप्त करने के लिए सदा व्याकुल रहते है और हाँ मे हाँ मिलाने वाले व्यक्ति का कार्य करते है या फिर अधिक जिद्दी और हठीले पाये जाते है।

(2) **योजना निर्माण**—योजनाएँ बनाने का कार्य गैर-सरकारी व्यक्तियों को करना होता है। उन्हे ही रुचि लेकर आँकड़े उपलब्ध कर आदेश देने होते है यद्यपि इसके लिए सरकारी अधिकारियों से सहायता लेने की सुविधा होती है। परन्तु वास्तव में बहुत जगहों पर यह योजनाएं सरकारी अधिकारी ही बनाते हैं तथा सलाह देने के स्थान पर बहुत से निर्णय भी यही अधिकारी ही लेते है।

(3) **दैनिक कार्य**—इस क्षेत्र मे सरकारी अधिकारियों और गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओं मे बहुत सघर्ष पाये जाते हैं। गैर-सरकारी व्यक्ति इच्छाधीन अधिकार प्राप्त होने के कारण छोटी-छोटी बात पर अधिकारियों को अनुशासन सम्बन्धी दण्ड देते हैं अथवा उसके स्थानान्तरण और नियुक्तियों मे हस्तक्षेप करते हैं जिससे उनमे असन्तोष बढ़ता है। फलतः सरकारी और गैर-सरकारी कर्मचारियों में स्वस्थ सम्बन्ध व सामजस्य बहुत कम मिलता है जिसका विकास-कार्यों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

संरचनात्मक परिवर्तन

पंचायती राज के पहले जब तहसीलदार आदि अधिकारी प्रकार्यकारियों (functionaries) को नियुक्त करते थे अब यह प्रकार्यकारी जनता द्वारा चुने जाते हैं। इन चुनावों में एक प्रमुख बात भूस्वामियों के विरुद्ध वर्ग-चेतना दिखाई देती है। धनी जमीदारों और निर्धन कृपकों में सदा वर्ग-सघर्ष रहा है। पंचायती राज की स्थापना से किसानों और भूमिहीन श्रमिकों में परम्परागत सत्ताधिकारियों को शासन से हटाने के लिए एक आरम्भिक लगन उत्पन्न हुई। दूसरे शब्दों मे पचायती राज ने आत्मविश्वासी लोकवादी वर्ग को प्रवल व प्रभाव वर्ग से सामना करने का अवसर दिया। यद्यपि 1950 में जमींदारी समाप्त करने का अधिनियम पास किया गया था परन्तु उससे निर्धन किसानों को स्वयं अधिकार प्राप्त करने का अवसर नही मिला था। विभिन्न क्षेत्रो में गाँवों में चुनाव यही बताते है कि शनै: शनै अर्द्ध-शिक्षित खेतिहर उम्मीदवार सत्तारूढ़ बनते जा रहे हैं। इस प्रकार जो वैधानिक अधिकारो और सामाजिक संरचनात्मक वास्तविकताओं मे संघर्ष उत्पन्न हुआ उसमें वास्तविकता की ही विजय हुई है। अब ग्रामीण लोगो को खेत पर रोजगार, रुपया उधार लेने व उप-काश्तकारी (sub-tenancy) आदि के लिए जमीदार परिवारों पर निर्भर नही करना पड़ता है। फिर अब जमींदारों में भी आपसी सघर्ष मिलते है। इस तरह अन्तर-वर्ग-संघर्षों ने अब वर्ग के सदस्यों के आपसी सघर्ष का भी रूप धारण किया है। भूस्वामियो से छुटकारा पाने से तथा सत्तारूढ़ समूह के आपसी प्रतिद्वन्द्विता से किसानो को अपनी शक्ति व अधिकार प्राप्त करने सम्बन्धी आकाक्षाओ को प्राप्त करने का अवसर मिला है। फिर जमीदारो से स्वाधीनता मिलने से कृपकों मे लोक-तन्त्र और विकास की भी भावना पैदा हुई है। पंचायती राज इसी भावना को विकसित करने का एक साधन है। राजनीतिक प्रक्रिया के इस छोटे से वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पचायती राज की जो नयी सस्थात्मक संरचना स्थापित की गयी है उसके निम्न कारण हैं[8]—

(1) परम्परागत सत्ताधिकारियों (ruling elite) का आवद्ध दवाव।

(2) परम्परागत सत्ताधिकारियों और ऊपर उठने वाले व्यक्तियों की स्थिति में विशाल आर्थिक और सास्कृतिक दरार।

(3) कुछ कृपकों मे परम्परागत शासकीय समूह के प्रति संस्थागत स्वीकृति के विस्तृत रूप (diffused) की मान्यता मे स्थिरता (persistence)।

(4) ऊपर चढ़ने वाले कृपकों की आकाक्षाओं को मजबूत बनाने के लिए बाहर से विरोधी (counter-balancing) दवाव।

(5) वैधानिक और सावियानिक परमाधिकार (prerogative) का स्थापित स्तरीकरण (stratification) के आर्थिक और सामाजिक माप से प्रत्यक्ष संघर्ष।

(6) सामाजिक संरचना में अधिकार व्यवस्था के साथ-साथ प्रभावकारी परि-

---

[8] *Ibid.*

विधान मण्डल के सदस्य का राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी वन गया है क्योंकि वह भी विधान मण्डल का सदस्य वनने का स्वप्न देखता है। इस कारण उससे या तो स्नेह प्राप्त करने का या उसे विल्कुल उखाड़ देने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रधान और विधान मण्डल के सदस्य के सम्बन्ध अधिकतर व्यक्तिगत लाभ पर आधारित होते है।

संसद सदस्य का कार्य जिला परिपद् तक ही सीमित है। क्योंकि उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है इस कारण प्रमुख और ससद सदस्य में अधिक संघर्ष नही मिलते। फिर राज्य की राजनीति का भी पंचायती राज पर प्रभाव पड़ता है तथा जाति, परम्पराओं, व्यक्तिगत प्रभाव आदि जैसे स्थानीय कारकों के अलावा राज्य स्तर पर कार्य करने वाली राजनीतिक शक्तियाँ भी पचायती राज पर प्रभाव डालती हैं। फिर जहाँ राजनीति होगी वहाँ राजनीतिक दल भी होंगे। अधिकाश नेता राजनीतिक दलों की तरफ से चुनाव लड़ते है। फलतः दलवन्दी का विप पूरे ग्राम जीवन को दूपित कर देता है।

राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप के अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों का व्यवहार भी गाँवों मे नेताओ के कार्यों पर प्रभाव डालता है। दोनो मे सामजस्य के अभाव के फलस्वरूप असन्तोप के भाव दिखाई देते है। नेताओं का यही सन्तोप व असन्तोप व कार्य करने की स्वतन्त्रता गाँवों के विकास कार्य को वल देती है अथवा वाधाएँ उत्पन्न करती है यद्यपि इसके साथ-साथ नेताओ के स्वयं के उत्साह, निष्पक्षता, आरम्भ शक्ति व रुचि आदि का भी विकास की गति से गहरा सम्बन्ध होता है।

पंचायती राज का मूल्यांकन

पचायती राज्य की सफलता मालूम करने का तरीका उसके संगठन और कार्यों का अध्ययन नही है परन्तु निम्न संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पूर्वाकांक्षितायें (Structural functional pre-requisites) है—

(1) आय वितरण एव विभिन्न समूहों के भूमि स्वामित्व में असमानता मे कमी।

(2) गावों में व्यावसायिक गतिशीलता का बढ़ जाना।

(3) नये प्रकार की आर्थिक क्रियाओं में तीव्र उन्नति जिससे ग्रामीण वित्त व्यवस्था को शक्तिशाली बनाया जाये तथा उसकी सामाजिक गतिकी (dynamics) को वढ़ाया जा सके।

(4) ग्रामीण और नगरीय भागों में एव कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों मे शक्ति सन्तुलन के लिए विवेकपूर्ण मूल्य नीति (rational price policy) का पाया जाना जिसमे भेद करने वाली शक्तियों को भी नियन्त्रित किया जा सके।

(5) संचार व्यवस्था की प्रकृति और क्षेत्र में आमूल परिवर्तन।

(6) ग्राम समाज के विभिन्न उप-संस्कृतियों में लौकिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्रियाओं में सामान्य सहभागिता द्वारा अधिक अन्त क्रिया।

पूरक (complementary) परिवर्तन का अभाव।

पंचायती राज और नेतृत्व

पचायती राज का एक राजनीतिक पहलू जनसाधारण की राजनीतिक चेतना को जगाना है। इस राजनीतिक चेतना की जागृति की प्रक्रिया में नेतृत्व भी उत्पन्न होता है। हर समुदाय में कुछ नेता होते है जिनको नेता मानने का कारण उनका ज्ञान, समझने की शक्ति, लोगो से बातचीत करने की चतुरता, स्थानीय परिस्थिति का गहरा ज्ञान, आदि होते हैं। इन्ही नेताओं द्वारा सामाजिक सस्थाओं, रहन-सहन के तरीकों आदि मे भी परिवर्तन लाया जाता है। यही नेता जनता का भी प्रतिनिधित्व करते है यद्यपि वे न तो चुने हुए नेता होते है और न औपचारिक रूप से अधिकृत। उनकी लोकप्रियता का कारण है लोगो की अपनी समस्याओं के समाधान हेतु उन पर निर्भरता। ऐसे नेताओं के बहुत से प्रकार होते है, जैसे अधिक आयु व अनुभव के कारण नेता, जाति के नेता, रिश्तेदार समूह के नेता तथा परम्परागत नेता जैसे जमीदार, जनजाति क्षेत्रो के प्रधान आदि। विकास योजनाओ के कारण कुछ परिस्थिति सम्बन्धी नेता और प्रायोजना नेता भी हुए है। पंचायती राज के कारण फिर कुछ चुनाव किये हुए नेता भी मिलते है। अब स्थानीय नेतृत्व एक पद चिह्न और स्थिति प्रतीक बन गया है। अब यह अधिकार-बिन्दु बन गये है जिनको विशेष व्यक्ति व समूह के लिए लाभ प्राप्त करने तथा सामुदायिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

कुछ अध्ययनों से ज्ञात होता है कि पंचायती नेता आयु में छोटे, बहुधा पुरुष, अधिकाश अशिक्षित, प्रमुख रूप से कृषक एवं ऊँची जातियों के सदस्य होते हैं। विचारों की दृष्टि से वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के अधिक पक्ष मे नहीं होते। एक रिपोर्ट[9] के अनुसार 22 प्रतिशत सरपच 3000–5000 रुपये प्रतिवर्ष आय समूह के सदस्य मिलते हैं और 13 प्रतिशत 5000 रुपये से अधिक आय समूह के सदस्य है।

तीन प्रमुख समस्याएँ जो पंचायती राज के नेतृत्व मे मिलती हैं, वे हैं—(1) निम्न स्तर व ऊँचे स्तर के नेताओ में एव ग्रामीण और नगरीय नेताओं मे सम्बन्ध, (2) ग्रामीण नेतृत्व पर नगरीय नेतृत्व का प्रभाव अथवा इसका विपरीत, (3) नेताओं का प्रशिक्षण। पहली समस्या मे हमें जो सघर्ष मिलता है वह है सरपच और प्रधान के बीच, प्रधान और प्रमुख के बीच, प्रधान और राज्य विधान मण्डल के सदस्य के बीच और प्रमुख और ससद सदस्य के बीच। सरपच और प्रधान के सम्बन्धो मे सरपंच पंचायत समिति के राजनीति मे अधिक और ग्राम पचायत की बातों मे कम रुचि लेता है। फिर पचायती राज में प्रधान एक प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति के रूप में उभड़ा है जिसने प्रमुख को भी एक तरह ढक दिया है। इसी प्रकार प्रधान भी राज्य

[9] *Panchayati Raj Election Report*, 1961, Plan Evaluation Organisation, Rajasthan, 36.

विधान मण्डल के सदस्य का राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी बन गया है क्योंकि वह भी विधान मण्डल का सदस्य बनने का स्वप्न देखता है। इस कारण उससे या तो स्नेह प्राप्त करने का या उसे बिल्कुल उखाड़ देने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रधान और विधान मण्डल के सदस्य के सम्बन्ध अधिकतर व्यक्तिगत लाभ पर आधारित होते हैं।

संसद सदस्य का कार्य जिला परिषद् तक ही सीमित है। क्योंकि उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है इस कारण प्रमुख और ससद सदस्य में अधिक संघर्ष नही मिलते। फिर राज्य की राजनीति का भी पचायती राज पर प्रभाव पड़ता है तथा जाति, परम्पराओ, व्यक्तिगत प्रभाव आदि जैसे स्थानीय कारको के अलावा राज्य स्तर पर कार्य करने वाली राजनीतिक शक्तियाँ भी पचायती राज पर प्रभाव डालती है। फिर जहाँ राजनीति होगी वहाँ राजनीतिक दल भी होगे। अधिकाश नेता राजनीतिक दलो की तरफ से चुनाव लड़ते है। फलतः दलबन्दी का विष पूरे ग्राम जीवन को दूषित कर देता है।

राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप के अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों का व्यवहार भी गाँवो में नेताओ के कार्यों पर प्रभाव डालता हैं। दोनो मे सामजस्य के अभाव के फलस्वरूप असन्तोष के भाव दिखाई देते हैं। नेताओं का यही सन्तोष व असन्तोष व कार्य करने की स्वतन्त्रता गाँवों के विकास कार्य को बल देती है अथवा बाधाएँ उत्पन्न करती है यद्यपि इसके साथ-साथ नेताओ के स्वयं के उत्साह, निष्पक्षता, आरम्भ शक्ति व रुचि आदि का भी विकास की गति से गहरा सम्बन्ध होता है।

पंचायती राज का मूल्यांकन

पंचायती राज्य की सफलता मालूम करने का तरीका उसके संगठन और कार्यों का अध्ययन नही है परन्तु निम्न संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पूर्वाकाक्षितायें (Structural functional pre-requisites) हैं—

(1) आय वितरण एवं विभिन्न समूहों के भूमि स्वामित्व में असमानता मे कमी।

(2) गावों में व्यावसायिक गतिशीलता का बढ़ जाना।

(3) नये प्रकार की आर्थिक क्रियाओं में तीव्र उन्नति जिससे ग्रामीण वित्त व्यवस्था को शक्तिशाली बनाया जाये तथा उसकी सामाजिक गतिकी (dynamics) को बढ़ाया जा सके।

(4) ग्रामीण और नगरीय भागो में एवं कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में शक्ति सन्तुलन के लिए विवेकपूर्ण मूल्य नीति (rational price policy) का पाया जाना जिससे भेद करने वाली शक्तियो को भी नियन्त्रित किया जा सके।

(5) संचार व्यवस्था की प्रकृति और क्षेत्र में आमूल परिवर्तन।

(6) ग्राम समाज के विभिन्न उप-संस्कृतियों में लौकिक, आर्थिक, सास्कृतिक और राजनीतिक क्रियाओं में सामान्य सहभागिता द्वारा अधिक अन्त.क्रिया।

इन्ही पूर्वाकांक्षिताओं के मूल्याकन से हम यह देखने का प्रयास भी कर सकते है कि जिन उद्देश्यो से पचायती सस्था का विकास किया गया था उनकी कहाँ तक पूर्ति हो पायी है।

इसमे जो हमे प्रमुख सफलता मिलती है वह है एक युवा आयु समूह के उस नव परम्परात्मक नेतृत्व का विकास होना जो न पूर्ण रूप से परम्परात्मक है और न पूर्ण रूप से आधुनिक, परन्तु जो भौतिक लाभ की प्राप्ति हेतु आधुनिकीकरण के कुछ अधिक पक्ष में है। ये नेता भविष्य के ग्रामीण सत्ताधिकारी होंगे और गावो के विकास के प्रधान आधार होंगे तथा ग्राम और नगरीय राजनीति की कड़ी (link) बनेंगे और अन्ततः, जिला, राज्य और राष्ट्रीय राजनीति पर एक संकल्पवाद सम्बन्धी प्रभाव (deterministic influence) डालेंगे।

दूसरा, पचायती राज के कारण कुछ राजनीतिक चेतना (political consciousness) बढ गयी है। यह चेतना ग्रामीण लोगों में एव गैर-सरकारी सस्थात्मक नेतृत्व के स्तर पर मिलती हैं।

इन सफलताओं के होते हुए भी इनमें दोष अधिक मिलते है जिनमे प्रमुख इस प्रकार है—

(1) पचायती राज ने प्रसार सेवाओं (extension service) को कमजोर कर दिया है। इसके मुख्य कारण है—(i) तकनीकी विभागो की काम से भागने की प्रधारणा, (ii) जिला स्तर के अधिकारियो की रुचि शून्यता, (iii) ब्लाक स्तर के नेताओं की जिला और राज्य स्तर पर दी जाने वाली तकनीकी सहायता के प्रति असहयोगी भावना, (iv) गाँवों मे पायी जाने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ, (v) ग्रामवासियों और प्रसार सेवाओं के कार्यकर्त्ताओं के बीच आदान-प्रदान की कठिनाइयाँ, (vi) ग्राम सेवकों को प्रलोभन का अभाव, और (vii) सरकारी और गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओं के बीच संघर्ष।

(2) कार्यक्रम में जनसहभागिता प्राप्त नही हुई है। ग्रामीण लोग तथा गैर-सरकारी सस्थात्मक नेता अब भी विकास कार्यक्रम को यदि राज्य द्वारा लादा हुआ कार्यक्रम नही तो राज्य द्वारा घोषित किया हुआ कार्यक्रम अवश्य मानते हैं। इस प्रकार इसमे तादात्मीयकरण (identification) की भावना और साझेदारी व सहकारिता का अभाव पाया जाता है।

(3) पचायती राज लोगों में सामाजिक परिवर्तन के प्रति धारणाओं में कोई परिवर्तन नही ला पाया है। दहेज, मृत्यु-भोज, बाल-विवाह, विधवा-विवाह के प्रति घृणा आदि सामाजिक कुरीतियाँ अब भी गाँवों मे मिलती हैं। इसी प्रकार परिवार नियोजन कार्यक्रम को भी लोगो ने नहीं अपनाया है। बच्चों को वे अब भी ईश्वर की देन समझते हैं। अस्पृश्यता की प्रथा अब भी पायी जाती है। शिक्षा के प्रति विचार, विशेषकर स्त्रियों मे शिक्षा के प्रति विचारों में भी परिवर्तन नहीं मिलता।

(4) पंचायती राज अधिक आर्थिक परिवर्तन भी नही ला पाया है। इसने आर्थिक असमानता को दूर करने के बजाय बढ़ाया ही है। आर्थिक विकास के लाभ

राजनीतिक रूप से प्रवल लोगों को अधिक मिले है। यही लोग अधिकांशतः आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रवल व्यक्ति भी होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते है कि हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में समाजवाद का झुकाव नही मिलता। जव तक भूमि नीतियों मे परिवर्तन, कृषि सुधार, ग्रामीण ऋण पर नियन्त्रण आदि नही मिलते, पचायती राज्य आर्थिक परिवर्तन लाने में सफल नही होगा।

(5) योजनाएँ अव भी निम्न स्तर पर नही वनती है जिसका मुख्य कारण है योजना निर्माण के प्रति तकनीकी ज्ञान की अज्ञानता, उपलब्ध साधनो की अनभिज्ञता।

(6) पंचायती राज में यद्यपि सर्वसम्मत चुनावों को प्रेरणा दी गयी है तथा ग्रामीण स्तर पर विना राजनीतिक दलो वाले प्रजातन्त्र की स्थापना पर वल मिलता है फिर भी इससे गाँवों में गुटवन्दी वढ गयी है। शक्ति गुटो के वढ जाने से पंचायतों का एक प्रकार से राजनीतिक पक्षपूर्वक समूहो और राजनीतिक निर्वासित समूहों मे विभाजन हो गया है जिससे प्राप्त लाभ के वाँटने मे विभेद-सा आ गया है।

(7) सरकारी अधिकारियों और गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओ के सम्वन्धों मे अविश्वास व असन्तोष पैदा हो गया है।

(8) ग्राम सभायें भी अभी तक शक्ति प्राप्त नही कर पायी है।

(9) एक ओर तो पचायती राज ने नये नेतृत्व के उभरने की सम्भावना को जन्म दिया है जिससे शक्ति और सामाजिक पदो के पुनः विभाजन की आशा मिलती है परन्तु दूसरी ओर इसने जाति-भेद और जाति-शासन की प्रवृत्तियों को चिरस्थायी किया है तथा गुटों और सघर्षों को वढ़ाया है।

मोटे शब्दो मे कहा जा सकता है कि पंचायती राज संस्थाएँ विकेन्द्रीकृत जनतन्त्र के लिए विकास क्रियातन्त्र (development mechanism) के स्थान पर शक्ति क्रियातन्त्र (power machanism) के रूप मे पहचानी जाती है। शक्ति क्रियातन्त्र के रूप मे पंचायतों ने शक्ति के एकाधिपत्य को लोप करने के वजाय इसे नये स्वामियो—सरपचो और प्रधानों—के पक्ष मे मोड़ दिया है।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए तथा पचायती राज को सफल बनाने के निम्न प्रयास किये जा सकते है—

(1) पचायती राज में सरकारी अधिकारियों और गैर-सरकारी कार्यकर्त्ताओ व नेताओं के कार्यों में वहुत अतिक्रमण व परस्पर व्यापकता मिलती है जिससे अधिकारियों और कार्यकर्त्ताओ के वीच संघर्ष बढ़ते हैं। हर व्यक्ति के उत्तरदायित्व स्पष्ट रूप से परिभाषित करके तथा कार्य-विभिन्नता को परिशुद्ध (precise) वनाकर कार्य-स्थिरता लायी जा सकती है तथा इन सघर्षों को कम किया जा सकता है।

(2) कार्य-स्थिरता लाने के अलावा कार्य-अभिमुखता व कार्य-कुशलता लाने की भी आवश्यकता है। दूसरे शब्दों मे हर व्यक्ति को सही प्रशिक्षण देकर उनके कार्यों को सक्रियात्मक रूप से अर्थपूर्ण वनाया जा सकता है।

(3) विकेन्द्रीकरण के लिए कोई संस्थात्मक प्रतिरूप तैयार करना आवश्यक

है। वह प्रतिरूप दोनों विकास और प्रजातन्त्रवाद के लिए वांछित फलोत्पादक (efficacious) साधन होगा। इस समय पायी जाने वाली रीति के अनुसार जब कभी पंचवर्षीय योजना बनानी होती है तो राज्य सरकारों को कहा जाता है कि वे अपनी योजना प्रस्तुत करे। राज्य सरकार फिर जिला-स्तर पर सलाहकार समितियाँ आदि स्थापित करके ब्लाक-स्तर पर बनायी गयी योजनाओं का समन्वय करके योजनाएँ मगवाती है। इन जिला योजनाओं में राज्य परियोजना मिला करके योजना आयोग को राज्य की योजना प्रस्तुत की जाती है जो सदा वित्तीय सीमाओं के अभाव में उपलब्ध साधनो का तीन-चार गुना से भी अधिक होती है। योजना आयोग जब हर राज्य के लिए वित्तीय सीमाएँ निर्धारित करता है तो राज्य सरकार को अपनी परियोजना छोटी करने के लिए कहा जाता है। राज्य सरकार फिर राज्य परियोजनाओं को कम करने के स्थान पर जिला और क्षेत्रीय स्तर की योजनाओं को कम करती है। इस प्रकार पचायती राज सस्थाओं का योजना-निर्माण में कार्य एक रूप से स्वाग ही होता है। इसी को लेकर सदा यह प्रश्न पूछा जाता है कि योजना-निर्माण की इकाई क्या रहे? जिला, ब्लाक या ग्राम? कुछ लोग जिले को इकाई बनाने के पक्ष में हैं, कुछ ब्लाक को परन्तु अधिकतर ग्राम को। योजना आयोग के एक सदस्य (श्री तरलोक सिह) भी ग्राम को ही योजना बनाने की इकाई के ही पक्ष मे थे, क्योकि इनका कहना था कि ग्राम स्तर पर सामाजिक परिवर्तन की सभी शक्तियों को जानकर हम समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व समझ सकते हैं। परन्तु साथ मे उनका यह भी विचार था कि ग्राम स्तर पर बिना पथ-प्रदर्शन के (कि ब्लाक-स्तर पर क्या साधन उपलब्ध हो सकते है आदि) योजना बनाना आसान नही है। इस कारण ग्राम, ब्लाक और इसी प्रकार जिला, राज्य, राष्ट्रीय स्तर पर योजनाएँ बनाने के समन्वय अत्यन्त आवश्यक है।[10] कुछ लोग फिर गाँव को इकाई न मानकर ब्लाक व जिले को सही इकाई मानते है। उनका कहना है कि इस समय हमारे सामने दो माडल व प्रतिरूप हैं—(क) राजस्थान माडल, और (ख) महाराष्ट्र माडल। राजस्थान माडल मेहता कमेटी द्वारा प्रस्तावित माडल का परिवर्तित रूप है। यह माडल ब्लाक को विकेन्द्रीकरण की इकाई मानता है तथा इसे प्रजातन्त्रवाद की स्थापना के लिये बहुत सहायक माना जाता है। महाराष्ट्र माडल जिले को विकेन्द्रीकरण की इकाई मानता है तथा इसे प्रजातन्त्रवाद के लिये नही अपितु विकास के लिये बहुत सहायक माना जाता है। इस कारण सबसे उचित तरीका यह होगा कि सादिक अली कमेटी द्वारा सकेत किया हुआ दोनों माडल का माध्य (mean) निकाला जाये।[11] इसके अनुसार जिला स्तर पर जिला परिषद् को योजना बनाने के लिये इकाई समझना एवं ब्लाक को योजना परिपालन तथा जन-सहभागिता की दृष्टि में इकाई मानना। परन्तु हमारे

[10] Singh, Tarlok, See *Panchayati Raj, Planning and Democracy*, op. cit., 237.

[11] *Report of the Study Team on Panchayati Raj*, 1964, Panchayat and Development Department, Govt. of Rajasthan, 84-98.

विचार में योजना-निर्माण की सर्वोचित इकाई निर्धारित करने में हमें योजना को चार स्तर पर देखना होगा—(अ) योजना के आकार को निश्चित करना, (आ) क्षेत्रीय हिस्से (allocations) निर्धारित करना, (इ) विभिन्न योजनाओं का स्थान-नियत (location) निश्चित करना, तथा (ई) योजनाओं का वास्तविक परिपालन।

इनमें से पहले दो स्तर की योजनाएँ तो केवल राज्य स्तर पर ही सम्भव हो सकती हैं क्योंकि राज्य ही साधन और तकनीकी ज्ञान उपलब्ध करता है। तीसरे और चौथे स्तर की योजना का निर्माण ग्रामवासियों द्वारा ही अधिक उचित रहेगा क्योंकि गाँव के लोगों तथा इनके प्रतिनिधियों को ही स्थानीय आवश्यकताओं का ज्ञान तथा सुधार लाने की प्रबल रुचि हो सकती है। इस कारण स्थान निश्चित करना तथा योजना बनाने का स्तर जिला और उन योजनाओं के परिपालन के लिये योजना का स्तर पंचायत समिति ही सही रहेगा।

(4) चौथा प्रश्न है कि पचायती राज की तीन स्तरीय संरचना में किस स्तर को वास्तविक अधिकार व शक्ति प्रदान की जाये? इसके लिए कहा जा सकता है कि ब्लाक-स्तर पर पंचायत समिति को सर्वाधिकार देना अधिक सही होगा क्योंकि जिला-स्तर पर नेतृत्व में अधिकतर नगरीय लक्षण पाया जाता है। यदि हम चाहते हैं कि पचायती राज ग्राम निवासियों की आवश्यकताओं को पूरा करे तो हमें नेतृत्व को उसी स्तर पर विकसित करना होगा जहाँ व्यक्ति सचमुच ग्रामीण समस्याओं को जानते है। ग्राम पचायत इसके लिए बहुत छोटा क्षेत्र होगा। इस कारण ब्लाक-स्तर ही उपयुक्त है। इस समय ब्लाक-स्तर पर यदि अच्छे नेता नही भी मिलते तो भी अन्तत: वे अवश्य उभरेंगे।

योजना निर्माण एवं पंचायती राज

पचायती राज में निचले स्तर पर योजना-निर्माण पर बल दिया जाता है और यह कहा जाता है कि जब तक ग्राम-स्तर का योजना-निर्माण राष्ट्रीय योजना-निर्माण से जोड़ा नही जायेगा पंचायती राज सफल नही होगा। किन्तु अशोक मेहता का विचार है कि इस प्रकार का साहचर्य आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर परन्जपे (Paranjpe) का कहना है कि योजना निर्माण दो ओर की प्रक्रिया है तथा निचले और ऊँचे स्तर की योजनाओं का सम्बन्ध ही सम्पूर्ण योजना के सही लक्षण निर्धारित करता है। योजना-निर्माण मे प्रमुख रूप से तीन तत्व पाये जाते हैं—(अ) राज्य स्तर पर योजना-निर्माण में राज्य के प्रधान पदाधिकारियों को पथ-प्रदर्शन करना ही होगा क्योंकि केवल उन्हें ही राष्ट्रीय एवं राज्य वित्त-व्यवस्था का सही स्वरूप ज्ञात होता है। (आ) जिला स्तर पर तकनीकी अधिकारियों को योजना को सविस्तार निर्धारित करना होगा। (इ) ब्लाक-स्तर पर जनसाधारण से योजना-निर्माण में साहचर्य प्राप्त करना भी आवश्यक ही है जिससे उनकी सही आकांक्षाएँ व अनुक्रियाएँ ज्ञात हो सकें। दूसरे शब्दों में ब्लाक-स्तर पर पदाधिकारियों के कार्यों को सीमित करना होगा जबकि जिला-स्तर पर दोनों सरकारी और गैर-सरकारी

तत्त्वों की आवश्यकता है।

बलवन्तराय मेहता कमेटी ने भी 1957 में योजना-निर्माण में जन-साधारण का साहचर्य प्राप्त करने तथा ग्रामीण समुदाय के विकास को पूरे देश के विकास के साथ समाकलन करने पर बल दिया था।[12] उनका विचार था कि इस संकलन में सर्वोपरि प्राथमिकताएँ सरकार द्वारा निर्धारित की जायें और उनका विस्तार ग्राम समुदाय द्वारा किया जाये। इस प्रकार एक ओर अध्ययन समूह ने ग्राम-स्तर पर अधिकारों के परिक्रमण (devolution) की आवश्यकता बतायी और दूसरी ओर राष्ट्रीय एवं राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित प्राथमिकताओं को महत्त्व देने के सुझाव से उनकी सक्रियात्मक आरम्भ-शक्ति (*operational initiative*) की सीमा बाँधने पर बल दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि पंचायती राज सस्थाएँ राष्ट्रीय और राज्य योजनाओं के लिए प्रमुख रूप से अधिवासी कार्यवाहक सगठन है तथा ऊँचे स्तर पर योजना-निर्माण अब भी राज्य सरकार का उत्तरदायित्व होगा जबकि पंचायतों को केवल उनको पूर्ण रूप से विकसित करना होगा।

यद्यपि योजनाएँ बनाने में राज्य सरकारों को अधिक महत्त्व दिया गया है फिर भी स्थानीय आवश्यकताओं व उपलब्ध साधनों की दृष्टि से पंचायतो का योजना-निर्माण में साहचर्य ही स्वयं में देश के आर्थिक विकास में एक क्रान्तिकारी उपसर्ग है। अब जो दो प्रमुख प्रश्न उत्पन्न होते हैं, वे है—(क) पंचायतों को किस प्रकार यह शिक्षा व निर्देशन दिया जाये जिससे वे स्थानीय विकास के लिए अपनी आकाक्षाएँ निर्धारित करने में राष्ट्रीय योजनाओं और प्राथमिकताओ को ध्यान मे रखना आवश्यक समझें, तथा (ख) क्या पंचायती राज खण्ड का इस प्रकार सीमाङ्कन (demarcation) सम्भव है जिससे स्थानीय समूह स्थानीय विकास के लिए अपनी इच्छानुसार योजना बनाने में भी स्वतन्त्र हों और साथ मे अन्य क्षेत्रों मे वे राज्य और राष्ट्रीय सरकारो के केवल अधिशासी कार्यवाहक संगठन के रूप में कार्य करें।

पिछले दस वर्षों के अनुभव ने तथा कार्यक्रम मूल्याकन संगठन एवं राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा किये गये पचायती राज अनुसन्धान परियोजन ने यह सिद्ध किया है कि योजनाओं के निर्माण में पंचायतो में अभी सक्रियात्मक निपुणता कम है। राजस्थान विश्वविद्यालय के शोध ने स्थानीय स्तर पर योजनाओ के निर्माण की चार सक्रियात्मक समस्याएँ सूचित की है[13]—(1) तकनीकी सहायता और निरीक्षण का अभाव, (2) शासकीय प्रक्रियाओं की अनुपयुक्तता व अपात्रता, (3) वित्तीय साधनों की कमी, और (4) राजनीतिक खिचाव और दबाव का अवश्यम्भावी व अत्याज्य (inevitable) प्रभाव। इन चारों समस्याओ के कारण पचायते स्थानीय

[12] *Report of the Team for the Study of C. D. Ps. and National Extension Service*, Vol. 1, Delhi, Nov. 1957, 3.

[13] *Report on the Working of Panchayati Raj in the Jaipur District*, Panchayati Raj Research Project Unit, University of Rajasthan, Jaipur, 1963.

योजनाएँ बनाने में बिल्कुल विफल रही है।

राजस्थान में इस समय जो परिस्थिति पायी जाती है उसमें पंचायतों को केवल सामुदायिक विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने का कार्य दिया गया है जिसके लिए संचित धन या तो विकास के क्षेत्रीय बजट द्वारा उपलब्ध किया जाता है या फिर उन सहकारी विभागों द्वारा जिनके अन्तर्गत वे कार्य आते है। उदाहरणतया पंचायतों को इस समय कृषि, समाज-कल्याण, सहकारिता, कुटीर उद्योग, प्राथमिक शिक्षा आदि के कार्य सौंपे गये हैं। इन कार्यों के लिए उन्हें सरकार के इन्ही विभागों से आवश्यक धनराशि उपलब्ध होती है। इन कार्यों के लिए शर्त भी इन्ही विभागों द्वारा निर्धारित की जाती है। इससे ज्ञात होता है कि पंचायतों का योजना-निर्माण में सही रूप से किस सीमा तक साहचर्य प्राप्त किया गया है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि पचायती राज सामुदायिक विकास कार्यक्रम से अधिक फलोत्पादक है तथा इसमें सम्भावित शक्ति अधिक मिलती है, यद्यपि अभी तक यह प्रजातन्त्र के लिए और अधिक विकास के लिए कम सहायक सिद्ध हुआ है। अपनी प्रत्याशाओं की पूर्ति के लिए इसे और अधिक विकसित होना है।

10 राष्ट्रीय एकता
(NATIONAL INTEGRATION)

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में धार्मिक सम्प्रदायों, भाषायी समूहों तथा विभिन्न राज्यों द्वारा प्रादेशिकता की भावना पर आधारित बढ़ती हुई मांगो एवं उनकी स्वायत्तता की अभियाचना के कारण भारत में राष्ट्रीय एकता तथा जनता में अखण्ड भारत की राष्ट्रीय भावना का यथेष्ट विकास करने की समस्या ने राजनीतिज्ञों तथा सभी चिन्तनशील वर्गों के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। तीसरे और चौथे आम चुनावों के उपरान्त एक ही राजनीतिक दल कांग्रेस के प्रभुत्व की समाप्ति के कारण तथा विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करते हुए किसी एक विशेष क्षेत्र के लिए राजनीतिक इकाइयों के रूप में कार्य करने के कारण भी इस समस्या को महत्त्व मिला है। भारत विभिन्नताओं का देश है। यहाँ हमें जातीय, धार्मिक, साम्प्रदायिक, भाषायी तथा सांस्कृतिक विषमताएँ मिलती हैं। इन विविधताओं में एकता लाना राष्ट्रीय विकास व प्रगति के लिए अति आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के बाद स्वाधीनता संग्राम के लिए सभी भारतीयों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एकता व राष्ट्रीय भावना अधिक दिखायी दी थी। ऐसी ही एकता फिर 1962 में चीन और 1965 और 1971 में पाकिस्तान के आक्रमण के समय दृष्टि-गोचर हुई थी। परन्तु यह भावात्मक एकता स्थायी न रह सकी। फलतः अब यह मालूम करने के प्रयास बढ़ते जा रहे है कि कौन से तत्त्व राष्ट्रीयता की भावना को कमजोर बनाने में विशेषतः उत्तरदायी हैं और उन्हें किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है।

राष्ट्रीय एकता की समस्या के तीन विशिष्ट पहलू हैं और तीनों को समान व उपयुक्त महत्त्व देना आवश्यक है क्योंकि इनमें से एक को भी अस्वीकृत करने से व उसके उपेक्षण से परिस्थिति निकृष्ट हो सकती है। ये तीन पहलू हैं—राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक। राजनीतिक पहलू में हमें केन्द्र और राज्यों एवं विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझना है तथा यह देखना है कि इनके संघर्षों को नियन्त्रित करके किस प्रकार इनमें सामंजस्य व समरस सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं; आर्थिक पहलू में अलग-अलग राज्यों व क्षेत्रों में आर्थिक असमानताओं को दूर करने एवं उनको अपने विकास के लिए बराबर व पर्याप्त अवसर प्रदान करने हेतु उपलब्ध साधनों के समान वितरण की समस्या को समझना है; सामाजिक पहलू में भाषावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद आदि बाधकों को दूर करके समजातीय

दृष्टिकोण (homogeneous outlook) का विकास करना है। इन तीनों पहलुओं के अलग-अलग विवरण से पहले हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि राष्ट्रीय एकता की व्यापक संकल्पना व धारणा क्या है ?

राष्ट्रीय एकता की धारणा

राष्ट्रीय एकता समचेतना (consciousness of kind) पर आधारित एक वह प्रक्रिया है जिसमें देश के विभिन्न समूह व उप-समूह एकता एवं तादात्मीकरण के सर्वोच्च स्तर प्राप्त करने के सामान्य उद्देश्य हेतु रचनात्मक प्रयास करते हैं।[1] साधारण शब्दों में राष्ट्रीय एकता को वह प्रक्रिया बता सकते है जिसमें विभिन्न धार्मिक समूह (हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी आदि), क्षेत्रीय समूह (महाराष्ट्रियन, केरलाइट, बंगाली, तामिलनायडूज आदि,) भाषायी समूह (पंजाबी, सिन्धी, गुजराती आदि), एवं सामाजिक व सांस्कृतिक समूह (जातियाँ, जनजातियाँ आदि) व्यक्तिगत कल्याण के लिए नहीं अपितु अपने को सर्वप्रथम भारतीय मानकर देश के कल्याण व उन्नति के लिए मिलकर कार्य करते हैं। विभिन्न समूहों का यह पारस्परिक सामंजस्य पूर्व निश्चित व समायोजित लक्ष्यों, नीतियों व युक्तियों पर आधार रखता है।

वास्तव में राजनीतिक एकता की समस्या बहुत पुरानी समस्या नहीं है। प्राचीन एवं मध्य मौर्य, गुप्त आदि युगों में अथवा पन्द्रहवीं शताब्दी तक सांस्कृतिक आदि विविधताओं के होते हुए भी देश में भावनात्मक व राष्ट्रीय एकता के निर्माण की समस्या उत्पन्न ही नही हुई। सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त ही मुसलमानों और अंग्रेजों की स्वार्थी नीतियों के कारण कुछ विघटनकारी व पृथक्तावादी शक्तियों ने राष्ट्र की अखण्डता को नष्ट करने का प्रयास किया है। देश के विभाजन के बाद यह सोचा जाता था कि अब सभी व्यक्ति अपने उत्तरदायित्वों को समझकर धर्म, प्रान्त, जाति आदि के भेद-भाव भूलकर राष्ट्र के गौरव की रक्षा करेंगे किन्तु पिछले बीस वर्षों के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि राष्ट्रीय एकता की समस्या अब पहले से भी बहुत विकराल, उग्र व तीव्र हो गयी है। केवल अपने क्षेत्र को विकसित करने की भावना, भाषा के आधार पर नये राज्य स्थापित करवाने के राजनीतिक दबाव, अपने पंथ की प्रतिनिष्ठा पर आधारित कार्य करने के विचार एवं साम्प्रदायिक क्रियाओं ने देश की एकता पर गम्भीर आघात किया है। यहाँ हम इन्ही कारणों का विश्लेषण करके राष्ट्रीय एकता को समझने का प्रयास करेंगे।

राष्ट्रीय एकता में बाधक कारक

प्रमुख रूप से चार कारकों ने देश की एकता पर आक्रमण किया है। यह

[1] 'Integration may be defined as a process that involves a conscio of the kind as well as general socially constructive efforts of different and sub-groups to attain a common goal and a maximum level of identification and involvement.'

कारक हैं—क्षेत्रवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और जातिवाद। इन चारों का हम अलग-अलग विवरण करेंगे।

क्षेत्रवाद (Regionalism)

क्षेत्रवाद में दो प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं—एक ओर यह उन राज्यों व क्षेत्रों के असन्तोष, निराशाओं व अराजकता को अभिव्यक्त करता है जिनको अपने आर्थिक, शैक्षणिक आदि विकास के लिए न्याययुक्त हिस्सा प्राप्त नहीं होता है; दूसरा, यह उस प्रक्रिया को प्रकट करता है जिसमें कुछ प्रतिक्रियावादी अथवा विघटनकारी शक्तियाँ देश के विशाल जनसमूह में प्रादेशिकता की भावनाओं की निरन्तरता पर आधारित मांगों द्वारा फूट पैदा करने का प्रयास करती है। किसी भी फेडरल (स्वायत्त सत्ताधारी राज्यों का संघ) संविधान में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एव केन्द्र और राज्यो के मध्य सामजस्य सम्बन्धों की समस्या उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भारत में यह समस्या इस कारण भी विशेष रूप से उत्पन्न हुई है क्योंकि यहाँ राज्यों का निर्माण व संगठन भाषा के आधार पर हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात् यद्यपि यह निश्चित हुआ कि हमारी शासन-प्रणाली फेडरल प्रकार की रहेगी किन्तु इकाइयों के गठन के लिए कोई निश्चित नियम व आधार निर्धारित नहीं किये गये। केवल उस समय विद्यमान प्रान्तों की सूची बनायी गयी। कुछ समय उपरान्त जब भाषा को फेडरल इकाइयों के संगठन का आधार माना गया तब कुछ राज्यों का पुनः सगठन किया गया। परन्तु क्योंकि इसमें क्षेत्र में विद्यमान संस्कृति को महत्त्व नहीं दिया गया है इस कारण बहुत से राज्यो में असन्तोष उत्पन्न आ है। यह असन्तोष ही अब बहुत से राज्यों के परस्पर संघर्ष का कारण है।

फिर तीसरे आम चुनावों तक केन्द्र और अधिकाश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की प्रभाविता थी जिससे राज्यों ने केन्द्र सरकार की शक्ति व अधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी। परन्तु अब बहुत से राजनीतिक दलों के शक्ति में आने से तथा राज्यो द्वारा अपने सांविधानिक अधिकारों पर निष्ठापूर्वक बल देने के कारण केन्द्र और राज्यों के आपसी संघर्ष बढ गये है। इसके अतिरिक्त नये राजनीतिक दलों के शक्ति मे आने से राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर भी आपत्ति उठायी जा रही है एव दोषारोप लगाये जा रहे है। बहुत-से राज्य केन्द्र से प्राप्त आर्थिक सहायता की राशि से सन्तुष्ट नहीं है। वे अपने राज्य के विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए केन्द्र से अधिक वित्त प्रबन्ध की आशा व मांग करते है।

कुछ राज्य यह भी अनुभव करते है कि आर्थिक विकास के औद्योगिक योजनाओं मे उनका उपेक्षण किया जा रहा है। ब्रिटिश काल में औद्योगिक विकास की क्रियाएँ बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि कुछ चुने हुए बन्दरगाह के नगरो तक ही सीमित रही। आजादी के बाद यह सोचा जाने लगा कि उद्योगों के फैलाने का कार्य देश के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक है तथा उद्योगों का स्थान निश्चित रना कच्चे माल के लभ्यता, यातायात की सुविधाओं एवं क्रय-विक्रय के लिए

उपलब्ध सुगमता पर निर्भर होना चाहिए और यथासम्भव उद्योग छोटे नगरो व ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित किये जाने चाहिए। यह शासन नीतियाँ भारत सरकार के 6 अप्रैल 1948 और 30 अप्रैल 1956 की औद्योगिक नीति सम्बन्धी वक्तव्यों से भी विदित होती है। दूसरी पंचवर्षीय योजना ने भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक विकास सम्बन्धी सन्तुलन रखने हेतु उद्योगों के क्षेत्रीय वितरण पर बल दिया। परन्तु 1957 तक की औद्योगिक परिस्थितियो से ज्ञात होता है कि केवल महाराष्ट्र और बगाल में ही औद्योगिक कर्मचारियों की कुल संख्या का 57 प्रतिशत पाया जाता है तथा इन दो राज्यो मे औद्योगिक एकाग्रता की ऊँची मात्रा मिलती है। इनकी तुलना में उत्तर प्रदेश में केवल 10 प्रतिशत, तमिलनाडु में 9 प्रतिशत, बिहार में 6 प्रतिशत और अन्य राज्यों में 5 प्रतिशत से भी कम औद्योगिक कर्मचारी मिलते है।[2]

इसी प्रकार कृषि क्षेत्र मे भी क्षेत्रीय विभेद मिलता है। जब 1959–60 में प्रत्येक व्यक्ति के पीछे उत्पादन राशि राजस्थान में 23.4 रुपये थी, केरल और तमिलनाडु में यह 45 रुपये थी, पंजाब में 67 रुपये, आन्ध्रप्रदेश मे 75 रुपये, महाराष्ट्र में 83 रुपये और आसाम, उत्तर प्रदेश व बगाल में 110 और 120 रुपये के मध्य थी।[3] बिजली के उपयोग में भी क्षेत्रीय विभेदीकरण मिलता है। 1959–60 में भारत में कुल प्रयोग की गयी बिजली में से 60 प्रतिशत केवल उत्तर प्रदेश मे प्रयुक्त की गयी थी।[4] देश के विकास के लिए जो केन्द्र सरकार ने नये उद्योगों की क्षेत्रीय योजनाएँ आरम्भ की हैं तथा हर राज्य में जो प्रत्येक व्यक्ति के पीछे पूँजी का विनियोग मिलता है वह भी राज्यो के आर्थिक विकास में विषमता सिद्ध करता है। 17 राज्यो में 2651·6 करोड़ रुपये की पूँजी पर आधारित कुल 111 औद्योगिक इकाइयाँ आरम्भ की गयी है जिनका वितरण पृष्ठ 210 पर अंकित सारणी में दिखाया गया है।[5]

यह आँकड़े कुछ राज्यो को कम और कुछ को अधिक महत्त्व मिलना बताते हैं। सम्भवतः इसी कारण कुछ पृथक् राज्यों के निर्माण की माँग भी बढ़ती जा रही है। आन्ध्रप्रदेश मे तेलगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात मे डाग (Dangs) और दूबला (Dublas) जनजातियों के लिए राज्य, उत्तरप्रदेश मे कुमाऊँ, और टेहरी-गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्रों को मिलाकर अलग राज्य, उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्र को पृथक् कर विशाल हरयाना बनाने की अभियाचना, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के कुछ जनजाति जिलो को अलग कर झारखण्ड राज्य बनाने का दावा, तथा छतीसगढ राज्यो की माँग आदि क्षेत्रीय स्तर पर बढ़ते हुए असन्तोष के लक्षण है। सम्भवतः इसी कारणवश कुछ राजनीतिक दलो मे क्षेत्रीय विकास की भावना अधिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण कम मिलता है। कुछ शिक्षाशास्त्री भी इन छोटे राज्यों की स्थापना

[2] Kaul, J. M., *Problems of National Integration*, April 1963, 75.
[3] *Ibid.*, 77.
[4] *Ibid.*, 78.
[5] *The States*, 27 December, 1969.

कारक है—क्षेत्रवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और जातिवाद। इन चारों का हम अलग-अलग विवरण करेंगे।

क्षेत्रवाद (Regionalism)

क्षेत्रवाद में दो प्रकार की भावनाएँ मिलती हैं—एक ओर यह उन राज्यों व क्षेत्रों के असन्तोष, निराशाओं व अराजकता को अभिव्यक्त करता है जिनको अपने आर्थिक, शैक्षणिक आदि विकास के लिए न्याययुक्त हिस्सा प्राप्त नहीं होता है; दूसरा, यह उस प्रक्रिया को प्रकट करता है जिसमें कुछ प्रतिक्रियावादी अथवा विघटनकारी शक्तियाँ देश के विशाल जनसमूह में प्रादेशिकता की भावनाओं की निरन्तरता पर आधारित मांगों द्वारा फूट पैदा करने का प्रयास करती है। किसी भी फेडरल (स्वायत्त सत्ताधारी राज्यों का संघ) संविधान में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं केन्द्र और राज्यों के मध्य सामंजस्य सम्बन्धों की समस्या उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भारत में यह समस्या इस कारण भी विशेष रूप से उत्पन्न हुई है क्योंकि यहाँ राज्यों का निर्माण व संगठन भाषा के आधार पर हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात् यद्यपि यह निश्चित हुआ कि हमारी शासन-प्रणाली फेडरल प्रकार की रहेगी किन्तु इकाइयों के गठन के लिए कोई निश्चित नियम व आधार निर्धारित नहीं किये गये। केवल उस समय विद्यमान प्रान्तों की सूची बनायी गयी। कुछ समय उपरान्त जब भाषा को फेडरल इकाइयों के संगठन का आधार माना गया तब कुछ राज्यों का पुनः संगठन किया गया। परन्तु क्योंकि इसमें क्षेत्र में विद्यमान संस्कृति को महत्व नहीं दिया गया है इस कारण बहुत से राज्यों में असन्तोष उत्पन्न आ है। यह असन्तोष ही अब बहुत से राज्यों के परस्पर संघर्ष का कारण है।

फिर तीसरे आम चुनावों तक केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की प्रभाविता थी जिससे राज्यों ने केन्द्र सरकार की शक्ति व अधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी। परन्तु अब बहुत से राजनीतिक दलों के शक्ति में आने से तथा राज्यों द्वारा अपने सांविधानिक अधिकारों पर निष्ठापूर्वक बल देने के कारण केन्द्र और राज्यों के आपसी संघर्ष बढ़ गये हैं। इसके अतिरिक्त नये राजनीतिक दलों के शक्ति में आने से राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों पर भी आपत्ति उठायी जा रही है एवं दोषारोप लगाये जा रहे है। बहुत-से राज्य केन्द्र से प्राप्त आर्थिक सहायता की राशि से सन्तुष्ट नहीं है। वे अपने राज्य के विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए केन्द्र से अधिक वित्त प्रबन्ध की आशा व माँग करते है।

कुछ राज्य यह भी अनुभव करते है कि आर्थिक विकास के औद्योगिक योजनाओं में उनका उपेक्षण किया जा रहा है। ब्रिटिश काल में औद्योगिक विकास की क्रियाएँ बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि कुछ चुने हुए बन्दरगाह के नगरों तक ही सीमित रही। आजादी के बाद यह सोचा जाने लगा कि उद्योगों के फैलाने का कार्य देश के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक है तथा उद्योगों का स्थान निश्चित करना कच्चे माल के लभ्यता, यातायात की सुविधाओं एवं क्रय-विक्रय के लिए

उपलब्ध सुगमता पर निर्भर होना चाहिए और यथासम्भव उद्योग छोटे नगरो व ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित किये जाने चाहिए। यह शासन नीतियाँ भारत सरकार के 6 अप्रैल 1948 और 30 अप्रैल 1956 को औद्योगिक नीति सम्बन्धी वक्तव्यों से भी विदित होती हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना ने भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक विकास सम्बन्धी सन्तुलन रखने हेतु उद्योगों के क्षेत्रीय वितरण पर बल दिया। परन्तु 1957 तक की औद्योगिक परिस्थितियों से ज्ञात होता है कि केवल महाराष्ट्र और बगाल में ही औद्योगिक कर्मचारियो की कुल संख्या का 57 प्रतिशत पाया जाता है तथा इन दो राज्यों में औद्योगिक एकाग्रता की ऊँची मात्रा मिलती है। इनकी तुलना में उत्तर प्रदेश में केवल 10 प्रतिशत, तमिलनाडु मे 9 प्रतिशत, विहार में 6 प्रतिशत और अन्य राज्यों में 5 प्रतिशत से भी कम औद्योगिक कर्मचारी मिलते हैं।[2]

इसी प्रकार कृषि क्षेत्र में भी क्षेत्रीय विभेद मिलता है। जब 1959–60 में प्रत्येक व्यक्ति के पीछे उत्पादन राशि राजस्थान में 23.4 रुपये थी, केरल और तमिलनाडु में यह 45 रुपये थी, पंजाब में 67 रुपये, आन्ध्रप्रदेश में 75 रुपये, महाराष्ट्र में 83 रुपये और आसाम, उत्तर प्रदेश व बंगाल में 110 और 120 रुपये के मध्य थी।[3] बिजली के उपयोग में भी क्षेत्रीय विभेदीकरण मिलता है। 1959–60 में भारत में कुल प्रयोग की गयी बिजली में से 60 प्रतिशत केवल उत्तर प्रदेश मे प्रयुक्त की गयी थी।[4] देश के विकास के लिए जो केन्द्र सरकार ने नये उद्योगों की क्षेत्रीय योजनाएँ आरम्भ की हैं तथा हर राज्य में जो प्रत्येक व्यक्ति के पीछे पूँजी का विनियोग मिलता है वह भी राज्यो के आर्थिक विकास मे विषमता सिद्ध करता है। 17 राज्यों में 2651·6 करोड़ रुपये की पूँजी पर आधारित कुल 111 औद्योगिक इकाइयाँ आरम्भ की गयी हैं जिनका वितरण पृष्ठ 210 पर अंकित सारणी में दिखाया गया है।[5]

यह आँकड़े कुछ राज्यो को कम और कुछ को अधिक महत्व मिलना बताते है। सम्भवतः इसी कारण कुछ पृथक् राज्यों के निर्माण की माँग भी बढ़ती जा रही है। आन्ध्रप्रदेश मे तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात मे डाग (Dangs) और दूबला (Dublas) जनजातियो के लिए राज्य, उत्तरप्रदेश मे कुमाऊँ, और टेहरी-गढ़वाल के पहाडी क्षेत्रो को मिलाकर अलग राज्य, उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्र को पृथक् कर विशाल हरयाना बनाने की अभियाचना, विहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के कुछ जनजाति जिलो को अलग कर झारखण्ड राज्य बनाने का दावा, तथा छतीसगढ़ राज्यों की माँग आदि क्षेत्रीय स्तर पर बढ़ते हुए असन्तोष के लक्षण है। सम्भवतः इसी कारणवश कुछ राजनीतिक दलो में क्षेत्रीय विकास की भावना अधिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण कम मिलता है। कुछ शिक्षाशास्त्री भी इन छोटे राज्यो की स्थापना

[2] Kaul, J. M., *Problems of National Integration*, April 1963, 75.
[3] *Ibid.*, 77.
[4] *Ibid.*, 78.
[5] *The States*, 27 December, 1969.

केन्द्र द्वारा राज्यों में स्थापित औद्योगिक इकाइयाँ तथा प्रत्येक व्यक्ति के पीछे पूंजी का विनियोग

राज्य	1961 के अनुसार राज्य की जनसंख्या (लाखों में)	इकाइयों की संख्या	केन्द्र द्वारा कुल पूंजी का विनियोग (करोड़ों में)	प्रत्येक व्यक्ति के पीछे पूंजी का विनियोग (रुपयों में)
मध्य प्रदेश	323 7	5	518·2	160 08
बिहार	465·6	10	470 7	101·10
बंगाल	349·3	13	403 3	115·45
उड़ीसा	175·5	3	391·5	223 07
तमिलनाडु	336·9	10	236 0	70 00
उत्तर प्रदेश	737·5	7	125·6	17 03
महाराष्ट्र	395·5	8	92·7	23·04
गुजरात	206·3	5	77·8	37·71
आन्ध्र प्रदेश	359·8	8	71·9	20 00
मैसूर	235·9	6	70 8	30 01
केरल	169 0	7	69·1	40 89
आसाम	118·7	4	53·7	5·24
पंजाब } हरियाणा }	203·1	2 1	32·5 7·1	19·50
राजस्थान	201·6	6	17·1	8·48
दिल्ली	14·9	14	11·9	79·86
हिमाचल प्रदेश	13·5	2	1·7	12 59
योग	4306 8	111	2651·6	61 57

में कोई बुराई नहीं समझते। एम० एन० श्रीनिवास का विचार है कि यद्यपि छोटे राज्य कुछ राजनीतिक दलों, क्षेत्रों और व्यक्तियों के हितों के विरुद्ध होंगे परन्तु यदि इससे देश को लाभ होता है तो हमें इन्हें स्वीकार ही करना चाहिए।[6]

राज्यों में विभेद के अतिरिक्त दक्षिण भारत और उत्तर भारत में भी विषमता मिलती है, यहाँ तक कि दक्षिण के लोगों में अब यह भावना अधिक बढ़ती दिखायी देती है कि उत्तर के साथ पक्षपात हो रहा है और दक्षिण का उपेक्षण हो रहा है। यही कारण है कि मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कजगम (D. M. K.) द्वारा क्षेत्रीय निष्ठाओं पर आधारित आन्दोलन बढ़ते जा रहे हैं। निकटवर्ती राज्यों के सीमा के झगड़े को लेकर तथा नदियों के पानी का संयुक्त उपयोग करने के वाद-विवाद के कारण भी

[6] 'Smaller states may run counter to the interests of *some parties*, regions and individuals but they have to be accepted if they are in the interests of India as a whole.' *Times of India*, 14 August, 1969.

राज्यों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है। एक ओर कृष्णा और गोदावरी नदियों के पानी के उपयोग में भागी होने को लेकर राज्यों में विवाद चल रहे हैं तो दूसरी ओर नर्मदा नदी के प्रश्न को लेकर गुजरात, राजस्थान और मध्य प्रदेश में विवाद, तथा भाखड़ा नागल को लेकर पंजाब और हरयाना में विवाद मिलता है। इसी प्रकार एक ओर महाराष्ट्र और कर्नाटक में सीमा सम्बन्धी विवाद मिलता है तो दूसरी ओर पजाब और हरयाना मे। कुछ राज्य अपनी माँगों को वैध तरीके अपना कर प्राप्त करने के स्थान पर जन-समूह आन्दोलन द्वारा केन्द्र सरकार पर राजनीतिक दबाव डालकर प्राप्त करने का प्रयास करते है। राज्यों के इन परस्पर विवादों को समाप्त करने तथा केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धो में सामंजस्य बनाने के लिए प्रशासकीय सुधार आयोग व सीतलवाद की अध्यक्षता में स्थापित किये गये अध्ययन दल ने अन्तर्राज्य परिषद् स्थापित करने का सुझाव दिया है। यद्यपि दोनों इसकी संरचना के बारे में सहमत नहीं हैं किन्तु दोनों का विचार है कि यह परिषद् राज्यों के विभिन्न परस्पर संघर्षों को समाप्त करने में अवश्य सफल होगा।

भाषावाद (Linguism)

राष्ट्रीय एकता में जितनी क्षेत्रवाद की समस्या गम्भीर है उतनी ही भाषविाद की समस्या भी खतरनाक है। भाषावाद का अर्थ है देश में पाये जाने वाले विभिन्न भाषायी समूहों द्वारा अपने भाषायी-सास्कृतिक जीवन को सुरक्षित रखने एवं विकास करने का प्रयास। भाषायी सघर्षों के विस्तार और वैलक्षण्य (variety) का ज्ञान हमें आसाम और बंगाल में भाषायी दंगों से, उत्तर प्रदेश और बिहार मे उर्दू को राज्य की भाषा स्वीकार करने की माँग से, महाराष्ट्र मे शिव सेना द्वारा मराठी न बोलने वालो के विरुद्ध आन्दोलन से, तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कजगम द्वारा हिन्दी लादने के विरुद्ध प्रदर्शनो से, नागालैण्ड विधान-सभा द्वारा अंग्रेजी को राज्यभाषा बनाने के निर्णय से, तथा पंजाब में हिन्दी और पंजाबी को राज्य-भाषा व शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रश्न को लेकर संघर्षों से होता है।

भारत मे 25 से भी अधिक ऐसी विकसित भाषाये पायी जाती हैं जिनमें से प्रत्येक भाषा पाँच लाख से भी अधिक व्यक्तियो द्वारा बोली जाती है। इनमें से फिर कम से कम दस भाषायें ऐसी हैं जो एक करोड़ से भी अधिक लोग बोलते है। यह है : हिन्दी=16·2 करोड़ और उर्दू=2·8 करोड, तेलगू=4·4 करोड, बंगाली 4·4 करोड़, मराठी=4·2 करोड़, तमिल=3·7 करोड़, गुजराती—1·6 करोड़, कन्नड़=1·4 करोड़, मलयालम=1·3 करोड़, और उड़ीया=1·3 करोड़। इस प्रकार 41·3 करोड़ व्यक्ति 10 भाषाये बोलते हैं। इसके अतिरिक्त लगभग 47 भाषायें ऐसी हैं जिनमें से प्रत्येक 10 लाख से भी अधिक व्यक्तियो द्वारा बोली जाती है। उदाहरणार्थ मारवाड़ी, मेवारी, और जयपुरी भाषायें बोलने वालों की संख्या क्रमश: 45·1, 20·1 और 15·9 लाख है तथा सथाली, गोंडी और भीली भाषायें बोलने वालों की संख्या क्रमश: 28·1, 23·9 और 23·1 लाख है। भाषाओ

की भिन्नता के कारण एक ओर राज्यों के पुनः सगठन की समस्या उत्पन्न हो रही है तो दूसरी ओर क्षेत्रीय भाषा को राज्य के प्रशासन के लिए अपनाने तथा उसे शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। मुख्य रूप से इस समय हमारे सामने इस सम्बन्ध में तीन समस्याएँ हैं—(क) शिक्षा के माध्यम की समस्या, (ख) संयोजक भाषा की समस्या, (ग) हस्त-लिपि की समस्या। इन तीनों का हम अलग-अलग विवरण करेंगे—

(1) **शिक्षा का माध्यम** (Medium of Instruction)—संस्कृति वंशागत योग्यता नहीं अपितु सीखा हुआ व्यवहार होती है। इस आधार पर तार्किक रूप से यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति को किसी विशेष भाषा के लिए न तो वंशागत प्रेम होता है और न वंशागत घृणा। यह प्रेम और घृणा समाज में पाये जाने वाले सामाजिक तत्त्वों के कारण उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति को किसी भाषा के लिए आकर्षण या विद्वेष इस कारण भी नहीं होता क्योंकि उसे उस भाषा से कुछ लेना-देना नहीं होता। परन्तु यदि किसी भाषा का अल्प व अपर्याप्त ज्ञान उसके विकास व उन्नति में बाधायें पहुँचाता है तो उसे उस भाषा में ही वैर हो जाता है। यह प्रवृत्ति न केवल व्यक्तिगत स्तर पर पायी जाती है परन्तु सामूहिक स्तर पर भी मिलती है।

दूसरी बात जो शिक्षा के माध्यम में महत्त्वपूर्ण है वह यह कि ऊँची शिक्षा का उद्देश्य विशेष व्यवसाय व पेशा सिखाना तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान सम्भव बनाना है। अन्ततः ऊँची शिक्षा में मात्रात्मक तत्त्व पर नहीं अपितु गुणात्मक तत्त्व पर बल दिया जाता है।

वास्तव में शिक्षा में अंग्रेजी को हटाकर क्षेत्रीय भाषा को माध्यम बनाने की माँग दूसरे महायुद्ध के उपरान्त उत्पन्न हुई। परन्तु मुख्य बात तो यह है कि यह माँग शैक्षणिक और वैज्ञानिक विचार के कारण नहीं किन्तु राजनीतिक कारणों से उत्पन्न हुई थी। यह राजनीतिक अभियाचना अब भी प्रबल है। वर्तमान स्थिति यह है कि लगभग सभी उत्तरी राज्यों में क्षेत्रीय भाषा को हाई स्कूल स्तर तक शिक्षा का माध्यम बनाया गया है और स्नातकोत्तर स्तर पर अंग्रेजी ही माध्यम है, यद्यपि शनैः शनैः इस स्तर पर भी क्षेत्रीय भाषा को अपनाने की माँग बढ़ती जा रही है। प्रमुख प्रश्न क्योंकि हाईस्कूल स्तर पर नहीं किन्तु विश्वविद्यालय स्तर पर माध्यम का है इस कारण इसी स्तर पर हम शिक्षा के माध्यम का विश्लेषण करेंगे।

स्नातकोत्तर स्तर पर छात्रों को दी जाने वाली शिक्षा का प्रमुख ध्येय उनको समाज में प्रत्याशित (expected) भूमिकाओं के लिए प्रशिक्षण देना है जिसके लिए फिर व्याप्त सम्पर्कों की आवश्यकता होती है। उस क्षेत्रीय भाषा में उन्हें यह शिक्षा देना जो केवल एक ही क्षेत्र तक सीमित है और जिसमें अच्छे और विशुद्ध पुस्तक भी उपलब्ध नहीं है विद्यार्थियों के हितों के विरुद्ध है। जब तक हम किसी ऐसी भाषा को (चाहे यह हिन्दी हो या कोई अन्य) विकसित न करें जो इस लक्ष्य के लिए उपयुक्त हो, हमें अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम रखना होगा। परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि हम सभी विश्वविद्यालयों में ही अंग्रेजी को माध्यम अपनायें। यदि बड़े विश्व-

विद्यालयो मे भी अंग्रेजी को माध्यम बनाया जाये तो भी हमारे उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। परन्तु क्योकि स्नातकोत्तर स्तर पर एकाएक विद्यार्थी को अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान प्रदान नहीं किया जा सकता इस कारण आवश्यक है कि छात्र छोटी कक्षाओं में ही अंग्रेजी सीखना आरम्भ करे। लेकिन इसके साथ हमें यह भी मानकर चलना होगा कि उच्चतर शिक्षा हर विद्यार्थी को देना आवश्यक नही है और हमें हाई स्कूल के उपरान्त चयन (selection) करना ही होगा जिससे हमारा शिक्षा के गुणात्मक पहलू पर नियन्त्रण रह सके।

अंग्रेजी के विरुद्ध जो प्रमुख तर्क दिया जाता है वह यह है कि यह भाषा एक नया 'साहबों' का वर्ग उत्पन्न करती है जो जनता और सत्ताधिकारियो के मध्य एकीकरण की प्रक्रिया में बाधक है। लेकिन यह तर्क सही नही है क्योकि भाषा का माध्यम 'साहबी भावना' पैदा नही करता किन्तु ऊँची शिक्षा व विशिष्ट प्रशिक्षण ही यह भावना उत्पन्न करता है। फिर उच्चतर शिक्षा देकर यह सत्ताधिकारी समूह बनाने में हानि भी क्या है ? किसी भी समाज की प्रगति के लिए श्रेणीबद्ध व्यवस्था आवश्यक ही होती है। यदि केवल भाषा ही असमानता, विषमता, विभेदन या जनता और सत्ताधिकारियों के बीच असमाकलन का कारण होती तो जिन देशो मे हमे एक ही भाषा मिलती है वहाँ स्तरण (stratification) व्यवस्था न मिलती। इस आधार पर हम कह सकते है कि यह विचार कि उच्चतर शिक्षा में क्षेत्रीय भाषा अपनाने से एकीकरण प्रक्रिया आसान हो जायेगी सही नही है।

बड़े विश्वविद्यालयों के अलावा अन्य विश्वविद्यालयो मे तथा हाईस्कूल स्तर पर क्षेत्रीय भाषा अपनाने से हमे नई पाठ्य-पुस्तको और सहायक (reference) पुस्तको पर अधिक बल देना होगा। ज्ञान को अनुवाद किये हुए पुस्तकों द्वारा नही किन्तु नये लेखनों द्वारा ही विकसित किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा मे हर शब्द का अपना ही अर्थ होता है जिसे अन्य भाषा में अनुवाद करने से कभी-कभी वह शब्द अवर्णनीय (inexpressive) हो जाता है। इस कारण क्षेत्रीय भाषा को एकीकरण प्रक्रिया के लिए शिक्षा का माध्यम बनाने से हमें लेखनों मे नवीन निर्माण पर बल देना होगा।

(2) संयोजक भाषा (Link Language)—संयोजक भाषा की आवश्यकता शैक्षणिक संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम के लिए नही किन्तु विभिन्न राज्यो के परस्पर सम्पर्क तथा केन्द्र और राज्यो के मध्य सम्पर्क के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दों मे, इसकी आवश्यकता राज्यो के परस्पर संघर्षों को कम करने एव राजनीतिक एकीकरण के लिए है। भारतीय सरकार द्वारा अभी तक किसी एक राष्ट्रीय भाषा की प्रकृति और मानक (standard) परिभाषित न कर सकने के कारण देश की जनसख्या के विभिन्न अनुभागो में संयोजक भाषा संघर्ष और मतभेद का कारण बन गयी है। वैसे सरकार की घोषित नीति के अनुसार हिन्दी को संयोजक भाषा के लिए इस समय उपयुक्त माना जा रहा है क्योकि यह भाषा उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरयाणा, विहार और मध्य प्रदेश राज्यों के अलावा अन्य कुछ राज्यो में भी काफी सीमा तक बोली जाती है।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि सामान्य व संयोजक भाषा की पूरे देश के लिए आवश्यकता ही नही है। वे यूगोस्लाविया और स्विट्जरलैण्ड के उदाहरण देते हैं जहाँ पर चार भाषायें पायी जाती है परन्तु कोई संयोजक भाषा नही है। इन देशों मे प्राथमिक स्तर पर बच्चों की पढ़ाने के लिए शिक्षा का माध्यम उनकी मातृ-भाषा होती है जबकि माध्यमिक स्तर पर हर बच्चे को एक अतिरिक्त भाषा सीखनी होती है। यह अतिरिक्त भाषा उनकी राष्ट्रभाषा नही होती परन्तु कोई विदेशी भाषा होती है। इस आधार पर इन विद्वानो का विचार है कि भाषा सम्बन्धी बाहुल्य राजनीतिक एकीकरण में बाधक नही है अपितु किसी भाषायी समूह की सदस्यता के कारण सामाजिक गतिशीलता का रुक जाना ही एकीकरण में मुख्य बाधक है। यदि हम भारतीय परिस्थिति को देखे तो हमे मिलेगा कि हमारे देश मे आन्तरिक प्रवसन (migration) बहुत कम है और जो लोग प्रवास करते हैं (जैसे औद्योगिक श्रमिक, सैनिकों में निम्न स्तर के पदाधिकारी आदि) उनमें से अधिकाश नये स्थान की भाषा को आसानी से सीख लेते है तथा भाषा उनके लिए कोई समायोजन की समस्या उत्पन्न नही करती।

इसी प्रकार इन विचारकों का मत है कि सयोजक भाषा राष्ट्रीय स्तर पर विद्वानों के बौद्धिक विचारो के आदान-प्रदान में भी इस कारण आवश्यक नही होगी क्योकि बड़े विश्वविद्यालयों मे उच्चतर शिक्षा के लिए अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम होगी जिससे हर क्षेत्र मे से इन विश्वविद्यालयो के लिए अध्यापकों और छात्रों का पर्याप्त परिचालित समूह उपलब्ध होगा। यहाँ अंग्रेजी भाषा जो बौद्धिक स्तर पर विचारो का आदान-प्रदान सम्भव करेगी केवल राष्ट्रीय स्तर पर सीमित नही होगी क्योंकि यह तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा है। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वान् अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए नही अपितु आदान-प्रदान (communication) के सामान्य माध्यम के लिए समुचित करते हैं।

यद्यपि उपर्युक्त विचारों में कुछ तर्क मिलता है परन्तु फिर भी हमें यह मानना होगा कि अंग्रेजी हमारे देश में आपसी विचार-विनिमय के लिए इस कारण नहीं अपनायी जा सकती क्योकि हमें केवल विद्वानों के विचारों के आदान-प्रदान को ही नही देखना है परन्तु अन्तरराज्यिक स्तर पर जनता के परस्पर सम्पर्क को भी ध्यान में रखना है। इस समय उपलब्ध भाषाओं में से केवल हिन्दी एवं उर्दू तथा हिन्दुस्तानी ही ऐसी भाषा है जो 18 में से 9 राज्यों में अधिक बोली जाती हैं। विभिन्न राज्यों मे हिन्दी, उर्दू बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या से ज्ञात होता है कि उत्तर प्रदेश मे इनकी संख्या राज्य की कुल जनसंख्या को 96·09 प्रतिशत है, मध्य प्रदेश मे 80·36 प्रतिशत, राजस्थान में 55·85 प्रतिशत, बिहार में 53·23 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में 10·63 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 10 प्रतिशत, कर्नाटक मे 8·63 प्रतिशत, बंगाल मे 7·81 प्रतिशत, गुजरात मे 2·88 प्रतिशत, तथा दिल्ली मे 83·14 प्रतिशत।[7]

[7] *The States*, 27 September, 1969.

इस प्रकार देश की जनसंख्या का अधिकाश भाग हिन्दी-बोलता है। दूसरी ओर यदि हम यह भी मान लें कि हाईस्कूल और उसके ऊपर पढ़े लोग अंग्रेजी बोल और समझ सकते हैं (जबकि हमें यह भली-भाँति ज्ञात है कि आज के स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी भी सही अंग्रेजी नही बोल पाते) तब देश के कुल जनसंख्या की बहुत छोटी मात्रा ही इस भाषायी समूह में आती है। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी को किसी प्रकार भी परस्पर सम्पर्क के लिए संयोजक भाषा नही अपनाया जा सकता। वर्तमान परिस्थिति में इसके लिए केवल हिन्दी (व हिन्दुस्तानी) ही उपयुक्त भाषा दिखाई देती है।

(3) हस्तलिपि (Script)—भाषा की समस्या में तीसरा प्रश्न हस्तलिपि का है। क्या भारत में पायी जाने वाली 14–15 प्रमुख भाषाओं की कोई सामान्य हस्तलिपि हो सकती है? यदि हाँ, तो यह क्या होगी? अपनी मातृभाषा के अलावा अन्य किसी भाषा को बोलने के लिए सीखना तो बहुत आसान होता है परन्तु उसे लिखना एव पढ़ना इतना आसान नही होता। यह कठिनाई हस्तलिपि के कारण ही मिलती है। इस कारण यह माना जाता है कि सभी भाषाओं के लिए सामान्य हस्तलिपि ढूंढ़ना राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने मे सहायक हो सकता है।

प्रश्न है कि यह सामान्य हस्तलिपि क्या हो सकती है? कुछ लोग इसके लिए रोमन हस्तलिपि के पक्ष में हैं तो कुछ देवनागरी के पक्ष में तर्क देते है। रोमन हस्तलिपि के पक्ष वालों का विचार है कि यह अब भी रेलवे, डाक व तार विभाग, सिनेमाओं, सेना आदि में प्रयोग हो रही है और इसमें किसी को कोई कठिनाई अनुभव नही होती तो क्यो न इसे ही सभी भाषाओ के लिए प्रयोग किया जाये? इससे एक यह भी लाभ होगा कि इस हस्तलिपि के विरुद्ध किसी को कोई गम्भीर पूर्वाग्रह (prejudice) भी नही है जैसा कि विभिन्न क्षेत्रो मे देवनागरी हस्तलिपि के लिए पाया जाता है, विशेषकर अहिन्दी भाषायी क्षेत्रों में। दूसरा लाभ इससे यह होगा कि अंग्रेजी के बहुत से शब्दों को भी हम अपनी भाषा मे मिला सकते है, विशेषकर उन वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों को जो इस समय जनसाधारण के लिए प्रतिदिन की बोली जाने वाली भाषा का अंग बने हुए हैं। दूसरी ओर हिन्दी भाषा न केवल इन मान्यता प्राप्त शब्दों का विरोध करती है परन्तु इसने बहुत से अबोध्य व अस्पष्ट शब्दों का भी आविष्कार किया है जो कभी भी जनता के लिए बोलने वाले शब्दकोष का अंग नही बन सकते।

देवनागरी हस्तलिपि के पक्ष मे फिर यह कहा जाता है कि यह बहुत पुरानी तथा आसानी से समझने वाली हस्तलिपि है, क्योंकि रोमन हस्तलिपि के विरुद्ध भारतीय ध्वनियों (sounds) का अधिक से अधिक आवरण करती है। उदाहरणार्थ, अंग्रजी मे 'ए' अक्षर का उच्चारण 'आ' भी होता है तो 'ऐ' भी, 'ओ' का 'आ' भी और 'ओ' भी, 'यु' का उच्चारण 'अ' भी और 'ऊ' भी इत्यादि। परन्तु इस प्रकार की कठिनाई देवनागरी हस्तलिपि में नही मिलती। यही कारण है कि केशव चन्द्र सेन (1880), तिलक (1905), गाधी (1930) आदि ने तथा विभिन्न

समितियों जैसे विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा के माध्यम से सम्बन्धित 1948 की ताराचन्द कमेटी ने, 1956 की राज्य भाषा परिषद् ने एव 1962 की भावनात्मक एकीकरण कमेटी ने इसी देवनागरी हस्तलिपि को अपनाने के सुझाव दिये हैं।

उपर्युक्त रोमन और देवनागरी लिपि के पक्ष और विपक्ष के मतो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि हस्तलिपि का प्रश्न भावनाओं के आधार पर नहीं किन्तु तर्क और उपयोगिता के आधार पर ही हल करना होगा।

सम्प्रदायवाद (Communalism)

क्षेत्रवाद और भाषावाद के बाद तीसरा कारक जो राष्ट्रीय एकता में बाधक मिलता है वह है साम्प्रदायिकता।-सम्प्रदायवाद धार्मिक समुदायों में भेद, कलह व विवाद बताता है। यह कलह यद्यपि भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धो में अधिक मिलती है परन्तु इसके अतिरिक्त हिंदू-सिक्ख, हिन्दू-ईसाई एवं मुस्लिम-ईसाई धार्मिक समुदायों में भी दिखायी देती है। यहाँ हम भारत मे राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से केवल हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद का ही विश्लेषण करेंगे। एक अधिक उपार्जन करने की लालसा वाला समाज अपने सदस्यों को सामूहिक हिंसा के लिए अप्रत्यक्ष प्रेरणा देता है क्योंकि इसमे सदैव आर्थिक लाभ से सम्बन्धित सत्ता प्राप्त करने के लक्ष्य जुड़े हुए होते हैं। ऐसे वातावरण मे स्थिति को निश्चित करने वाला प्रमुख तत्व धन व सम्पत्ति होता है। इस कारण प्रत्येक समूह आर्थिक साधनों पर अधिकार प्राप्त करने का अधिक से अधिक प्रयास करता है। इससे फिर श्रमिकों का आर्थिक शोषण बढता जाता है तथा उपेक्षित और वंचित वर्गों मे असुरक्षा, व्याकुलता व अशान्ति की भावना रहती है। सामन्तशाही विचारों वाले व्यक्ति (feudalists) अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए इस परिस्थिति का लाभ उठाते है और द्वेष व घृणा की भावनाएँ उकसाने के लिए धर्म को आधार बनाते है। यही परिस्थिति हमें जबलपुर, राची, मेरठ, कलकत्ता और करीमगंज व भिवाडी के साम्प्रदायिक दगो में मिलती है। इन सभी दंगों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट करता है—

(1) शक्ति और धन के भूखे सामन्तशाही प्रतिक्रियावादी व्यक्ति ही राजनीतिक क्षेत्र मे घृणा, ईर्ष्या, सन्देह, भय, असुरक्षा आदि उत्पन्न करते हैं जो फिर साम्प्रदायिक हिंसा को प्रोत्साहित करते है।

(2) सम्प्रदायवाद की भावना सकीर्ण धर्म-निष्ठा के कारण उत्पन्न होती है।

(3) साम्प्रदायिक दगों में सबसे अधिक हानि सरल साधारण व्यक्ति को होती है जिसे वास्तव मे अन्य धार्मिक समूहो के सदस्यो से किसी प्रकार का भय नहीं होता। ऐसे निरपराध व्यक्ति उन नेताओं का आसानी से शिकार बन जाते हैं जो अपने सकुचित स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्हे जन-हिंसा के लिए उकसाते हैं।

(4) संस्थागत साम्प्रदायिक संगठन और अपकारक (pernicious) धार्मिक नेता जो सत्ताधिकारी समूहों के अधीन होते हैं, जनसाधारण मे विषैला सम्प्रदायवाद फैलाने के साधन होते है।

(5) कुछ रूढ़िवादी विचार, अफवाह और प्रचार जैसी सामाजिक व वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ भी साम्प्रदायिक मनोविक्षिप्त (psychosis) की आग को भडकाती हैं।

(6) सरकारी अधिकारियों की उदासीन अभिवृत्ति और उनका समुदायों के अमीर वर्ग के साथ अन्दर-अन्दर से समर्थन करने (connivance) के कारण आना-कानी के तरीके भी साम्प्रदायिक संकट उत्पन्न करते हैं।

पिछले कुछ वर्षों के साम्प्रदायिक दगो से यह भी ज्ञात होता है कि साम्प्रदायिक असामंजस्य (disharmony) के कारण विखण्डन (balkanisation) की भावनाओं को भी प्रेरणा मिलती है। अल्पसख्यक समूह क्षेत्रीय पृथक्करण माँगते है जो राष्ट्रीय एकीकरण में निश्चित रूप से घातक होता है।

साम्प्रदायिक असामंजस्य व हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों मे मुसलमानों की धर्म-विरोधी भावनाओं को भी तुच्छ नही समझा जा सकता। यह सही है कि हर समुदाय मे धार्मिक विरोधी भावनाओ के कारण पृथकत्व के विचार मिलते है परन्तु यह विचार भारतीय मुसलमानों मे कुछ अधिक मात्रा मे ही पाये जाते है। 1857 के स्वतन्त्रता आन्दोलन से लेकर अग्रेजो द्वारा मुसलमानों मे साम्प्रदायिक उत्तेजनाओं को भड़काने वाली नीति ने मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच पूर्वाग्रह व प्रतिकूल धारणाएँ उत्पन्न की हुई है। वहावी आन्दोलन द्वारा प्रचार किये गये धार्मिक असहिष्णुता के विचारो ने भी मुसलमानो के पृथक्करण की भावना को उकसाया था। इस भावना को फिर अलीगढ़ आन्दोलन के आधुनिक विचारों वाले नेताओं ने प्रयोग किया और मुसलमानो को कांग्रेस के सदस्य बनने से रोका। 1930 तक मुसलमान अग्रेजों के पक्ष मे रहे परन्तु 1930 के असहयोग आन्दोलन की असफलता व खिलाफत आन्दोलन ने साम्प्रदायिक संघर्षों को जन्म दिया। इसी समय जमात इस्लाम व तबलीगी जमात (Tablighi Jamaat) आन्दोलन भी आरम्भ हुए जिन्होने मुस्लिम समुदाय को संगठित करने का प्रयास किया। दोनो आन्दोलनो के लक्ष्य यद्यपि भिन्न-भिन्न थे परन्तु लौकिक राजनीति के प्रति तिरस्कार व घृणा इनका सामान्य लक्षण था। 1940 के बाद पाकिस्तान की माँग ने हिन्दुओ और मुसलमानों में और दरार पैदा कर दी। देश के विभाजन के बाद लगभग सभी मुस्लिम लीगी नेता पाकिस्तान चले गये और भारत में रह गये चार करोड़ मुसलमानों का नेतृत्व मिथ्यावादी, विश्वासहीन व पराज्यकारी व्यक्तियो के हाथ मे आया। इन मध्य वर्ग के लघु नेताओं मे स्वयं के स्वार्थों के अलावा रूढ़िवाद एवं धर्म-परायणता भी अधिक मिलती है। 1951 मे जमात-ए-इस्लामी आन्दोलन ने मुसलमानो को आम चुनावों का बहिष्कार करने का आदेश दिया। 1956 के बाद और विशेषकर 1965 के पाकिस्तान के आक्रमण के उपरान्त फिर कुछ हिन्दुओं के धार्मिक जागृति सम्बन्धी नीतियों के कारण भारतीय मुसलमानों की अभिवृत्तियाँ और बदल गयी हैं। यही परिवर्तनीय विचार हिन्दू-मुस्लिम दंगो के लिए उत्तरदायी है। साधारण मुसलमानों मे परम्परागत इस्लाम के प्रति भावनात्मक उत्तरदायित्व की धारणाओं को शक्तिशाली बनाने वाले आन्दोलन ने मुस्लिम समुदाय को संगठित किया है एवं प्रबल बनाया है। इस सगठन ने फिर

पाया जाता है।[9] उदाहरण के लिए राज्य और जिला-स्तर पर, राजनीति पर बहस करने में कोई अर्थ नहीं होगा यदि हम महाराष्ट्र में मराठा, ब्राह्मण और महर के बीच, गुजरात में बनिया, पट्टीदार और कोली के मध्य, उत्तर प्रदेश में जाट, बनिया और कायस्थ के बीच, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी और कामा के मध्य, बिहार में भूमिहर और क्षत्रियों के बीच, और राजस्थान में राजपूत और जाट के बीच संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता को ध्यान में न रखें। के० एम० पणिक्कर का भी कहना है कि इस समय भारत में जो सामाजिक संरचना पायी जाती है वह अपनाये गये वर्तमान सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध है। जो समाज वंशागत जातियों के सन्दर्भ में कार्य करेगा, जो अस्पृश्यता जैसी कुप्रथाओं की प्रेरणा देगा वह इस युग में जीवित नहीं रह सकता।[10]

वास्तविकता यह है कि आजादी के बाद लोगों की प्रत्याशाएँ बढ़ गयी हैं।

मुसलमानों को अपनी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं को आधुनिक बनाने के प्रयत्नों के विरुद्ध वैरी (hostile) बनाया है। वर्तमान हिन्दू सरकार द्वारा उनके सुधार लाने के प्रयासों को वे (मुस्लिम) धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप समझते हैं। अपनी इन्हीं सुधार-विरोधक धारणाओं के कारण भारत के मुसलमान यहाँ की आर्थिक व सामाजिक वास्तविकताओं से अधिक विरक्त (alienate) होते जा रहे हैं तथा एक समुदाय के रूप में वे धार्मिक अधिक और साहसी व उद्योगी कम बनते जा रहे हैं। उनका यही दृष्टिकोण, उपक्रम (initiative) का अभाव तथा पृथक्करण की भावना उनके देश के राजनीतिक क्षेत्र में अप्रभावशाली व निरर्थक बनने का भी कारण है। इसको फिर वे अधिक संख्या वाले समुदाय द्वारा विभेदन (discrimination) और अभिनति (bias) मानते है। इसी विभेदन व भेद-भाव की धारणाओं को फिर उनके स्वार्थी नेता उसमे हिन्दुओं के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करने मे प्रयोग करते है। दूसरी ओर अलगाव (alienation) के कारण उत्पन्न हुए उनके आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक पिछड़ापन को लेकर कुछ हिन्दू उनको क्रूर, निष्ठुर, निर्दयी, अत्याचारी आदि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मुसलमानों और हिन्दुओं में यह परस्पर विरोधी पूर्वाग्रह और शत्रुता-प्रदर्शक विचार ही देश की सुरक्षा पर आक्रमण करते है एवं राष्ट्रीय व भावनात्मक एकता का नाश करते हैं।

जातिवाद (Casteism)

राष्ट्रीय एकता मे चौथा बाधक जातिवाद है। एक भाषायी क्षेत्र मे विषम-स्तरीय (vertical) एकता पायी जाती है जो वहाँ रहने वाले ब्राह्मण से लेकर अस्पृश्य तक सभी जातियो में मिलती है; दूसरी ओर जातिवाद वह समस्तरीय (horizontal) एकता है जो भाषायी क्षेत्र को टुकड़ों मे बाँटती है।[8] जातिवाद एक वह प्रक्रिया है जिसमे जाति-पृथकत्व का तत्त्व राजनीतिक जीवन में पाया जाता है। संसदीय प्रजातन्त्रवाद पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था मे जातिवाद की भावना सामूहिक निष्ठा को उत्पन्न करने के कारण बहुत ही हानिकारक है। यद्यपि जाति प्रथा सरचनात्मक रूप से बदलती जा रही है परन्तु एक व्यवस्था के रूप में यह अब भी हमारी सामाजिक और राजनीतिक आचारतत्त्व (ethos) का अंग बनी हुई है। इसे आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार समायोजन करने व अनुकूल बनाने के अभाव में जातिवाद की भावना और शक्तिशाली बन गयी है। एम० एन० श्रीनिवास का भी कहना है कि जातिवाद एक राजनीतिक शक्ति बन गया है और शक्ति-प्राप्ति के सघर्ष मे एवं प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रकार्य मे यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। मतदान-सम्बन्धी व्यवहार, विधान-सम्बन्धी कार्यक्रम मे और यहाँ तक कि राज्य मन्त्रियो की नियुक्तियों मे भी जातिवाद एक प्रमुख तत्त्व

[8] Srinivas, M. N., *Caste in Modern India*, Asia Publishing House, Bombay, 1962, 98.

पाया जाता है।[9] उदाहरण के लिए राज्य और जिला-स्तर पर, राजनीति पर बहस करने में कोई अर्थ नही होगा यदि हम महाराष्ट्र मे मराठा, ब्राह्मण और महर के बीच, गुजरात में बनिया, पट्टीदार और कोली के मध्य, उत्तर प्रदेश मे जाट, बनिया और कायस्थ के बीच, आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी और कामा के मध्य, बिहार में भूमिहर और क्षत्रियों के बीच, और राजस्थान में राजपूत और जाट के बीच संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता को ध्यान में न रखे। के० एम० पणिक्कर का भी कहना है कि इस समय भारत में जो सामाजिक संरचना पायी जाती है वह अपनाये गये वर्तमान सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध है। जो समाज वंशागत जातियो के सन्दर्भ मे कार्य करेगा, जो अस्पृश्यता जैसी कुप्रथाओ की प्रेरणा देगा वह इस युग मे जीवित नही रह सकता।[10]

वास्तविकता यह है कि आजादी के बाद लोगों की प्रत्याशाएँ बढ गयी है। वे अधिक से अधिक सासारिक व लौकिक वस्तुओं की माँग करते हैं और लोकतन्त्र में अपने अधिकारो और शक्ति के लिए जागरुक हो गये हैं। जो लोग इनको व्यक्तिगत रूप से प्राप्त नही कर पाते उनमे सामूहिक आधार पर मिलकर अपनी शिकायतों को दूर करवाने की भावना बढ़ जाती है। इस समय सामूहिक कार्य केवल जाति-स्तर पर ही सम्भव है क्योंकि यही एक ऐसा समूह है जो अधिक संगठित है। इससे फिर जातिवाद की भावना बढ़ती है। यही कारण है कि जातिवाद सामाजिक शक्ति से राजनीतिक शक्ति में परिवर्तित हो गया है। निम्न जातियों मे यह जातिवाद की भावना अधिक तीव्र मिलती है क्योकि इसी आधार पर वे अपनी पुरानी अधीन स्थिति को एवं अपनी जाति के एकाधिकार को समाप्त करने का साधन समझते हैं। रालफ निकोलस ने भी 1961 मे किये गये बंगाल के दो गाँवों के अध्ययन में इसी जातीय राजनीति का उल्लेख किया है और बताया है कि किस प्रकार जातिवाद गांवों में गुट स्थापित करता है जो एकीकरण का नाश करता है।[11]

राष्ट्रीय एकता प्राप्ति के उपाय

देश में जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि भावनाओं को समाप्त करने एव भावनात्मक व राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने हेतु भारत सरकार ने कुछ कानूनी उपाय अपनाये है

[9] 'Casteism has become a political force and is playing a crucial role in the functioning of representative institutions and in the struggle for power. No account of voting behaviour, the legislative proceedings or even ministerial appointments would be complete unless considered attention were given to this factor of casteism.' *Ibid.*, 98-111.

[10] 'The Social structure under which India lives is by and large unrelated to the social values she has now adopted. A society which functions within the framework of hereditary castes, which permits untouchability, is irrevocably condemned as unsuited to modern times.' —Panikkar, K. M.

[11] Nicholas, Ralph W., 'Structures of politics in the villages of Southern Asia' in *Structure and Change in Indian Society*, edit. by Milton Singer Aldine Publishing Co., Chicago, 1968, 243-80.

जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—शैक्षणिक संस्थाओं मे धार्मिक उपदेश नही दिये जायेंगे; साम्प्रदायिक आधार पर मतदाताओं की सूची नही बनायी जायेगी और संसद व राज्य विधान सभाओं मे चुनाव के लिए प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक ही व्यापक मतदाता-सूची होगी; प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार धार्मिक विचारों के मनन, व्याख्या व प्रचार करने की स्वतन्त्रता होगी; सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के लिए कोई धार्मिक, जातीय, लिंगीय, भाषा आदि भेद-भाव नही होगा; लोक सेवाओं में भर्ती मे किसी भाषा व प्रादेशिकता आदि के विभेद के बिना सभी व्यक्तियों को बराबर अवसर प्राप्त होंगे; तथा शैक्षणिक संस्थाओं मे प्रवेश में कोई भेद-भाव नही होगा; आदि।

इन कानूनी उपायों के अतिरिक्त सरकार ने एक राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् भी स्थापित की है जिसके प्रमुख उद्देश्य है आर्थिक विषमता और क्षेत्रीय विभेदों को दूर करने के लिए उपाय ढूंढना तथा लौकिकीकरण, समानता एवं सभी समुदायों के लिए न्याय प्राप्त करने का प्रयास करना। इस परिषद् ने राष्ट्रीय एकता मे बाधक सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद आदि को दूर करने हेतु तीन उप-समितियाँ स्थापित की हुई हैं—सम्प्रदायवाद सम्बन्धी पर कमेटी, क्षेत्रीय विभेदीकरण समस्याओं सम्बन्धी कमेटी, और शैक्षणिक एवं जन-समूह संचार से सम्बन्धित कमेटी। इन उप-समितियों ने निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कुछ सुझाव दिये थे जिनको राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् ने 1968 मे स्वीकार किया था।[14]

सम्प्रदायवाद से सम्बन्धित कमेटी के सुझाव थे—केन्द्र और राज्य-स्तर पर विशेष गुप्तचर इकाइयों की स्थापना जो जिला दण्डनायक और जिला पुलिस अधिकारी को नियमित रूप से रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगे; साम्प्रदायिक दंगों से रोक-थाम मे जिला मजिस्ट्रेट और जिला पुलिस अधिकारियों द्वारा कार्य करने का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व; अफवाह फैलाने पर, विशेषकर उत्तेजक समाचार तथा साम्प्रदायिक घृणा को प्रोत्साहित करने वाले विचारों के छापने पर, सावधानी बरतना; पूजन के स्थानों में ऐसी सभाओं पर प्रतिबन्ध लगाना जो साम्प्रदायिक असामंजस्य उत्पन्न करती हों; साम्प्रदायिक क्रियाओं के लिए दण्ड बढ़ाने हेतु कानून में संशोधन; और साम्प्रदायिक सामंजस्य को प्रोत्साहन देने के लिए राज्य, जिला और थाना-स्तर पर नागरिक समितियों की परामर्श इकाइयों के रूप में स्थापना करना।

क्षेत्रीय समस्याओं से सम्बन्धित कमेटी के सुझाव थे—भाषा-सम्बन्धी सीमा वाद-विवाद के समाधान हेतु अभिन्न सामान्य नियम बनाना; बहुत समय से विचाराधीन नदियों के पानी से सम्बन्धित झगड़ों को 1956 के अन्तर्राज्यिक जल-विवाद अधिनियम (Inter-State Water Disputes Act) के आधार पर फैसला करना; क्षेत्रीय और आर्थिक विषमता को दूर करना; ऐसे नेताओं के विरुद्ध कठोर उपाय अपनाना जो हिंसा भड़काते हैं तथा जनसाधारण की क्षेत्रीय भावनाओं को उत्तेजित करते है।

[14] *Mainstream*, 21, June 1967.

शिक्षा तथा जन-समूह सचार (mass media) से सम्बन्धित कमेटी के सुझाव थे : प्राथमिक स्तर से स्नातक स्तर तक शिक्षा का फिर से प्रादुर्भाव; शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण; राज्यों के शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश पर निवास सम्बन्धी (domiciliary) प्रतिबन्ध हटाना; ऊँची शिक्षा के लिए अन्य राज्यों में जाने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन द्वारा योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देना।

उपर्युक्त उद्देश्यों के प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय एकीकरण परिषद् ने अब तीन समितियाँ स्थापित की हैं : (i) स्थायी कमेटी जो परिषद् द्वारा दिए गये सुझावों के प्रभावकारी परिपालन (implementation) के लिए तथा परिषद् की कार्यकारिणी के रूप में कार्य करती है। (ii) सम्प्रदायवाद पर एक उप-समिति जो समय-समय पर देश में साम्प्रदायिक परिस्थिति का पुनर्निरीक्षण करती है तथा जो साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के लिए परिषद् द्वारा दिये गये सुझावों के परिपालन की प्रगति का अध्ययन करती है। (iii) जन-समूह सचार पर विशेषज्ञों की कमेटी जो राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए जन-समूह संचार के कार्य पर परिषद् को सलाह देती है।

इस एकीकरण परिषद् की सफलता सन्देहजनक ही है। हमारे देश में कम से कम चार ऐसे कारक हैं जो एक संकलित व सगठित समाज की स्थापना मे बहुत बाधक है। यह हैं—(क) जाति प्रथा पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण। (ख) सामन्तशाही अतीतकाल पर आधारित सामाजिक व आर्थिक स्तरण। (ग) विभिन्न क्षेत्रों मे आर्थिक विकास योजनाओं में विशाल भेद-भाव। (घ) शिक्षित सत्ताधिकारियों का जन-समूह से अलगाव (alienation)। जब तक इन कारकों को दूर नही किया जायेगा, राष्ट्रीय एकता लाना असम्भव ही होगा और इन कारकों को तुरन्त दूर करना आसान भी नही है।

इसके अतिरिक्त भावनात्मक एकता के लिए समाज मे लौकिकीकरण (secularism) की भावना विकसित करना भी अत्यन्त आवश्यक है। लौकिकीकरण का अर्थ धर्म-विहीनता (irreligion) नही है; इसका अर्थ है सभी धर्मों मे बराबर का व्यवहार एव राज्य द्वारा लोगों के धार्मिक आचरण मे अहस्तक्षेप। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि लौकिकीकरण वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसमे धर्म और राजनीति का पृथक्करण, सामाजिक और सास्कृतिक उत्तराधिकारी (heritage) के लिए सहिष्णुता, सभी व्यक्तियों को बिना धार्मिक भेदभाव के समान अवसर प्रदान करना, विज्ञान व औद्योगिक मूल्यों की स्वीकृति, तथा मनुष्य जाति का भौतिक, सामाजिक व सास्कृतिक सुधार आदि जैसे तत्त्व आते है।[13] केवल यह दार्शनिक दृष्टिकोण ही हमारे समाज को एक समूह के रूप में सगठित कर सकता है।

राष्ट्रीय एकता के प्रोत्साहन का तरीका देश मे बलपूर्वक समानता और

[13] Nomani, Rashid, 'Indian Secularism—an Essay in Definition', *Secular Democracy*, Oct. 1969.

समजातीयता स्थापित करना नही है परन्तु यह मानना है कि भारत एक बहु-राष्ट्रीयता वाला देश है जिसमे धर्म, भाषा, संस्कृति आदि की विभिन्नताएँ पायी जाती है जिनको समाप्त करना नही परन्तु उनको विकसित होने के पूरे अवसर प्रदान करना ही हमारा मुख्य ध्येय है। साधारण शब्दो में राष्ट्रीय एकता की समस्या व्यक्तियों के विचारों व व्यवहार मे केवल मनोवैज्ञानिक और भावात्मक परिवर्तन लाना नही है किन्तु यह एक प्रमुख रूप से लोगो के अपने विकास मे बाधाओं को दूर करने की सामाजिक और आर्थिक समस्या है।

राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने का सही उपाय आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की गति को तीव्र बनाना ही है। यहाँ आधुनिकीकरण से हमारा तात्पर्य है विभिन्न भाषायी समूहों का इच्छापूर्वक समाकलन (जिससे भाषावाद समाप्त हो), जाति प्रथा को शक्तिहीन बनाना (जिससे जातिवाद समाप्त हो), देश की अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों का सन्तुलित विकास (जिससे क्षेत्रवाद समाप्त हो), तथा सभी धर्मों को समान स्थान प्रदान करना (जिससे लौकिकीकरण लाया जा सके)। यह आधुनिकीकरण ही राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में सहायक होगा।

III

11 जनसंख्या-वृद्धि एवं परिवार नियोजन (POPULATION GROWTH AND FAMILY PLANNING)

मानवीय समस्याओं मे जनसंख्या की समस्या इस कारण मौलिक व प्रधान मानी जाती है क्योंकि अत्यधिक जनसंख्या न केवल व्यक्ति और परिवार को परन्तु देश और विश्व को भी हानि पहुँचाती है। जनसंख्या का अनियन्त्रित विस्फोट (explosion) व्यक्ति की योग्यता, स्वास्थ्य व प्रसन्नता को, परिवार के आर्थिक स्तर व उसके सदस्यो की आवश्यकताओं की पूर्ति को, देश की आर्थिक प्रगति व वैभव को, तथा विश्व में शान्ति स्थापना को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। जब किसी देश की जनसंख्या इतनी बढ़ जाती है कि अपने नागरिको के रहने, खाने व कार्य करने की सुविधाओ को जुटाना उसके लिए कठिन दिखाई देता है तो वह अन्य देशों पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन करने का प्रयास करता है जिससे इन उपनिवेशों में अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का समंजन कर सके। लड़ाइयों के कारण फिर न केवल देशों की आर्थिक उन्नति रुक जाती है परन्तु इससे ससार की शान्ति भी भंग होती है। दूसरी ओर जब परिवार के सदस्य परिवार के बड़े आकार व कम आय के कारण अपनी आवश्यकताओं को पूरा नही कर पाते है तो उसके लिए अवैध तरीके अपनाते हैं जिससे समाज में न केवल अपराध जैसी सामाजिक समस्याएँ बढ़ती हैं परन्तु भावनात्मक विकार व विघटित व्यक्तित्व जैसी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। यहाँ पर भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण इन विभिन्न समस्याओ के समाधान हेतु परिवार नियोजन के साधनों का ही विवरण किया गया है।

भारत में जनसंख्या में वृद्धि

भारत की जनसख्या 1931 मे जब पूरे विश्व की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग थी, इस समय यह उससे भी कुछ अधिक मानी जाती है यद्यपि 1936 मे बर्मा को भारत से पृथक् किया गया था तथा 1947 के देश-विभाजन से लगभग नौ करोड़ व्यक्ति पाकिस्तान प्रवास कर गये थे। 1600 मे भारत की कुल जनसख्या लगभग 10 करोड़ आँकी गयी थी जबकि 1750 में यह 13 करोड़ हो गयी थी, 1850 मे 15 करोड और 1871 मे पहली जनगणना के अनुसार यह 25·4 करोड़ हो गयी थी।[1]

[1] Chandrashekhar, S., *India's Population*, Indian Institute for Population Studies, Annamalai University, Chidambaran, India (2nd edition), 1950, 18.

1931 में जब यह 33·3 करोड़ और 1941 में 31·85 करोड़, 1951 में 36·9 करोड़, 1961 में 43·90 करोड़, 1971 में 54·49 करोड़ थी, अब 1973 में 55 करोड़ का अनुमान लगाया जाता है।[2]

इस प्रकार जब 1600 से 1750 तक वृद्धि तीन करोड़ ही हुई, 1750 से 1850 तक 2 करोड़, 1850 से 1950 तक 19 करोड़, 1951 में 1961 तक 7·81 करोड़ और 1961 से 1971 तक 10·59 करोड़। दूसरे शब्दों में जब 1891 से 1901 तक इसकी वृद्धि केवल 1·5 प्रतिशत थी, 1931 से 1941 तक यह वृद्धि 14·2 प्रतिशत थी,[3] तथा 1951 से 1961 तक यह 21·5 प्रतिशत एवं 1961 से 1971 तक 25 प्रतिशत पायी गयी है। अनुमान लगाया जाता है कि हमारे देश में प्रतिदिन 55 हजार बच्चे पैदा होते है।

राज्यों मे 1961 और 1971 के मध्य सबसे अधिक वृद्धि उत्तर प्रदेश (18·8 करोड़), बिहार (12·45 करोड़), महाराष्ट्र (11·54 करोड़) और बंगाल (10·99 करोड़) में मिलती है तथा सबसे कम वृद्धि नागालैण्ड (·07 करोड़), जम्मू व काश्मीर (·053 करोड), हरयाणा (2.74 करोड़), पंजाब (4·01 करोड़), आसाम (4·18 करोड़) व केरल (4·84 करोड़) में पायी जाती है।[4] शहरों में इसी काल के मध्य सबसे अधिक वृद्धि कलकत्ता और बम्बई मे मिलती है।

जनसंख्या में वृद्धि के कारण

जनसंख्या के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से वृद्धि के कारण समाजशास्त्रीय, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक बताये जा सकते हैं। चन्द्रशेखर ने इसका एक कारण देश मे पिछले 50 वर्षों में शान्ति का पाया जाना बताया है।[5] यद्यपि 1914–19 मे प्रथम महायुद्ध, 1935–40 में द्वितीय महायुद्ध, 1947–48 में काश्मीर को लेकर पाकिस्तान से अप्रत्यक्ष युद्ध, 1962 मे चीन के आक्रमण, तथा 1965 मे पाकिस्तान के आक्रमण जैसी घटनाएँ हुई हैं परन्तु इन सभी मे मानव क्षति अधिक नहीं हुई। 1943 मे बंगाल के अकाल में अवश्य लगभग 30 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी परन्तु 1969 मे बिहार के अकाल मे हमारे यहाँ मानव-शक्ति की अधिक हानि नही हुई थी।

हेरोल्ड डार्न का भी कहना है कि जिस विकास व वृद्धि ने पिछली कुछ शताब्दियों मे पायी जाने वाली प्रजननशीलता (fertility) और मरणशीलता (mortality) के बीच सन्तुलन को नष्ट किया है उसमें प्रमुख तत्त्व हैं[6] : (क) कृषि मे

[2] *Hindustan Times*, 21 December 1970 and 11 February 1973.

[3] Chandrashekhar, *op. cit.*, 18–19.

[4] *Hindustan Times*, 21 December 1970.

[5] Chandrashekhar, *op. cit.*, 24.

[6] Harold F. Dorn, 'World Population Growth' in Hauser, *Philip M.* (ed.), *The Population Dilemma*, American Assembly, Columbia University, 1963, 3-9.

तकनीकी परिवर्तन एव आधुनिक उद्योग मे विकास से उत्पादन मे वृद्धि; (ख) यातायात के साधनो मे विकास के कारण नये महाद्वीपो के साथ सम्पर्क के अवसर जिन्होंने खाद्य सामग्री के अतिरिक्त साधनों एव बहुमूल्य धातुओं व कच्चे माल को उपलब्ध करने के अलावा बढती हुई जनसख्या के लिए भी बाहर जाने के मार्ग प्रस्तुत किये हैं ; (ग) व्यापार का विस्तार जिसने बहुत दूर के देशो मे खाद्य सामग्री एव आगे माल की पैदावार मे सहायक वस्तुओं का यातायात (transportation) सम्भव बनाया है ।

जनसख्या मे वृद्धि का दूसरा कारण है चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में आविष्कारों द्वारा प्रगति करके अधिक बीमारियों को नियन्त्रित करके मृत्युदर को कम करना। फिर, पिछले 50–70 वर्षों मे हमारे देश को किसी भयकर व्यापक रोग (epidemic) का भी सामना नही करना पडा है यद्यपि 1918–20 के एन्फ्लूएन्जा के संक्रामक रोग से लगभग 12 लाख व्यक्तियों की मृत्यु अवश्य हुई थी।

वृद्धि का एक समाजशास्त्रीय कारण हमारे देश में प्रचलित बाल-विवाह की प्रथा भी है। 1931 की जनगणना के आँकडो के अनुसार भारत में 72·2 प्रतिशत लडकियों का विवाह 15 वर्ष की आयु से पूर्व हुआ था और 34·1 प्रतिशत का 10 वर्ष की आयु से पूर्व।[7] 1930–33 मे बम्बई मे मर्चेन्ट (Merchant) द्वारा 598 युवा और अधेड अवस्था वाले लड़को व लडकियो के समाजशास्त्रीय अध्ययन से भी ज्ञात हुआ कि स्नातक लडकियों की औसत वैवाहिक आयु 14·2 वर्ष थी और हाई स्कूल से कम पास वालों की 13·8 वर्ष थी।[8] 1935 मे सौराष्ट्र मे मनकद (Mankad) द्वारा तीन पीढ़ियो के अध्ययन में भी पाया गया कि 'दादा' की पीढी के 158 व्यक्तियो के विवाह की मध्यम आयु 11·42 वर्ष थी, 'पिता' की पीढ़ी के 1092 व्यक्तियों के विवाह की मध्यम आयु 13·59 वर्ष थी और 'बेटे' (सूचनादाता) के पीढी के 1121 लडकों के विवाह की मध्यम आयु 14·81 थी।[9] 1951 के जनांकिकी (demographic) आकड़ों के अनुसार भी भारत मे लडकियों के विवाह की औसत आयु 14·5 वर्ष थी।[10] यद्यपि अब देर में विवाह करने के पक्ष में झुकाव बढता जा रहा है परन्तु फिर भी काफी मात्रा मे, विशेषकर ग्रामो मे, विवाह 15–16 वर्ष की आयु से पहले हो होते है।[11] 1971 के वर्ष मे ही लगभग 50 लाख लडको और लडकियों का विवाह 10 और 14 वर्ष की आयु के मध्य हुआ था।[12]

---

[7] Census Report, 1931, Part I, 125.

[8] Merchant, K. T., *Changing Views on marriage and Family*, Bombay, 1935, 101.

[9] Quoted by Kapadia, K. M., *Marriage and Family in India*, Oxford University Press, Bombay (3rd edition), 1966, 157.

[10] Census Report, 1951, Paper 3 of 1963, 145.

[11] 'National Sample Survey Report', quoted by Gore, M. S., *Urbanisation and Family Change*, Popular Prakashan, Bombay, 1968, 62.

[12] *Hindustan Times*, 11 February 1973.

भारत में एक औसत स्त्री की प्रजनन-क्षमता की आयु (reproductive age) 45 वर्ष मानी जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जितनी कम आयु में लड़की का विवाह होगा उतनी अधिक उसे सन्तानोत्पत्ति की अवधि मिलेगी। अतः हमारे देश में बढ़ती हुई जनसंख्या का एक प्रमुख कारण ये बाल-विवाह भी है।

संयुक्त परिवार ने भी परिवार के बड़े आकार को बल प्रदान किया है। संयुक्त परिवारों में बच्चों की देख-भाल व पालन-पोषण का बोझ उनके माता-पिता पर न होकर पूरे परिवार पर ही होता है जिससे बच्चों का विवाह तब तक स्थगित करने की आवश्यकता नहीं होती जब तक वे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होकर अपना बोझा स्वयं सँभालने की अवस्था में हों। पश्चिमी देशों में आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना, लम्बी शिक्षा और प्रशिक्षण की अवधि, तथा व्यक्तिगत व सामाजिक प्रगति की लालसा के कारण विवाह को स्थगित किया जाता है परन्तु भारत में लड़के की आर्थिक स्थिरता कभी भी उसके विवाह में बाधा नहीं बनती। इससे बाल-विवाह को प्रेरणा मिलती है जिसका फिर जनसंख्या पर प्रभाव पड़ता है।

निम्न जीवन-स्तर एवं मूल आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कठोर संघर्ष के कारण अरोचक व अनुत्तेजक जीवन में मनोरंजन के साधनों के अभाव के कारण भी व्यक्ति केवल यौन-व्यवहार को ही मनोरंजन का साधन अपनाते है और अधिक सन्तान पैदा करते है। आर्थिक अस्थिरता व असुरक्षा व्यक्ति को भाग्यवादी बनाती है जिससे वह भविष्य के प्रति सोचना छोड़ देता है तथा बड़े परिवार की हानियों को समझने का प्रयास ही नहीं करता है।

इसी प्रकार शिक्षा के अभाव में भी लोग अधिक सन्तान के परिणामों को नहीं समझ पाते। कभी-कभी औपचारिक शिक्षा के होते हुए भी व्यक्ति को आधुनिक परिवार नियोजन के साधनों की शिक्षा नहीं मिल पाती जिससे गर्भ-निरोध के विभिन्न कृत्रिम साधनों का सही प्रयोग करके अपने परिवार के आकार को सीमित कर सके।

देश के कुछ क्षेत्रों में समुन्नत (improved) आर्थिक परिस्थितियों ने भी जन-संख्या में वृद्धि को बल दिया है। उदाहरण के लिए राजस्थान व बिहार जो कुछ वर्ष पूर्व अधिक अनुपजाऊ में दिखायी देते थे अब विभिन्न भूसिंचन योजनाओं के कारण न केवल कृषि-उत्पादन को बढ़ा पाये है अपितु तकनीकी विकास के कारण इन्होंने औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पादन बढ़ा लिया है। इससे लाखों व्यक्तियों में आर्थिक तनाव कम हो गये है जिसका फिर जनसंख्या पर प्रभाव पड़ा है।

परिवार नियोजन

देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए भारत में 1952 में परिवार नियोजन की योजना आरम्भ की गयी है। इस योजना का उद्देश्य न केवल परिवार के आकार को सीमित करना है परन्तु दो बच्चों के जन्म के बीच आवश्यक अन्तर रखना भी है जिसमें शिशुओं और उनकी माताओं के स्वास्थ्य की भी रक्षा की जा सके।

परिवार नियोजन के प्रमुख उद्देश्य

परिवार नियोजन में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह निश्चित करना है कि परिवार नियोजन का प्रमुख ध्येय व केन्द्र (focus) क्या है—समाज की प्रगति एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास, अथवा क्या हम समुदाय के आर्थिक और सामाजिक विकास द्वारा व्यक्ति का मानसिक सुख व प्रसन्नता बढाना चाहते है तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास द्वारा समाज की उन्नति चाहते है। अधिकांश लोग इन दो उद्देश्यों को अलग-अलग नही समझते है क्योंकि वे यह मानते है कि एक के द्वारा दूसरे ध्येय की प्राप्ति सम्भव होगी। यद्यपि यह सही है परन्तु इसमें प्रश्न केन्द्र-विन्दु का है। यदि समाज की प्रगति ही जनसंख्या को कम करने का केन्द्र-विन्दु है तब इसका यह अर्थ होगा कि जब तक हम जनसंख्या को कम नहीं करेंगे न हमारी योजनाएँ सफल होंगी, न देश का आर्थिक विकास होगा, और न व्यक्ति का मानसिक सुख ही बढ़ेगा। परन्तु यदि व्यक्ति के विकास को हम परिवार नियोजन का मुख्य केन्द्र-विन्दु मानते है तब इसका यह अर्थ होगा कि परिवार के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना ही हमारा मुख्य ध्येय है जिससे सदस्य अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर अपना विकास कर सकें तथा अपनी खुशी व सन्तोष बढ़ा सकें। अब यदि हमारा उद्देश्य प्रतिदिन जो भारत में 55 हजार बच्चे पैदा होते हैं उनको कम करके खाद्य सामग्री बढ़ाना, औद्योगिक पिछड़ापन दूर करना एवं विभिन्न आर्थिक योजनाओं को सफल बनाकर निम्न जीवन स्तर को ऊँचा करना ही है क्योंकि इनके बिना समाज की प्रगति नहीं होगी तब तो हमें अनिवार्य आपरेशन व गर्भपात को कानूनी मान्यता प्रदान करने आदि जैसे उपाय प्रयोग करके अपना उद्देश्य प्राप्त करना होगा, परन्तु यदि व्यक्ति का मानसिक सुख बढ़ाकर ही समाज को आगे बढ़ाना है तब अपने परिवार के आकार को नियन्त्रित करने के लिए हमें व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देनी होगी कि वह नियोजन के जिस साधन को भी उचित समझे उसका प्रयोग कर अपने परिवार को सीमित करे।

परिवार नियोजन के साधन

परिवार को सीमित करने के दो उपाय है: एक शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी उपाय, दूसरा सामाजिक उपाय। चिकित्सा सम्बन्धी उपायों में आपरेशन, कराटोम आदि का प्रयोग जैसे तरीके आते है और सामाजिक उपायों में विवाह की आयु को ऊँचा करना, शिक्षा का विकास, मनोरंजन के साधनों की उपलब्धि, ऊँचे रहन-सहन के तरीके उपलब्ध करना आदि जैसे तरीके आते है। यद्यपि हम यह जानते है कि जनसंख्या को कम करने के लिए हमें इन दोनों उपायों पर बल देना होगा परन्तु मुख्य प्रश्न है कि तात्कालिक भविष्य में कौनसा उपाय अधिक उपयोगी होगा? साथ में हमें यह भी ध्यान में रखना है कि चिकित्सा सम्बन्धी उपायों का भी एक सामाजिक पहलू है और यह है किसी विशेष कृत्रिम साधन को जन-समुदाय द्वारा

मान्यता व स्वीकृति मिलना। दूसरे शब्दों में परिवार नियोजन में दूसरा प्रमुख प्रश्न है सामाजिक स्वीकृति (social acceptance) मालूम करना।

अभी तक हमारी सरकार किसी एक विशेष चिकित्सा सम्बन्धी साधन द्वारा जनसख्या को नियन्त्रित करने मे अधिक सफल नहीं हुई है। कभी आपरेशन, कभी लूप, तो कभी कण्डोम के प्रयोग आदि पर बल दिया जाता है। थोड़े-थोड़े समय बाद सरकार द्वारा नीति के परिवर्तन व नये उपायों के प्रचार से यह सिद्ध होता है कि लाखो और करोड़ो रुपये व्यय करने से भी इच्छानुसार फल नही मिला है, इसके साथ ही जनसाधारण के विश्वास को प्राप्त करने मे भी सफल नही हुए है।

परिवार नियोजन के प्रति विचार

आजकल यह कहना सही नही होगा कि समाज के अधिकाश लोग परिवार नियोजन के पक्ष मे नही है तथा वे बच्चो को ईश्वर की देन मानते है। यह मालूम करने के लिए कि लोगो को परिवार नियोजन के विभिन्न साधनों का ज्ञान कहाँ तक है एव कितने व्यक्ति इनके प्रयोग के पक्ष व विपक्ष मे है तथा किन-किन साधनो का प्रयोग अधिक किया जाता है, देश के विभिन्न भागो में सामाजिक सर्वेक्षण किये गये हैं। इसी प्रकार का एक सर्वेक्षण नगरीय और गांवो मे रहने वाले लोगो के परिवार नियोजन के प्रति विचार मालूम करने के लिए 1970 में तामिलनाडु के वेलोर (Vellore) शहर व उसके पास के ग्रामीण ब्लॉक में भी किया गया था। इस अध्ययन[13] मे कुल 2426 व्यक्तियो का साक्षात्कार किया गया था। यह पूछे जाने पर कि 'क्या आप मानते है कि बच्चों की सख्या कम करना प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति मे है,' यह पाया गया कि 2426 में से 37·1 प्रतिशत व्यक्ति इसको मम्भव समझते हैं और 41·2 प्रतिशत व्यक्ति असम्भव।

क्या आपके विचार में बच्चों की संख्या कम करना प्रत्येक दम्पत्ति की शक्ति में है ?

उत्तर	नगर		ग्राम		योग
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	
हाँ	56·9%	40 8%	46 5%	13·8%	37 1%
नही	31·1%	46 0%	38·4%	44 0%	41 2%
कह नही सकते	12 0%	13 2%	15·1%	42·2%	21 7%
	N=332	N=713	N=701	N=680	N=2426

[13] Rao, P. S. S. and Inbaraj, S. G, *Journal of Family Welfare*, Family Planning Association of India, Bombay, Vol. XVII, June 1970, 20-22.

जिन 899 लोगों का विचार था कि बच्चों की सख्या कम करना सम्भव है उन्होंने इसके लिए निम्न उपाय बतायें—

बच्चों की संख्या कम करने के साधन

उत्तर	नगर		ग्राम		योग
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	
(1) स्वय पर नियन्त्रण	39·7%	35·3%	31 3%	61 3%	37·5%
(2) परिवार नियोजन के तरीको द्वारा	53·4%	61·9%	36·2%	21·5%	46·6%
(3) नही मालूम	6 9%	2·8%	32·5%	17·2%	15·9%
	$N=189$	$N=291$	$N=326$	$N=93$	$N=899$

जिन 1000 व्यक्तियो का विचार था कि बच्चो की सख्या कम करना सम्भव नही है उन्होने इसके निम्न कारण दिये—

बच्चों की संख्या कम न कर सकने के कारण

कारण	नगर		ग्राम	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
1. ईश्वर की इच्छा	35·0%	26·2%	7·4%	17·3%
2. सम्भव नही है	45 6%	62·8%	76 9%	73·7%
3. अन्य कारण	7·8%	9·1%	7·1%	7 3%
4. मालूम नही	11 6%	1·8%	8 6%	1·7%
	$N=103$	$N=328$	$N=269$	$N=300$

यह पूछे जाने पर कि क्या वे बच्चों की सख्या को सीमित करने के पक्ष में हैं या नही, 64·6 प्रतिशत ने 'हाँ' में उत्तर दिया और 25·4 प्रतिशत ने 'ना' मे। जो व्यक्ति बच्चों की सख्या को सीमित करने के पक्ष में नही थे उन्होने उसके यह कारण दिये—(क) ईश्वरी इच्छा के विरुद्ध एवं धार्मिक कारण, (ख) अप्राकृतिक क्रिया, (ग) हानिकारक, तथा (घ) परिवार अर्थव्यवस्था के विरुद्ध।

इस अध्ययन से निम्न आँकड़े (प्रतिशत में) प्राप्त हुए[15]—

उत्तर	आयु-समूह (वर्षों में)				योग
	15-24	25-34	35-44	45+	
ज्ञान है	33·3 (3)	63 2 (12)	68 4 (13)	33 3 (1)	58 0 (29)
ज्ञान नहीं है	66·7 (6)	36 8 (7)	31·6 (6)	66·7 (2)	42·0 (21)
प्रयोग करते हैं	...	36 8 (7)	47 4 (9)	...	32·0 (16)

इन आँकड़ों से यह पाया गया कि—

(1) प्रत्येक 10 में से 6 व्यक्तियों को परिवार नियोजन के साधनों का ज्ञान है।

(2) प्रत्येक 10 में से 3 व्यक्ति इन साधनों का प्रयोग भी करते हैं।

(3) परिवार नियोजन के साधनों का ज्ञान ऊँचे आयु-समूहों (25 से 45) के लोगों में अधिक है और निम्न आयु-समूह (25 से कम) में कम है।

(4) ऊँची और मध्यम जातियों में निम्न जातियों की अपेक्षा ज्ञान अधिक है।

(5) जिन व्यक्तियों के दो या कम बच्चे हैं उनमें परिवार नियोजन का ज्ञान तथा विभिन्न साधनों का प्रयोग कम है तथा सबसे अधिक ज्ञान 3–4 बच्चों वाले व्यक्तियों में अधिक मिलता है और फिर जैसे-जैसे बच्चों की संख्या अधिक होती जाती है वैसे-वैसे ज्ञान भी कम मिलता है।

दिल्ली में भी इसी प्रकार का एक अध्ययन यह मालूम करने के लिए कि जन्म-नियन्त्रित साधनों का प्रयोग किस प्रकार लोगों में अधिक मिलता है, 242 सरकारी कर्मचारियों का (219 पहली, दूसरी और तीसरी श्रेणी के वर्गों के और 23 चतुर्थ श्रेणी वर्ग के) किया गया था। इससे ज्ञात हुआ कि[16]—

(1) जितनी व्यावसायिक स्थिति ऊँची है उतना ही गर्भधारण को रोकने के कृत्रिम साधनों का उपयोग करने वालों की संख्या अधिक है।

(2) जब परिवार नियोजन के साधनों के उपयोग करने वाले व्यक्तियों में औसतन 3.08 बच्चे होने की इच्छा पायी गयी इन साधनों के उपयोग न करने वाले व्यक्तियों में औसतन 3·51 बच्चे होने की इच्छा मिली, तथा सभी व्यक्तियों को मिलाकर औसतन 3·69 बच्चे होने की इच्छा मिली।

(3) प्रमुख बात यह मिली कि बच्चों के कम या अधिक होने की इच्छा का परिवार नियोजन को स्वीकार करने या अस्वीकार करने से कोई सम्बन्ध नहीं था।

[15] *The Journal of Family Welfare*, March 1970, 27.

[16] Kar, S. B. and Bhatia, A. K., *The Journal of Family Welfare*, Vol. XV, No. 2, December 1969, 5–10.

यह मालूम करने पर कि व्यक्ति गर्भ-निरोध (birth-control) साधनों का उपयोग क्यों नहीं करना चाहते, यह ज्ञात हुआ कि 23% व्यक्ति इस कारण इसके विपक्ष में थे क्योंकि उनको अधिक बच्चे होने की इच्छा थी, 23% ईश्वर में विश्वास के कारण इसके विरुद्ध थे, 15·4% को प्रयोग के बाद हानि का भय था, तथा 7·7% को लड़के प्राप्त करने की साधना थी।

इन सभी अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार नियोजन के विरोध में जो लोगों में प्रमुख कारण पाये जाते है, वे है—

(1) ग्रामीण जनता के रूढ़िवादी विचार,

(2) किसी विश्वास करने योग्य (reliable and fool-proof) उपाय का उपलब्ध न होना,

(3) नियोजित परिवारों के प्रति धार्मिक विचारों का विरोध,

(4) अधिकाश लोगों का ऐसी परिस्थितियों में रहना जिससे उनके लिए एकान्त स्थान के अभाव के कारण गर्भधारण के साधनों का व्यापक उपयोग कठिन होता है, तथा

(5) कृत्रिम साधनों के आसानी से उपलब्ध न होने के कारण भी उनके प्रयोग में बाधाएँ पहुँचती है।

पंचवर्षीय योजनाएँ और परिवार नियोजन

देश की बढ़ती हुई जनसख्या को नियन्त्रित करने के लिए हर नयी पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम को पहले से अधिक प्राथमिकता दी गयी है। जब पहली पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के लिए एक करोड़ रुपये से भी कम पूँजी की व्यवस्था की गयी थी, दूसरी में 4·97 करोड़ की[17], तीसरी में 27 करोड़ की[18], और चौथी योजना में 315 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी चौथी योजना में 315 करोड़ में से लगभग 269 करोड़ रुपये देहातों और शहरों के परिवार नियोजन केन्द्रों द्वारा परिवार नियोजन सम्बन्धी सामग्री वितरित करने व मुआवजा देने पर व्यय किये गये हैं तथा शेष 26 करोड रुपये परिवार नियोजन विधेयक अनुसन्धान प्रचार संगठन और मूल्यांकन आदि पर खर्च किये गये हैं।[19] चौथी योजना के परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रमुख लक्ष्य अग्रलिखित हैं—

(1) आगामी 10–12 वर्षों में जन्म-दर वर्तमान 39 प्रति हजार से घटाकर 25 प्रति हजार तक ले आना ; (2) विवाहित व्यक्तियों में छोटे परिवार का आदर्श स्वीकार करने हेतु प्रचार करना ; (3) उन्हें परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों से परिचित करवाना ; तथा (4) इस विषय में उन्हें जो सेवा तथा सलाह चाहिए वह उन्हें उपलब्ध करना। यह मानकर कि छोटे परिवार का सिद्धान्त लोग तभी स्वीकार

[17] *India*, 1961, 123.

[18] *India*, 1962, 114.

[19] *Hindustan Times*, 10 December, 1970.

करेंगे जब माता-पिता इस बात के कायल हो जायेंगे कि बच्चे जितने कम होंगे उनके जीवित रहने की आशा उतनी ही अधिक होगी, सरकार ने जनसाधारण में विश्वास उत्पन्न करने के लिए प्रचार का कार्यक्रम भी आरम्भ किया है। सितम्बर 1956 में परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने हेतु केन्द्रीय परिवार नियोजन बोर्ड भी स्थापित किया गया था। इसके अतिरिक्त जनसख्यात्मक सलाहकार समिति भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् द्वारा स्थापित परिवार नियोजन के वैज्ञानिक तत्त्व की कमेटी, तथा सम्वाद क्रिया अनुसन्धान कमेटी (Communication Action Research Committee) भी स्थापित की गयी है। बंगाल, दिल्ली, कर्नाटक और केरल मे जनसख्या विज्ञान केन्द्र (Demographic Centres) भी अनुसन्धान कार्य के लिए स्थापित किये गये है। हर राज्य मे परिवार नियोजन बोर्ड भी विभिन्न जिला कमेटियो एव परिवार नियोजन अधिकारियो द्वारा कार्य कर रहे है। परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिए कुछ सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाना भी आवश्यक है क्योकि इनसे जन्म-दर घटाने मे सहायता मिलेगी। इस सन्दर्भ में जिन उपायो पर सरकार बल देने को सोच रही है उनमें प्रमुख है—विवाह योग्य कानून बढाना तथा कुछ विशेष परिस्थितियों मे गर्भपात कानून मे ढिलाई करना।

अधिकतम जनसंख्या

उपर्युक्त गर्भ-निरोध उपकरण अपनाने से भी हम देश मे जनसख्या मे विस्फोट को नियन्त्रित नही कर पाये हैं तथा परिवार नियोजन कार्यक्रम की सफलता असन्तोष-जनक ही रही है। यदि आने वाले कुछ वर्षो मे ही हम अपने देश के लिए अधिकतम (optimum) जनसख्या को निर्धारित कर जन्म-दर कम नही कर पाये तो इससे न केवल हमारे देश मे आर्थिक पिछड़ापन बना रहेगा परन्तु अनेक सामाजिक व सास्कृतिक कुपरिणाम भी उत्पन्न होगे।

अधिकतम जनसख्या की धारणा का वास्तव मे आर्थिक महत्त्व अधिक है। इसको इस प्रकार समझाया जा सकता है। जनसख्या का कोई ऐसा आकार है जो किसी दी हुई स्थिति में एवं किसी दी हुई सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था मे उपलब्ध आर्थिक साधनो से प्रत्येक व्यक्ति के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। एक नये स्थापित राष्ट्र को अपने अविकसित साधनों के विकास के लिए अपनी जनसख्या बढाने से लाभ ही होता है। इससे न केवल विशिष्टीकरण बढ़ता है परन्तु आम निपुणता व प्रगुणता भी बढ़ती है। परन्तु कभी न कभी यह राष्ट्र ऐसी स्थिति मे पहुँचता है जब वह अपने यहाँ उपलब्ध करने योग्य कोयला, तेल आदि सभी आर्थिक साधनो को प्राप्त कर लेता है जिस कारण राष्ट्र मे जनसख्या का बढ़ना उसके लिए समस्या उत्पन्न करता है क्योकि इससे अब जीवन-स्तर निम्न होता जाता है। दूसरे शब्दो में यह राष्ट्र अब जनसख्या की ऐसी अधिकतम मात्रा प्राप्त कर लेता है। जिसको पार करने से लाभ के स्थान पर उसे हानि ही होती है। इस प्रकार जनसंख्या का अधिकतम बिन्दु (point) वह बिंदु है जहाँ उपलब्ध प्राकृतिक साधन लगाने

श्रम, धन एवं बुद्धि की तुलना में बहुत अधिक फल देते है।

भारत के लिए अधिकतम जनसख्या वह होगी जो राष्ट्र को शत्रु के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने के लिए उपयुक्त हो तथा जो उपनिवेशों की स्थापना जैसे साम्राज्यवादी मांग के लिए आवश्यकता उत्पन्न न करे। इसके अतिरिक्त जनसख्या की सर्वाधिक मात्रा वही होगी जो सास्कृतिक मूल्यों को प्राप्त करने हेतु आवश्यक अवसर व स्वतन्त्रता उपलब्ध करने के अतिरिक्त रहन-सहन के ऊँचे स्तर, राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक सुरक्षा को भी प्राप्त कर सके।

परिवार नियोजन सफलता सम्बन्धी सामाजिक उपाय

अब प्रश्न है कि जनसख्या की इस सर्वाधिक मात्रा का ध्येय कैसे प्राप्त किया जाये एव परिवार नियोजन के कार्यक्रम को कैसे सफल बनाया जाए? इसके लिए जो गर्भ-निरोध के उपकरणों को पर्याप्त सख्या में उपलब्ध करने के अतिरिक्त अन्य सामाजिक उपाय अपनाना आवश्यक दिखाई देते है, वे है—शिक्षा द्वारा मिथ्या विश्वासो को दूर करना, विवाह की आयु को ऊँचा करना, मनोरंजन के उचित साधन उपलब्ध करना, गर्भपात के नियमों के प्रति उदार नीति अपनाना, एवं सुजनन (Eugenic) कार्यक्रम आरम्भ करना। इन सबका हम अलग-अलग विश्लेषण करेंगे।

शिक्षा—व्यक्तियो के परिवार नियोजन सम्बन्धी मिथ्या विश्वासो को दूर करने के लिए उनको पर्याप्त शिक्षा देना आवश्यक है। व्यक्ति कितने बच्चों का होना आदर्श मानता है, यह उसके शिक्षा के स्तर पर अधिक आधार रखता है। लखनऊ के राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) द्वारा 1960–61 मे 20 हजार से अधिक व्यक्तियो के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि जैसे-जैसे व्यक्तियो के शिक्षा का स्तर ऊँचा होता जाता है वैसे कम बच्चो का होना अधिक आदर्श माना जाता है।[20]

शिक्षा स्तर	दम्पतियो की सख्या	आदर्श बच्चों की सख्या
अशिक्षित	4645	3·31
शिक्षित (प्राथमिक स्तर से नीचे)	2916	3·29
प्राथमिक शिक्षा	2352	3 26
माध्यमिक शिक्षा	2088	3 19
हाईस्कूल	2351	3·14
हाईस्कूल से ऊपर	1937	2 98

यह आंकड़े सिद्ध करते हैं कि भारत मे शिक्षा का विस्तार कितना

[20] *National Sample Survey*, Lucknow, Report No. 116, June 1960—June 1961, 20–22.

आवश्यक है।

प्रश्न यह है कि शिक्षा किस प्रकार के लोगों के लिए अधिक आवश्यक है तथा उनको कैसी शिक्षा दी जाए ? हमारा विचार है कि यह शिक्षा उन लोगों के लिए भवितव्य है जो सन्तानोत्पत्ति के (reproductive) आयु-समूह मे प्रवेश करने वाले होते हैं। अनुमान लगाया जाता है कि प्रतिवर्ष नौ लाख लडकियाँ इस आयु-समूह मे प्रवेश करती है जिनमे से बहुतों का विवाह भी हो जाता है तथा वे सन्तान पैदा करना भी आरम्भ करती हैं। यदि वे युवा दम्पत्ति पहले ही से जनसख्या समस्या के परिणामों से एव छोटे परिवार के नियम की वाछनीयता से परिचित होंगे तो ये छोटे परिवार को नियोजित करने मे और इसके लिए सही साधन ढूंढने मे अधिक सफल होंगे। तीन-चार बच्चों के बाद माता-पिता को शिक्षा देना (जैसे कि इस समय हो रहा है) इस प्रकार है जैसे मकान को आग लगने के बाद कुँआ खोदना है।

जहाँ तक शिक्षा की प्रकृति का प्रश्न है, इन युवा लोगों को परिवार नियोजन की ही नहीं किन्तु जनसख्या-सम्बन्धी शिक्षा की भी आवश्यकता है। यह जनसंख्या विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा परिवार नियोजन शिक्षा से निहित वस्तुओ और प्रकृति (दोनो) में भिन्न है क्योंकि इसमें जनगणना का विश्लेपण, निष्क्रमण, घनत्व (density), जन्म व मृत्यु दर, जीवनावधि, उत्पादन कार्यकाल आदि प्रश्नो का विश्लेपण सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में इसमें छोटे बच्चों को परिवार नियोजन के साधनो की शिक्षा देना नही आता है परन्तु यह मुख्य रूप से समकालीन विश्व के ज्ञान से तथा उन मूल तत्त्वों से सम्बन्धित है जो राष्ट्र को बनाते है तथा उसके आर्थिक एव मानवीय साधनों के विकास को निर्धारित करते हैं। इस शिक्षा पर बल देने मे आशा की जा सकती है कि यह शिक्षित-समुदाय परिवार-नियोजन जैसे कार्यक्रमों को अधिक सफल बनाने में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

विवाह-श्रायु को वृद्धि—विवाह की आयु बढाने से जनसख्या का वैवाहिक स्थिति सम्बन्धी वितरण (distribution) बदल जाएगा और प्रजननशीलता (fertility) की दर भी कम हो जाएगी। केरल मे, जहाँ इस समय विवाह की औसत आयु 20 वर्ष है, जन्म-दर एक हजार के पीछे 38 ही पायी जाती है जबकि पूरे भारत के लिए यह एक हजार के पीछे 42 है। यह अनुमान लगाया जाता है कि यदि केरल में भी पूरे भारत में पाये जाने वाली औसत सन्तानोत्पत्ति आयु, वैवाहिक स्थिति-दर व लिंग अनुपात होता तो यहाँ जन्म-दर 1000 के पीछे 48 ही होता क्योंकि यहाँ युवा आयु-समूह में वैवाहिक प्रजननशीलता-दर अधिक है। यह माना जाता है कि स्त्रियों में 15–19 वर्ष के बीच की आयु अधिक प्रजननशील होने के कारण गर्भधारण की दर उनमें इस काल मे सबसे अधिक होती है। जब इस आयु में हर 100 विवाहित स्त्रियों मे प्रतिवर्ष 97 गर्भ होते हैं, 20–24 की आयु-काल मे केवल 72 ही होते है तथा 25 से 29 के आयु-काल मे यह कम होकर 67 ही रह जाते हैं। इस कारण यदि विवाह की वर्तमान आयु को 15 वर्ष से बढाकर कम से कम 20 या 22 कर

दी जाए तो देश मे जन्म-दर अवश्य ही गिर जाएगी।

मनोरंजन—भारत में जनसाधारण के लिए मनोरंजन के साधन उपलब्ध करने की समस्या का एक प्रकार से उपेक्षण ही किया गया है। यद्यपि किसी प्राणी के लिए जीवित रहने के लिए खाना और कपड़ा अत्यन्त आवश्यक है परन्तु मनुष्य को आवश्यकतायें केवल जीवित रहने तक ही सीमित नही हैं। वह बहुत कुछ चाहता है। मनुष्य एव अन्य जीवधारियो मे यही अन्तर है कि मनुष्य ने अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणों को विकसित किया है। एक वह जनसंख्या सम्बन्धी नीति जो केवल भोजन, कपड़े, मकान को उपलब्धि व आर्थिक सुरक्षा पर बल देती है लक्ष्य के उपयुक्त नही है क्योंकि मनोरंजन व रमणीयता की आवश्यकता भी उतनी ही प्रबल है। प्राणी के जीवन मे ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जब किसी सिनेमा व रेस्टराँ मे जाना उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक बीमार व्यक्ति को विटामिन की गोली देना। एक निर्धन व्यक्ति को भी अवकाश और मनोरंजन की आवश्यकता उतनी ही होती है जितनी एक धनी व्यक्ति को। परन्तु भारत मे इन व्यक्तियों को कोई सुलभ मनोरंजन प्राप्त नही है जिस कारण वे केवल यौन-क्रिया को ही मनोरंजन समझते हैं जिसमे फिर वे यौन-सम्बन्धो की तृप्ति एवं सन्तानोत्पत्ति की क्रियाओं को पृथक् न कर सकने के कारण अधिक सन्तान उत्पन्न करते है। फिर स्त्रियों को तो हमारे यहाँ कोई भी मनोरंजन प्राप्त नही है। एक जनसंख्या सम्बन्धी नीति वही ठोस व उचित मानी जाएगी जो निर्धनों को सस्ता व सुलभ मनोरंजन उपलब्ध करने पर एव स्त्रियों को परिवार-बाह्य (extra-familial) क्रियाओं में भाग लेने पर बल देती है। यह तभी सम्भव होगा जब नारियों को अधिक स्वतन्त्रता मिलेगी एव उनमे शिक्षा का विकास होगा।

गर्भपात नियमों में उदारता—कुछ लोगों का विचार है कि हमे गर्भपात (abortion) को कानूनी मान्यता देनी चाहिए। जब जापान प्रतिवर्ष 22 लाख गर्भ गिराकर अपने यहाँ गर्भधारणा की दर को *10 वर्षों में 30 प्रतिशत से भी अधिक* कम कर सकता है तो हम भी क्यों न यह तरीका अपनायें। परन्तु कुछ लोग इस उपाय के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि इससे (i) समाज में अनैतिकता की समस्या बढ़ जाएगी, (ii) सरकार के लिए 5 लाख गाँवों में गर्भ गिराने के केन्द्र या अस्पताल खोलना कभी सम्भव नहीं होगा, और (iii) इससे माताओं को स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न होंगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि गर्भपात के विरुद्ध नैतिक, धार्मिक, सामाजिक व अन्य आपत्तियाँ कुछ भी क्यों न हों, यह निश्चित है कि जब तक हम भारत में गर्भपात के नियमों में उदारता नहीं दिखायेंगे एवं कुछ परिस्थितियों में गर्भ गिराने को वैध-व्यवहार स्वीकार नहीं करेंगे जनसंख्या के विस्फोट को कभी भी नियन्त्रित नहीं कर पायेंगे।

सुजनन कार्यक्रम—सुजननीय (eugenic) कार्यक्रम का साधारण शब्दों में अर्थ है शारीरिक अथवा मानसिक रूप से विकलांग अथवा दोषपूर्ण व्यक्तियों को सन्तानोत्पत्ति से वंचित रखना जिससे जनसंख्या को न केवल संख्यात्मक रूप से परन्तु

गुणात्मक रूप से भी नियन्त्रित किया जा सके। भारत मे किसी वैज्ञानिक सुप्रजननीय अनुसन्धान के अभाव मे इससे सम्बन्धित कानून बनाने के लिए कोई सुझाव देना कठिन ही है। हमारे देश के लिए निश्चयात्मक, निर्णित व अनुलोभ (positive) सुजननिक नीति प्रत्यक्ष रूप से असम्भव है क्योंकि इसका मूल आधार वाछित मानवीय लक्षणो का शोधन करना (cultivation) है और यह सही रूप से निर्धारित करना कि दिये हुए मानवीय गुण ही आदर्शवादी है आसान नही है। इस कारण यहाँ निषेधात्मक सुप्रजननीय नीति ही सम्भव है क्योकि भारतीय जनसख्या मे कौन से गुण व लक्षण अनुचित व अवाछनीय है उनसे सम्बन्धित सहमति सम्भव है। इस बात को सभी मानते है कि भारतीय समुदाय में अशक्त, अल्पमति, बुद्धिहीन, विकृत-मस्तिष्क वाले, पागल व रोगी व्यक्तियो को पृथक् करना चाहिए। इन्ही व्यक्तियो के लिए ही सुजनन कार्यक्रम आरम्भ किया जा सकता है। परन्तु पक्षपात से विमुक्त जनमत के अभाव मे वन्धीकरण (sterilisation) से सम्बन्धित कानून पास करने मे हमे बहुत सजग रूप से (cautiously) कार्य करना होगा। यह कठिनाई असन्दिग्ध व निस्सन्देह चिकित्सा सम्बन्धी प्रमाण पर आधारित इकाइयों में इतनी नहीं होगी जितनी अन्य इकाइयो में होगी। इस सन्दर्भ मे हम अमरीका के अनुभव से लाभ उठा सकते है जहाँ लगभग 30 राज्यों मे वन्धीकरण सम्बन्धी कानून पाया जाता है। कैलीफोर्निया में यह कानून तो पिछले 40 वर्षों से मिलता है। इन राज्यों मे कुछ असाधारण व्यक्तियों के लिए नसबन्दी को तो अनिवार्य किया गया है परन्तु बहुत से व्यक्तियो मे ऐच्छिक वन्धीकरण पर बल दिया गया है। भारत में भी हमें इसी स्वेच्छिक आपरेशन के आधार पर सुजननिक कार्यक्रम को लागू करना होगा।

अन्त में, हम कह सकते है कि परिवार नियोजन ऐसा कार्यक्रम है जिसे सभी धर्मों, जातियों, समुदायो व राजनीतिक दलो के समर्थन की आवश्यकता और अपेक्षा है। यह कार्यक्रम केवल सरकारी संगठनों द्वारा सफल नही बनाया जा सकता। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता इसे स्वेच्छा से अपनाए और वढाए।

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची

Abrahamsen, David, *Psychology of Crime*, John Wiley and Sons, New York, 1960.

Ahuja, Ram, *Female Offenders in India*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969.

Altbach, Philip G., *Turmoil and Transition : Higher Education and Student Politics in India*, Lalwani Publishing House, Bombay, 1968.

Barbara, Wootton, *Social Science and Social Pathology*, London, 1959.

Berelson, B., *National Programmes in Family Planning*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969.

Bottomore, T. B., *Sociology : A Guide to Problems and Literature*, London, 1962.

Burt, Cyril, *The Young Delinquent*, University of London, London, 1955.

Caldwell, Robert G., *Criminology*, Ronald Press Co., New York, 1956.

Cavan, Ruth, S., *Criminology*, Thomas Y. Crowell, New York, 1948.

Chandra, Sushil, *Sociology of Deviation in India*, Allied Publishers, Bombay, 1967.

Chandrashekhar, S., *India's Population*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1971.

Clinard, Marshall B., *Sociology of Deviant Behaviour*, Holt, Rinehart and Winston Inc., New York, 1957.

Cloward, R. A. and Ohlin, L. E., *Delinquency and Opportunity*, The Free Press, Glencoe, Illinoise, 1960.

Cohen, Albert K., *Deviance and Control*, Foundations of Modern Sociology Series, Prentice Hall, New Jersey, 1966.

Cuber, John F. and Harper, Robert A., *Problems of American Society : Values in Conflict*, Holt, New York, 1948.

Elliott, M. A. and Merrill, F. E., *Social Disorganisation*, Harper and Brothers, New York, 1950.

Etzioni, A., et al, *Social Change : Source, Patterns and Consequences*, 1964.

Farris, Robert C. L., *Social Disorganisation*, Ronald, New York, 1955.

Gillin, J. L., Dittmer, C. G., Colbert, R. J. and Kastler, N. M., *Social Problems*, The Times of India Press, Bombay, *1965*.
Gore, M. S., *Report of the Advisory Committee on After-Care Programmes*, Vol. II, Central Social Welfare Board, Delhi, 1955.
Gore, M. S., *Sociology of Education in India*, National Council of Educational Research and Training, Bombay, 1967.
Gore, M. S., *The Beggar Problem in Metropolitan Delhi*, University of Delhi, Delhi, 1959.
Horton, Paul B. and Leslie, Gerald R., *The Sociology of Social Problems*, Appleton Century Crofts Inc., New York, (2nd edition), 1960.
Shwaran, K , *Change and Continuity in India's Villages*, Columbia, University Press, New York, 1970.
Iyenger, S. Kesava, *Report on Socio-economic and Health Survey of Street Beggars in Hyderabad-Secunderabad City Area*, Indian Institute of Economics, Hyderabad, 1959.
Jain, Sugan Chand, *Community Development and Panchayati Raj in India*, 1967
Johnson, Harry M., *Sociology—A Systematic Introduction*, Allied Publishers, Bombay, *1960*.
Kumarappa, J. M., *Our Beggar Problem*, Padma Publications Ltd , Bombay, 1945.
Landis, Paul H., *Social Problems*, Lippincott Co., New York, 1959.
Lionel, D. Edie, *Economics : Principles and Problems*, Thomas Y. Crowell, New York, 1926.
Lipset, Seymour Martin, *Student Politics*, Basic Books Inc. Publishers, New York, 1967.
Merton, R. K., *Social Theory and Social Structure*, The Free Press, Glencoe, Illinoise, 1957.
Moorthy, M. V., *Beggar Problem in Greater Bombay*, Indian Conference of Social Work, 1959.
Mowrer, E. R., *Disorganisation—Personal and Social*, Lippincott Co., Philadelphia, 1942.
Mujeeb, M., *Islamic Influence on Indian Society*, Meenakshi. Prakashan, Meerut, 1972.
Narain, Jaya Prakash, *A Plea for Reconstruction of Indian Polity*, A. B. Sarva Seva Sangh Prakashan, Kashi, 1959.
Phelps, Harold A. and Henderson, David, *Contemporary Social Problems*, Prentice Hall, Englewood (4th edition), 1952.
Prasad, N., *Change-Strategy in a Developing Society : India*, Meenakshi Prakashan, Meerut, 1969.

Raab, Earl and Selznick, G. J., *Major Social Problems*, Row, Peterson and Co., Illinoise, 1959.

Reckless, Walter, *Handbook of Practical Suggestions for the Treatment of Adult and Juvenile Offenders*, Govt. of India, 1956.

Ruttonsha, G. N., *Juvenile Delinquency and Destitution in Poona*, Deccan College Series, Poona, 1947.

Seth, Hansa, *Juvenile Delinquency in an Indian Setting*, Popular Prakashan, Bombay, 1961.

Sheldon and Glueck, *Unravelling Juvenile Delinquency*, Harper Bros, New York, 1950.

Singer, Milton, *Structure and Change in Indian Society*, Aldine Publishing Co., Chicago, 1968.

Singh, Mohinder, *The Depressed Classes : Economic and Social Conditions*, Hind Kitabs, Bombay, 1947.

Singh, Y., *Modernisation of Indian Tradition*, Thomson Press, Delhi, 1973.

Smelser, Neil, *Theory of Collective Behaviour*, Free Press, New York, 1963.

Srinivas, M. N., *Caste in Modern India*, Asia Publishing House, Bombay, 1962.

Sutherland, Edwin, *Principles of Criminology*, Times of India Press, Bombay, 1965.

Taft, Donald R., *Criminology*, Macmillan, New York, 1950.

Teeters, N. K. and Barnes, H. E., *New Horizons in Criminology*, (3rd edition), Prentice Hall, New York, 1959.

Vold, George, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press, New York, 1958.

Walsh, Marry E. and Furfey, Paul H., *Social Problems and Social Action* (3rd edition), Prentice Hall Inc., Englewood, 1961.